आध्यात्मिक उपन्यास

अमृत पुत्र



-सुदर्शनसिंह 'चक्र'

अमृतपुत्र



लेखक—

सुदर्शनसिंह 'चक्र'



प्रकाशक—

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान

मथुरा—२८१ ००१ (उ० प्र०)



मुद्रक—

राष्ट्रीय प्रेस,

डैम्पीयर नगर, मथुरा—२८१००१

दूरभाष : १३७





प्रकाशन तिथि :-
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, वि० सं० २०३८
२३ अगस्त, १९८१ ई०

प्रथमावृत्ति [illegible]
मूल्य—१०)००
दस रुपये

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है ।

अनुक्रमणिका 'अमृत-पुत्र' पुस्तककी

पूर्वखण्ड

प्रस्तावना–

अब यह पुस्तक उपदेश न बनकर उपन्यास बन गयी है। अतः आवश्यक होगया है इसकी प्रस्तावना लिख देना। इसलिए आवश्यक हो गया है, जिससे पाठक इसका उद्देश्य समझ सकें।

यह अद्भुत उपन्यास है। न ऐतिहासिक, न ठीक पौराणिक ही। आध्यात्मिक उपन्यास भी कहना कठिन है। इस प्रकारका कोई उपन्यास मैंने कहीं देखा-सुना नहीं।

'आञ्जनेयकी आत्मकथा' 'शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा' भी मेरे उपन्यास हैं और उपन्यास ही हैं 'प्रभु आवत' तथा 'वे मिलेंगे' भी; किन्तु चारों पौराणिक उपन्यास हैं। भक्तिरस प्रधान हैं। उन्हें भावुक भगवद्भक्त बड़े प्रेमसे पढ़ते हैं।

यह 'अमृतपुत्र' अपनी सर्वथा भिन्न परम्परा रखता है। इसका उद्देश्य है परिचय देना। गोलोक, साकेतादिकी स्थिति क्या है, यह ग्रंथोंमें होनेपर भी लोकमानसमें स्पष्ट नहीं होती। उन अतीन्द्रिय लोकोंका वर्णन भी वाणीका विषय नहीं। फिर भी उनका कुछ स्वरूप इस उपन्याससे स्पष्ट होगा।

मर्त्यलोक (भूलोक), भुवर्लोक (प्रेत लोक), स्वर्ग (देवलोक), महर्लोक (सिद्धलोक), जनलोक (दिव्य ऋषि लोक), तपोलोक (तपस्वीलोक) और सत्यलोक (ब्रह्मलोक) कहाँ हैं, कैसे हैं ?

नरक क्या है ? यमलोक तथा यमराज, यमदूत, चित्रगुप्त क्या हैं और कैसे काम करते हैं ? वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि लोकपाल क्यों कहलाते हैं, क्या काम है इनका ? इनके लोकोंकी स्थिति क्या है ?

नीचेके सात लोक क्या ? अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल कहाँ हैं ? क्या स्थिति है इनकी ?

ब्रह्मा सृष्टि कैसे करते हैं ? विष्णुके पालक तथा रुद्रके संहारकर्ता होनेका क्या अर्थ है ? इनके लोक कहाँ है ? कैसे हैं ? शेषनाग ही का क्या अर्थ है ?

सतयुग, त्रेता, द्वापर युग कैसे हुआ करते हैं ? उस समयका रहन-सहन, सामाजिक स्थिति क्या है ?

इन सब विषयोंका पुराणोंमें वर्णन तो किया गया है, किन्तु बहुत संक्षिप्त और सांकेतिक रूपमें। इनका वर्णन किया जाय तो बहुत रूखा वर्णन होगा। यह 'अमृतपुत्र' उपन्यास इन सब विषयोंको समझानेके लिए है। हिन्दू पुराणोंके इन तथ्योंको सरल, सुबोध रूपमें वर्णन करनेके लिए है।

इस वर्णनके साथ भक्ति-सिद्धान्तका सर्वत्र रक्षण है। सनातन धर्मकी मान्यताओंको स्वीकार करके उसके नियमों, सिद्धान्तोंको इसमें स्पष्ट किया गया है।

'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

व्यापक ब्रह्मतत्त्वके एक पादमें माया-मण्डल है और शेष तीन पादमें अमृत—अविनाशी दिव्यलोक हैं।

बैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, शिवलोक, देवीलोक आदि दिव्य लोकोंकी चर्चा ग्रन्थोंमें है। इनके नाम सुने हैं आपने। ये भावलोक हैं। ये कितने हैं, कहना कठिन है। सम्भवत: असंख्य हैं; किन्तु यही परम सत्य हैं। सर्व-व्यापक हैं।

ब्रह्म सगुण-निर्गुण उभयरूप है। दोनों रूप परस्पर अभिन्न हैं। यह वर्णन विस्तारसे भगवान वासुदेव, श्रीद्वारिकाधीश, पार्थ-सारथि, नन्दनन्दन, शिवचरित तथा रामचरितके खण्डोंकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ इसका विस्तार नहीं। यहाँ केवल इतना कि ये भावलोक ही परम सत्य हैं, नित्य हैं। सृष्टि इनका प्रतिबिम्ब मात्र है। किसी भी निष्ठाके अनुसार आराधना करके इनमें-से किसी लोककी प्राप्ति होती है। निर्गुणतत्त्व ब्रह्म-ज्ञानसे प्राप्त होता है।

इन सगुण लोकोंकी ठीक स्थिति वर्णनका विषय नहीं है। इनमें देश, कालका वर्णन केवल समझानेके लिए है। देश-काल उनमें कल्पित हैं। हमारी सृष्टि वहाँ मानसिक-स्वप्न सृष्टिके समान है। देश-काल भी एक नहीं हैं। विभिन्न देश-काल हैं विभिन्न वर्गोंके। वस्तुत: देश और काल भी सापेक्ष तत्त्व हैं—कोई सत्य नहीं हैं।

इन लोकोंके पश्चात् बात आती है सृष्टिकी अर्थात् एक पाद विभूतिकी—इस माया-मण्डलकी। इसीमें देश, काल, पदार्थकी प्रतीति है और सब वर्णन इसीको लेकर हैं। इसमें भी ब्रह्माण्ड अनन्त हैं।

एक ब्रह्माण्डका अर्थ है एक सौर-मण्डल । अपने सौर जगतमें पृथ्वी, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ये ग्रह तो पहिलेसे जाने हुए हैं । विज्ञानने तीन ग्रह और ढूंढ़े हैं—प्रजापति, वरुण और वारुणि (हर्षल, नेपच्यून और प्लूटो) ।

राहु और केतु छाया ग्रह हैं । चन्द्रमा पृथ्वीका उपग्रह है । ऐसे मंगल, गुरु, शनि आदिके भी उपग्रह हैं । इनमें गुरुके तीन चन्द्रमा हैं और शनिके तो कई हैं ।

आपको आकाशमें जो नीहारिका (छायापथ) दीखता है, उसमें जितने तारे हैं, सब सूर्य हैं । आकाशमें रात्रिमें दीखनेवाले तारोंमें ऊपरके ग्रहोंको छोड़ दें तो जितने तारे हैं, सब सूर्य हैं और इस देवयानी नीहारिका-के ही भीतर माने जाते हैं । इन तारोंकी संख्या कई अरब है । अपना सूर्य इस नीहारिका मण्डलका प्रायः सबसे छोटा और एक ओर लगभग कोनेमें स्थित तारा है ।

नीहारिकाएँ भी कितनी हैं ? अब विज्ञानने भी कह दिया कि अनन्त हैं । अनन्त नीहारिकाएँ और प्रत्येकमें अरबों सूर्य । इस प्रकार आप अब विराट् भगवानके—'रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड' की कल्पना कर सकते हो ।

हम अपने ब्रह्माण्ड अर्थात् सूर्य-मण्डलसे बाहर न जा सकते और न उससे बाहरकी जानकारी पानेका हमारे पास कोई उपाय है । सात लोकोंका जो वर्णन है, वे हमारे अपने ही ब्रह्माण्डमें हैं और नीचेके सात लोक भी इसी ब्रह्माण्डके । प्रत्येक ब्रह्माण्डके अपने-अपने ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र होते हैं । अतः हमारे इस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा लोकपालोंका वर्णन ही पुराणोंमें है । अन्य ब्रह्माण्डोंका वर्णन हमारे लिए निष्प्रयोजन है और उन्हें जाननेका उपाय भी नहीं । दिव्य लोकोंका वर्णन तो उपासनाकी सिद्धिके लिए किया गया है ।

विज्ञान भी मानता है कि प्रकृतिमें प्रकाशसे तीव्रगामी दूसरा कोई तत्त्व नहीं है । अतः प्रकाशसे अधिक गति पायी नहीं जा सकती । हमारे सूर्य-मण्डलसे निकटतम तारा अर्थात् दूसरा सूर्य कम-से-कम चार प्रकाश वर्ष दूर है । कोई कभी किसी प्रकार प्रकाशकी गतिका भी वाहन बनाले—जिसकी कोई सम्भावना नहीं, तब भी निकटतम दूसरे ब्रह्माण्ड तक जाकर लौटनेमें कम-से-कम आठ वर्ष लगेंगे । अतः वैज्ञानिक भी सूर्य-मण्डलसे बाहर जाना सम्भव नहीं मानते हैं ।

ब्रह्मलोक तकका सब वर्णन हमारे अपने ब्रह्माण्डका है। जीव जिस ब्रह्माण्डका है, उसके पाप-पुण्यसे प्राप्त होनेवाले लोक उसी ब्रह्माण्डमें हैं। उसके कर्मसे होनेवाला जन्म-मरण उसी लोकमें; क्योंकि उसके संस्कार उसी लोकके हैं। संस्कारोंसे ही कर्म तथा कर्मफल होना है।

कर्मशास्त्र इस बातको इस ढंगसे कहता है कि पृथ्वीके मनुष्योंके ही कर्मसे पृथ्वीके सब पदार्थ तथा सूर्यादि ग्रह-उपग्रह, लोक-लोकान्तर बने हैं। ये सब कर्म लोक हैं। कर्म निर्मित हैं और उनमें कर्मफल भोगने ही जीव जाता है। अतः जिस ब्रह्माण्डमें कर्मलोक है, उसीमें उसके कर्मनिर्मित लोक भी बनेंगे। इस प्रकार मनुष्योंके समष्टि प्रारब्धसे ये लोक बनते हैं और व्यष्टि प्रारब्धसे उसे नाना योनियोंमें जन्म लेकर कर्मभोग पूरा करना पड़ता है।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तो एक तत्त्वके ही तीन रूप हैं। ये जीव नहीं होते। जो सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, सर्वसञ्चालक है, जिसे ईश्वर कहा जाता है, वही सगुण निराकार तत्त्व प्रत्येक ब्रह्माण्डमें रजोगुणका अधिष्ठाता होकर सृष्टिकर्ता है, सत्त्वगुणका अधिष्ठाता बनकर शेषशायी या बैकुण्ठ-विहारी विष्णु है और तमोगुणका वही अधिदेवता बनकर रुद्र है। ये रूप प्रत्येक ब्रह्माण्डमें हैं। उपास्य लोकोंमें जो परतत्त्व नारायण, शिव, शक्ति, श्रीराम या कृष्ण रूपमें हैं—उनके तो अंशभूत ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके अधिपति ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इनकी शक्तियाँ ब्रह्माणी, रमा एवं उमा हैं।

इन त्रिदेवोंके अतिरिक्त ब्रह्माण्डमें कारकपुरुष और सामान्य जीव, ये दो प्रकार, भेद जीवोंके हैं। कारक पुरुषोंमें कुछ अतिशय पुण्यात्मा जीव हैं और कुछ ईश्वरीय विभूतियाँ हैं। लोकपाल दोनों प्रकारके होते हैं। जैसे इन्द्र सौ अश्वमेध सम्पन्न करनेवाला कोई भूतपूर्व चक्रवर्ती होता है। लेकिन वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपाल, मनु, वेदव्यास प्रभृति कारक पुरुषोंमें सदा जीव ही नहीं होते। कभी जीव होते हैं और कभी भगवान ही इन रूपोंमें अवतीर्ण होते हैं। इस चतुर्युगीके वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन अवतार हैं।

'अमृतपुत्र' अथवा भद्र सीधे गोलोकसे आता है मर्त्यधरापर। यह अवधारणा इसलिए करनी पड़ी क्योंकि ब्रह्माण्डके सब लोकोंमें घूम आनेकी सामर्थ्य अपेक्षित थी और चारों युगोंका भी वर्णन करना था। देवर्षि नारद अथवा उनके जैसे किसी ऋषिको मुख्यपात्र बनानेपर उनकी मर्यादा उन्हें सर्वत्र पूज्य बनाये रखती। फलतः सहज सामान्य वातावरणका वर्णन कहीं सम्भव नहीं होता।

गोलोकके ही गोपकुमारको लेनेका भी कारण है। भावलोकोंमें मेरा अपना मन कन्हाईसे जितनी एकात्मता स्थापित कर पाता है, उतना तादात्म्य अन्यत्र सम्भव नहीं होता।

यह सब लिखनेका तात्पर्य मात्र इतना है कि आपके लिए यह अमृतपुत्र सुगम, सुबोध बन सके। आप अपना आत्मीय बना ले सकें इसे। लेकिन इसका यह तात्पर्य सर्वथा नहीं है कि मैंने यह सब सोचकर योजना-पूर्वक लिखा है। यह ऐसा बन गया तब मैं यह प्रस्तावना लिखने बैठा। मैं तो यह भी नहीं जानता था कि यह उपन्यास बनेगा। कृति तो यह यदि किसीकी है तो मेरे कन्हाईकी है।

'कला कलाके लिए' पर मेरी आस्था कभी नहीं रही। कलाको सोद्देश्य होना चाहिए और वह उद्देश्य समाजके लिए शिव होना चाहिए। वैसे यह उपन्यास है, सर्वथा कल्पित उपन्यास। अतः घटनाओंमें किसीकी सत्यताका प्रमाण आप मागेंगे तो अन्याय करेंगे। जो तथ्योंके विवरण हैं, वे भी कहीं एक स्थानपर नहीं हैं। अतः उनका मूल बतापाना भी मेरे लिए सम्भव नहीं है। पता नहीं इससे पौराणिक सत्यको समझनेमें आपकी कितनी जानकारी बढ़ेगी।

केवल एक सन्तोष—इस अमृतपुत्रके माध्यमसे प्रायः कन्हाईका स्मरण होता रहा है और आपको भी होगा।



अपनी बात—

अनेक बार व्यक्ति अकल्पित कार्य करनेको विवश होता है। मैं क्यों इस पुस्तकको लिखनेमें लगा—बहुत विचित्र बात है। उपदेश देने-लिखनेमें मेरी कोई रुचि नहीं है और श्रीकृष्ण-चरित, श्रीरामचरित लिखनेके बादसे तो सर्वथा नहीं। श्रीमद्भागवतकी वाणी मुझे बहुत ही प्रिय है—

स वाग्विसर्गो जनताघसंप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानियत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः।
—१२.१२.५१

लेकिन यह पुस्तक उपदेशकी ही बनेगी—यह भी कैसे कह सकता हूँ। अपनी ओरसे लिखने नहीं बैठा। कभी सोचकर, योजना बनाकर लिखा नहीं। सदाकी भाँति एक शीर्षक सूची बनाली है। सूची बनाकर आशङ्का होती है, यह निरा उपदेश न बन जाय। बनेगा क्या, यह तो वह जानता है जो अन्तर्यामी बनकर सदा लिखवाता रहा है। वह नटखट तो है; किन्तु अपना है, अतः वह कुछ करावे, ठीक ही करावेगा।

इस लेखन-प्रवृत्तिकी भी एक कथा है। यहाँ मसूरीमें अभी पिछले सप्ताह ही रात्रिमें लगभग एक बजे नींद खुल गयी और मनमें पिछली लिखी एक झाँकी चलने लगी। वह बहुत कुछ परिवर्तित होती गयी। वही है इस पुस्तकका 'तुम्हारी जय हो' शीर्षक।

बात समाप्त हो जाती, लिखनेकी नौबत ही न आती यदि वह झाँकी पूरी होकर नींद आ जाती। लेकिन दूसरी झाँकी प्रारम्भ हो गयी— 'भूत या भविष्य' और उसके चलते पौने तीन बज गये।

मेरे लिए यह नवीन बात थी। मैं डटकर सोने वालोंमें हूँ। रात्रिमें यह निद्रा-भंग मुझे अच्छा नहीं लगा। डर लगा कि यह क्रम चला तो सवेरा हो जायगा। चार बजनेमें पाँच-दस मिनट रहते शय्या त्याग न करूँ तो नित्यकर्म सूर्योदयसे पूर्व पूरे ही न हों। अतः मैंने मनीरामसे कहा—'बन्द कर दो यह सब और सो जाओ।'

इस प्रकार निद्रा नहीं आती लगी तो मैंने कहा अपने कन्हाईसे—'भैया, सो जाने दे। यह सब मैं लिख दूँगा। एक छोटी पुस्तक लिख दूँगा--बस ?'

सचमुच मनकी उधेड़-बुन बन्द हो गयी और मैं सो गया। सबेरे उठकर मैंने कापी मँगवायी और सूची बना डाली। अब इस सूचीके आधारपर लिखा क्या जायगा, यह बात यह नटखट मयूरमुकुटी ही जानता होगा। मैं तो रात्रिमें इसे दिये वचनको पालन करनेके लिए लेखनी लेकर कागज काला करने बैठ गया हूँ।

कागज ही तो काला किया है मैंने सदा। उसमें जो वर्ण्य-विषय है, वह तो मेरा नहीं है। वह सदा ही कन्हाईका अनुदान रहा है। इस बार ही कोई नयी बात नहीं होनी; किन्तु इसलिए अटपटा लग रहा है; क्योंकि सूची ऐसी बनी है जैसे यह उपदेशका पोथा बननेवाला हो।

कन्हाईकी जैसी इच्छा—इस बाबा नन्दके लाडलेकी इच्छा पूर्ण हो। लेकिन उपदेश ही क्यों--यह उपन्यास भी तो बन सकता है।

रॉकफोर्ट लॉज
मसूरी

—सुदर्शन सिंह
१४-६-७९

ऐन्द्रियक जीवन—

'आप आँख बन्द किये क्यों बैठे हैं ?' भद्रने झुंझलाकर उस ऋषिकी दाढ़ी हिला दी। यह भी कोई बात है कि कोई गोलोकमें आकर इस प्रकार रीढ़ सीधी करके नेत्र बन्द करके बैठे। ध्यान ही करना हो तो पृथ्वी है, महर्लोक है, तपोलोक है, जनलोक है और सत्यलोक-ब्रह्मलोक भी है। दिव्यलोकमें ध्यान करनेकी हठ थी तो यह जटाधारी शिवलोक क्यों नहीं गया।

'क्या ?' उस वलीपलित काय, सुदीर्घजटीने नेत्र खोले और सामने देखा। कुछ रोष भरे स्वरमें पूछा—'यहाँ अन्तर्मुख होना अपराध है ?'

'अन्तर्मुख ? किसलिए ?' भद्रको विचित्र लगता है यह अन्तर्मुख शब्द। उसे, इसमें अपने कन्हाईकी उपेक्षा भी लगती है। यह नन्दनन्दन समीप हो और कोई नेत्र बन्द करके बैठे! यह समीप न हो तो इसे ढूंढना चाहिये या ऐसे गुमसुम बैठ रहना चाहिये। उसने तनिक झुककर उन उजलेकेश मुनिमहाराजको घूरकर देखा—'आपके दोनों नेत्र ठीक हैं। नासिका, कर्ण भी ठीक हैं और आप तो बोल भी लेते हैं।'

एक तेरह-चौदह वर्षका नटखट बालक इस प्रकार झुककर आँख, नाक, कान देखे, मुख समीप लाकर जैसे पता लगा रहा हो कि कान या नाक में छिद्र है या नहीं तो आपको कैसा लगेगा ? कुशल कहिये कि उसने कोई तिनका डालकर देखनेकी धृष्टता नहीं की थी।

'तुम क्या कहना चाहते हो ?' मुनि महाराजको बालककी चेष्टासे रोष आ गया। ये दढ़ियल बाबाजी लोग रुष्ट शीघ्र हो जाते हैं—'इन्द्रियाँ हैं, अतः उनका उपयोग—ऐन्द्रियक जीवन ही सब कुछ है ? इनके निरोधका, अन्तर्मुख होनेका प्रयोजन तुम्हें सीखना चाहिये ! तुम ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करो।'

'अच्छा !' मुनि महाराजको आशा थी कि बालक डरेगा, हाथ जोड़ेगा। गिड़गिड़ाकर शाप-निवृत्तिकी प्रार्थना करेगा; किन्तु बालकने तो ताली बजायी। खुलकर हँसा—'कन्हाई मेरे साथ रहेगा; किन्तु अब वह आपको अंगूठा दिखा दे तो मैं नहीं जानता।'

'ऐं !' मुनि महाराज चौंके; किन्तु अब चौंकनेसे लाभ ? गोलोक कोई स्थूल लोक है कि वहाँसे किसीको निकालना पड़े या कोई वहाँ अपनी शक्तिके बलपर रह सके। भगवती योगमालाकी पलकें मात्र हिलती हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बन जाते या मिट जाते हैं।

मुनि महाराजने जैसे ही रोष-ग्रहण किया, वे समझ ही नहीं सके कि उनकी अवस्था क्या हुई या हो रही है। अपना शाप भी उन्होंने कहाँ पूरा किया, किसे दिया, यह बतलानेकी स्थितिमें वे भी नहीं रह गये। गोलोक कहाँ गया, क्या हुआ—उन्हें पता नहीं।

मुनि महाराजको केवल यह लगा कि वे उस अतीन्द्रिय दिव्यलोकसे बाहर हो गये और बाहर-बाहर होते जा रहे हैं। ऊपरसे नीचेकी बात व्यर्थ है। वहाँ काल या स्थानका प्रवेश नहीं है। जैसा अनुभव आपको गाढ़ निद्रासे जागनेपर होता है, ठीक वैसा भी नहीं। किसीको यदि क्षण-दो-क्षणको प्रगाढ़ ध्यान हुआ हो तो जैसा अनुभव उस ध्यानसे जागनेपर होता है, कुछ-कुछ वैसा अनुभव।

वे महामुनि थे—इतने भक्त एवं ज्ञानी कि गोलोक पहुँच सके थे। दुर्भाग्य उनका कि दीर्घकाल तक योगी भी रहे थे। निर्विकल्प-निर्वीज समाधिसिद्ध योगी। अतः गोलोक पहुँचते ही वहाँके अकल्पनीय सौन्दर्यने उन्हें अन्तर्मुख कर दिया था।

अब उलटी गति प्रारम्भ हो गयी थी। वे समझ रहे थे कि वे बड़े वेगसे जैसे सूक्ष्मतमसे स्थूलकी ओर फेंक दिये गये हैं; किन्तु विवश—कोई प्रयत्न सम्भव नहीं था। कहीं अवस्थिति नहीं हो रही थी। अवस्थानके प्रयत्नको भी अवकाश नहीं था।

ठीक सोचनेकी भी स्थिति तब प्रा।त हुई जब वे यह समझ सके कि वे स्थूल प्रकृतिके क्षेत्रमें पहुँच गये हैं। लेकिन प्रकृतिमें आकर भी सूर्य-लोकमें रुक जाना सम्भव नहीं हुआ। किसी अलक्ष्य शक्तिने उन्हें जैसे बलपूर्वक अर्चिमार्गसे खींचकर पितृयानके पथमें पटक दिया।

'देव ! मुझसे अपराध तो हो गया।' पितृलोक पहुँचकर जब स्थिर हुए, पहिला संकल्प उठ सका, उठा—'लेकिन अब इस जनका भी आग्रह है कि आप ही इसे अपनावेंगे और आप ही भेजेंगे तो यह आपके कन्हाईके चरणोंके समीप जायगा। आप पीछे जायेंगे—यह पहिले जायगा,

ऐसा निर्णय यह आपकी अकल्पनीय उदारतापर आस्था करके करता है। आप इसे नेत्र खोलकर जो दर्शन कराना चाहते थे, जिसे अपनी अज्ञतासे इसने खो दिया, वह आप ही इसे देंगे। आपका संकल्प व्यर्थ नहीं जायगा—अतः अब इसका क्या होता है, यह चिन्ता आप ही करना।'

'ओम्!' पितृलोकमें महामायाकी यह स्वीकृति भले न सुनी गयी हो; किन्तु अनन्तके शाश्वत विधानमें तो वह अंकित हो गयी। कन्हाई या कन्हाईके किसी अपनेसे लगकर किसीका अमंगल तो हुआ नहीं करता और कोई भावना उनसे लगे तो महामायाको भी उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। इस नियमको वे भी अस्वीकार तो कर नहीं सकतीं।

अब इससे क्या बनता-बिगड़ता है कि वे महामुनि अब महामुनि नहीं रहेंगे। वे ऐन्द्रिय प्राणी भी नहीं हो सकते। उन्हें अब पाषाण बनना है।



परिहास—

'अचानक उन मुनि महाराजको क्या हुआ ?' भद्र चौंका ! अब यह मत पूछिये कि कितने समय पीछे। क्योंकि जहाँ कालका प्रवेश ही नहीं है, वहाँ शीघ्र या देरकी बात बनती नहीं। वहाँ केवल वर्तमान रहता है।

'तू उसका स्मरण करता है ?' कन्हाईने कुछ रोषपूर्वक उलाहनेके स्वरमें कहा। ठीक कहा; क्योंकि यह नीलसुन्दर समीप हो तो कोई दूसरेका स्मरण क्यों करे और यह समीप न हो तो इसके चिन्तनके अतिरिक्त अन्य स्मरण ही क्यों आवे ?

'तू उनसे असन्तुष्ट क्यों है ?' भद्रको अपने श्यामसुन्दरके स्वरसे लगा कि इसे उन मुनिकी चर्चा ही बुरी लगी है।

'उसकी बात मत कर ! वह बहुत बुरा है।' कन्हाई झुंझला गया—'उसने तुझे शाप दिया। हूँ !

इस 'हूँ' का अर्थ भद्र जानता है। इसका अर्थ है—'मैं देख लूँगा।'

'बेचारा मुनि' भद्रके चित्तमें करुणा उमड़ पड़ी। यह कमललोचन कन्हाई अपनोंका है। अब इससे उन मुनिके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सुननेवाला नहीं। उलटे अधिक रुष्ट होगा। कोई अनजानमें भी इसके अपनोंका कुछ अहित सोचने लगे -कन्हाई रूठा धरा है और कन्हाई रूठ गया तो समष्टिमें दूसरा कौन जो सन्तुष्ट बना रहेगा ? कन्हाई रूठा तो योगमाया कुपित और जिसपर वे कुपित उसपर कृपा करनेका साहस कोई देवता करेगा ? अब उस बेचारे मुनिका जप-तप, साधन-भजन सब नगण्य हो गया।

'उसका शाप ? कैसा शाप ?' भद्रने सचमुच अब तक ध्यान ही नहीं दिया था कि उसे कोई शाप भी दिया गया है। जब तक वह स्वयं इच्छा न करे, किसीका शाप उसका स्पर्श कैसे कर सकता है।

'तुझे शाप दिया उसने !' श्यामके मुखपर रोषकी अरुणिमा है। इसका अर्थ ही है कि उस अभागे मुनिका पतन चल रहा है। वह कहीं किञ्चित् भी रुक नहीं पाता है।

'शाप ? मुझे कहाँ लगा शाप ?' भद्रने इस प्रकार अपनी भुजा, पैर देखे जैसे शाप भी गौमय जैसा कुछ होगा और उसका कोई छींटा कहीं पड़ा हो तो उसे देख लेगा।

'ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करो !' यह शाप उसने तुझे दिया।' कन्हाईका स्वर वैसा रोष भरा नहीं सही; किन्तु भरा भरा है—'तूने भी झटपट स्वीकार कर लिया।'

'अरे !' भद्र तो खुलकर हँस पड़ा। उसका यह छोटा भाई इसलिए इतना रुष्ट है और रोने-रोनेको हो रहा है ? श्यामके दोनों कन्धोंपर अपने दोनों हाथ रख दिये भद्रने। कन्हाईको समझाना पड़ेगा और यह केवल स्नेहकी भाषा समझता है।

'ऐन्द्रियक जीवन—मैं तुझे देख रहा हूँ, छू रहा हूँ, ले सूँघ रहा हूँ। तेरी बात सुन रहा हूँ—यही तो ऐन्द्रियक जीवन।' भद्रको तो सचमुच इसमें शाप जैसी कोई बात नहीं लगती है।

'लेकिन वह खूसट मनमें यह लेकर शाप दे गया कि तुझे मर्त्यधरा-पर ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करना है।' बड़ी कठिनाईसे श्याम यह कह सका। इसके बड़े-बड़े नेत्रोंसे बिन्दु टपकने लगे।

'तो हो क्या गया ?' विचित्र है भद्र भी। इसे इस शापमें भी कोई भय करने या चिन्ता करने जैसी बात नहीं लगती। भय और चिन्ता इसके स्वभावमें ही नहीं है। इसने झटपट समाधान ढूंढ़ लिया—'बड़ा आनन्द आवेगा। अपना यह लोक तो नित्य है। यह तो कहीं जाता नहीं। मैं मर्त्यधरापर ऐन्द्रियक जीवनमें ऐसे ही तुझे स्नेह दूँगा। बस तू इसमें एक संशोधन कर दे।'

'हाँ' भद्र अपने पटुकेसे श्यामके नेत्र पोंछनेमें लगा था। उसका हाथ तनिक हटाकर कन्हाई हाँ करके उसके मुखकी ओर ऐसे देखने लगा जैसे कह रहा हो—'तू बता तो सही। मैं एक तो क्या एक लाख संशोधन भी अभी किये देता हूँ।'

'मेरा केवल तू रहेगा वहाँ भी।' भद्रने स्थिर गम्भीर स्वरमें श्यामकी ओर सीधे देखते कहा—'दूसरे किसीको अपने-मेरे मध्यमें नहीं आने देगा।'

'हूँ' कन्हाईने अपने वाम-करसे अपनी घुंघराली सुचिक्कन अलकें टटोलीं—'भाभियाँ मेरे सिरमें एक भी केश नहीं रहने देंगीं।'

'तू उनसे समझते रहना।' भद्र अब खुलकर हँस पड़ा—'उनमें जो तुझ स्नेह दे सके, तेरे नाते यदा-कदा मिलती रह सकती है। सदा सर्वत्र एकमात्र तू मेरा बना रहेगा।'

'कोई नया बना रहूँगा।' कन्हाईके भी अधरोंपर अब स्मित आया—'तू ना भी करे तो मैं तुझे छोड़कर जाऊँगा कहाँ? दाऊ दादा तो चाहे जब गुमसुम बैठ जाता है। मुझे फिर कौन सम्हालेगा?'

'फिर तू उन मुनिसे इतना क्यों रुष्ट था?' भद्रने फिर चर्चा की—'उन्होंने तो परिहास किया है।'

'उसका नाम मत ले।' कन्हाईको उनकी चर्चा भी सुननी स्वीकार नहीं—'ये दढ़ियल जटी परिहास क्या जानें!'

'परिहास तो है ही।' भद्र समझ गया कि कन्हाईसे उन मुनिकी चर्चा करना व्यर्थ है। अब उनको यहाँ लाना हो तो स्वयं ही लाना पड़ेगा और इसमें उनके शापको निमित्त बनाया जा सकता है।



पुनः परिहास–

अनेकता और एकता भी देश और कालकी कृतियाँ हैं। कणोंकी अनेकता देश दिखलाता है और क्षणोंका अनेकत्व कालकी कल्पना है। जहाँ देश और काल ही कल्पित हो जाते हैं, उस दिव्य लोकमें अनेकत्व एवं एकत्वका भी कुछ अर्थ नहीं है। वहाँ एक साथ प्रत्येक अनेक भी है और असंख्य होकर भी एक ही है। धराका मानव वहाँकी कल्पना किसी प्रकार कर नहीं सकता। वहाँ जो कुछ है लीला है। देश, काल, वय आदि कोई बाधा वहाँ नहीं। एक साथ असंख्य लीला और सब एककी। सब पात्र-उपकरण एक और असंख्य भी। अतः घटनाओं--लीलाका वर्णन करनेमें क्रम देना वहाँ सम्भव नहीं है।

भद्रके चौंकनेकी ही बारी थी इस समय। इसका यह नटखट सखा है ही ऐसा कि किसीको चौंकाकर ताली बजाकर कूद-कूदकर हँसता है। सहसा कहींसे विशाखा आयी और भद्रके पैर ही पकड़कर रोने लगी।

'लड़कियोंके लिए रोना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। रुदन तो इनकी प्रकृतिका आवश्यक अंग है।' आप भले भद्रसे सहमत न हों; किन्तु यह कहता है कि 'लड़कियाँ रोवें नहीं तो इनका आहार कदाचित ही पचे। अतः ये सकारण ही रोवें, ऐसा नहीं है। ये तो कल्पित कारण बनाकर भी रोती हैं और खूब फूटफूट कर रोती हैं।'

लड़कियोंमें कोई रोने लगे तो उधर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे हँसा देनेका मन हो तो आप भी वैसे ही रोने लगो। भले झूठ-मूठको ही रुदन करो। लेकिन कोई बिना बात आपके ही पैर पकड़कर रोने लगे तो? भद्रको वैसे भी लड़कियोंके रुदनसे उपरति है और कोई उसका ही पैर या गला पकड़कर रोवे, इससे तो यह बहुत घबड़ाता है।

'अरी क्या हुआ?' भद्रने अपना पैर छुड़ानेका प्रयत्न करते कहा— 'तुझे बन्दरने डरा दिया या बिल्लीने काट खाया? यह मेरा पैर है। इसे छोड़ और पैर ही पकड़कर रोनेसे तेरा आजका आहार पचनेवाला हो तो इस कन्हाईका पकड़। मैं तेरी पाचक औषधि बननेको प्रस्तुत नहीं हूँ।'

'मुझे चाहे जितना चिढ़ालो !' विशाखाने तनिक मुख ऊपर उठाया और रोते-रोते ही बोली—'लेकिन मेरी स्वामिनीपर दया करो !'

'कनूँ ! बुरी बात है।' भद्रका मुख सहसा गम्भीर हो गया—'तू उस भोली सरलाको भी सताता है ?'

'मैंने क्या किया है ?' कन्हाईने दोनों हाथोंसे पकड़कर विशाखाका सिर झकझोर दिया—'तू मुझे ही डाँट लगवाने दौड़ी आयी है ?'

'इन्होंने कुछ नहीं किया' दूसरा अवसर होता तो विशाखा कन्हाईको अंगूठा दिखा देती भद्रसे छिपाकर; किन्तु इस समय यह बहुत व्याकुल है—'अपराध मेरा है। मुझे शाप दो, यहाँसे निकाल दो। कुछ करो मेरा। मैं भाग्यहीना तो यमानुजा हूँ। जड़ जलरूपा हूँ। तुम दोनोंने कृपा करके अपना चरणाश्रय दिया और तुम्हारे इन सखाकी कृपासे स्वामिनीकी सेवा मिल गयी तो मैं भूल ही गयी कि मैं स्वभाव-निष्ठुरा हूँ। कृपा करना मेरा काम नहीं है। लेकिन स्वामिनीका रुदन मुझसे नहीं देखा जाता। तुम उन-पर दया करो।'

'कहाँ हैं वे ?' भद्र सचमुच व्याकुल हो उठा। सामान्यतः यह श्रीराधाके सम्मुख नहीं जाता है कि वे शीलमयी इसका बहुत सम्मान करती हैं। बहुत संकोच करती हैं। कन्हाईसे दस महीने बड़ा क्या है, वे तो इसे दाऊके समान ही मानती हैं। उनको संकोचमें डालना इसे अत्यन्त अप्रिय है। वे रुदन कर रही हैं, यह सम्वाद ही इसे असह्य है। श्रीवृषभानु-नन्दिनीकी आँखोंमें अश्रु—भद्र व्याकुल हो गया है।

'वे यहाँ नहीं हैं।' विशाखाने अत्यन्त दीन स्वरमें कहा—'यहाँ आना भी स्वीकार नहीं करती हैं। शिवलोकके मार्ग में बैठी हैं और वहाँसे भगवती पार्वतीके पास भी जाना नहीं चाहतीं।'

'शिवलोकके मार्गमें ? भूत-प्रेतोंकी समीपतामें और आक-धतूरेके वनके पास ?' शिवलोक परम दिव्य सही; किन्तु श्रीकीर्तिकुमारीके कुछ क्षण भी रुकने योग्य कैसे हो सकता है। भद्रने श्यामका हाथ पकड़ा—'चल ! ले आवें उस पागल लड़कीको।'

'मैं चलूँ ?' श्यामसुन्दर हिचक गया। विशाखाके मुखकी ओर देखने लगा। यदि इसके जानेसे बात बनने योग्य होती तो विशाखा भद्रके पैर पकड़कर नहीं रोती।

'इनको मत ले जाओ !' विशाखाने फूट-फूटकर रुदन प्रारम्भ कर दिया—'पहिले मुझे कोई भारी दण्ड दे दो। मैं क्षमा माँगनेकी अधिकारिणी नहीं हूँ।'

'भारी दण्ड तो गोकुलमें मेरे पिताजीका है।' भद्र इस समय भी परिहास कर गया—'मैं तो छोटा-सा लकुट रखता हूँ; किन्तु तू उनकी लाठी उठा पावेगी ?'

'हँसी मत करो !'

'तू उठती है या तेरी चुटिया पकड़कर उठाना पड़ेगा।' भद्र झल्लाकर बोला—'तेरी बात फिर सुन लूँगा। ललीके समीप चल !'

'अच्छा चलो !' बहुत करुणस्वरमें कहकर विशाखा उठी—'मुझसे कहीं अधिक कातर होकर मेरी स्वामिनी वहाँ तुम्हारे पैर पकड़ लेंगी तो सहा जायगा तुमसे ? इसलिए मेरी बात यहीं सुनलो। तुम दोनों सुनलो और इस पापिष्ठाको दण्ड दे लो तब वहाँ जाओ।'

'तूने क्या किया है ?' भद्र खड़ा रह गया। यद्यपि उसका स्वर कह रहा था कि जो कुछ कहना है, झटपट कह दे।

'मैं भूल गयी कि यम-भगिनीको बहुत दयालु नहीं होना चाहिये।' विशाखाने रोते-रोते ही कहा—'मैं कृपामयी बनने चली थी। स्वामिनीकी सेवाका अवसर दे दिया मैंने सुवर्चलाको।'

'यह तो कोई अपराध नहीं है।' भद्रको लगा कि विशाखा कहीं कल्पित कारणसे ही तो रुदन नहीं कर रही है और अपनी स्वामिनीका नाम लेकर उसे छकाने तो नहीं आयी है—श्रीकीर्तिकुमारी केवल कृपाका घनीभाव हैं। उनका सामीप्य जिनको प्राप्य है, उनमें किञ्चित् भी कृपाकी न्यूनता उन करुणामयीकी अवमानना ही होगी।'

'कृपाकी अनधिकारिणीको मैंने अपनी कृपापात्रा बना लिया।' विशाखाका रुदन रुक नहीं रहा था—'मैंने देखा ही नहीं कि उसमें प्रीति नहीं, केवल पातिव्रत्य है और उसका अहंकार भी।'

'सुवर्चलाका क्या हुआ ?' भद्रको अब आशंका हो गयी। अवश्य इस लड़कीके साथ कुछ हुआ लगता है। श्रीराधाकी सब किंकरियोंपर—अत्यन्त वहिर्व्यूहकी दासियों तकपर भद्रका बहुत स्नेह है। यह सुवर्चला तो विशाखाकी सेविका थी।

'उस कुतियाको भूँकना था तो धरा कहाँ छोटी थी उसके लिए।' विशाखाके रुदनमें रोषका स्वर सम्मिलित हुआ—'वह वाणी वञ्चिता धरापर धूम कर सकती है; किन्तु इस अभागिनीके कारण स्वामिनी मार्गमें बैठी हैं। रुदन कर रही हैं।'

'तूने शाप दिया सुवर्चलाको ? क्या किया था उसने ?' भद्रने आतुरतापूर्वक पूछा।

'मैं इतनी धृष्टता करूँगी, ऐसी अधमा हो गयी तुम्हारी दृष्टिमें ?' विशाखाने पैरोंपर सिर पटक दिया—'स्वामिनीके सम्मुख मैं ऐसा साहस करती ? भगवती योगमाया कात्यायनी कहीं चली गयी हैं ?'

'भगवती योगमाया' भद्रको उन महामुनिका स्मरण आ गया। उन्होंने भद्रको ऐन्द्रियक जीवन व्यतीत करनेका शाप दिया और योगमायाने विधान कर दिया कि उन मुनिसे ऐन्द्रियक जीवन ही नहीं, ऐन्द्रियक चेतना भी छीन ली जाय। 'सुवर्चलाने किसीको शाप दिया ?'

'जीजीको– हेमाजीजीको शाप दिया उसने। उन्हींको क्यों, दूसरी जीजियोंको भी शाप दिया और स्वयं चली गयी कुतिया बनने।' विशाखाको बहुत क्रोध था सुवर्चलापर।

'अच्छा परिहास है।' भद्रको तनिक भी बुरा नहीं लगा। 'क्या शाप दिया उसने ?'

'मैं अपने जले मुखसे उसकी आवृत्ति कर सकूँगी, यही आशा है तुम्हें मुझसे ?' विशाखाका मुख बहुत दयनीय हो उठा—'स्वर्णाजीजी सबके साथ स्वामिनीके समीप ही है। लेकिन आज स्वामिनी उनका अनुरोध भी स्वीकार नहीं कर रही हैं।'

'बहुत भोली है वह पगली।' भद्र अब चल पड़ा– 'उसे लगता होगा कि सुवर्चलाका अपराध उसका अपना है। हेमाने क्रोध किया ?'

'उनको क्रोध शीघ्र आता तो है; किन्तु आया नहीं।' विशाखाने रोते-रोते बतलाया—'स्वर्णाजीजी हँस पड़ीं और फिर तो सब स्वामिनीको समझानेमें लग गयी हैं।'

'शाप कब किस रूपमें स्वीकार किया जाय, यह संशोधन तो लली ही कर देती।' भद्रको कुछ अटपटा नहीं लगता—'कन्हाई भी कर देगा। उस पगलीको समझाना पड़ेगा। चिन्ता तो करनी पड़ेगी सुवर्चलाकी।'

आशीर्वाद—

'अनुरोध करने आया हूँ दादा !' सुबल दौड़ता आया और भद्रके गलेमें दोनों भुजाएँ डालकर कन्धेपर सिर रखकर फूट पड़ा—'इस विशाखा-को बचाले। बहिन तेरे अतिरिक्त और किसीकी बात नहीं मानेगी। अब वह इसे समीप भी नहीं देखना चाहेगी। तू जानता है, मुझे ये सब बहिन जैसी ही लगती हैं और बहिन इनमें-से एकको भी पृथक करके बहुत दुःखी हो जायगी।'

'तू बहुत भोला है। अपनी बहिनको भी नहीं समझता।' भद्रने सुबलके नेत्र पोंछे—'ललीको रोष करना आता ही नहीं। वह केवल कृपा कर सकती है। किसीपर कठोर नहीं हो सकती।'

'स्वामिनीको मुख मैं कैसे दिखाऊँगी।' विशाखा फिर रोने लगी—'मुझे कोई शाप क्यों नहीं देता है।'

'तू चुपचाप चली चल।' भद्रने सुबलका हाथ पकड़ा—'तू बतला कि हुआ क्या ?'

सुबल क्या बतला देता। उसे भी पूरा पता नहीं था। उसे तो यही पता था कि उसकी बहिन कैलास गयी थी और लौटते मार्गमें रुक गयी हैं। विशाखा रोती भद्रके समीप गयी है तो उसीसे भद्रका कोई अपराध हुआ होगा। लेकिन भद्रका अपराध हुआ तो बहिन क्षमा कर नहीं सकती, यह सुबल भली प्रकार जानता है।

अच्छा हुआ कि थोड़ा आगे बढ़ आयी स्वर्णा इन सबोंको आते देखकर। भद्रने अपनी ज्येष्ठा पत्नीको देखते ही पूछा—'स्वर्ण, क्या हुआ है ?'

'तुम्हारी लली एक परिहास मात्रसे अतिशय दुःखित हो रही हैं।' स्वर्णाके स्वरमें सहजभाव था—'तुम उन्हें सदन चलनेको मनालो। दूसरा कुछ नहीं हुआ है।'

'सुवर्चलाने इतना बड़ा शाप दे दिया और कुछ हुआ ही नहीं ?' विशाखा आश्चर्यसे स्वर्णाको देखने लगी—'जीजी! तुम इसे परिहास कहती हो ?'

'कैसा शाप ?' भद्रने पत्नीसे ही पूछा।

'हम सब कैलाससे लौट रही थीं तो सुवर्चलाने कह दिया—'भगवती पार्वती ही वस्तुतः पतिव्रता हैं। दूसरी नारियोंको उनकी कृपासे पातिव्रत प्राप्त होता है।' सुवर्चला अभी नवीन आयी—आयी भी इस विशाखाकी कृपासे। धरापर वह दृढ़ पतिव्रता थी और भगवती उमाकी नैष्ठिक आराधिका। अतः उसमें अभी श्रद्धाका आवेश था।'

'अम्बा आद्याका स्तवन कोई दोष तो है नहीं।' भद्रकी श्रद्धा ही कहाँ उन जगद्धात्रीके प्रति अल्प है।

'बहिन हेमा बोल पड़ी थीं कि नारीका सहज स्वभाव पातिव्रत है। वह विकृतिको अपनाती है यदि इस स्वभावसे विचलित होती है। विकृति सकारण होती है, प्रकृतिके लिए तो कोई कारण आवश्यक नहीं होता।'

'सुवर्चलाका दुर्भाग्य—वह भड़क उठी। उसे इस बातमें भगवती पार्वतीकी अवमाननाका आभास हुआ होगा। उसने शाप दे दिया; किन्तु वह शाप तो परिहास जैसा है।' स्वर्णाको शाप महत्त्वहीन लगता था।

'क्या शाप दिया ?' भद्रने पत्नीसे सीधे पूछा।

'तुम्हें अपने पातिव्रतका बड़ा गर्व है? मर्त्यधराको धन्य करो। अन्तमें भी अन्यसे दो सन्तान उत्पन्न करके तब स्वामीको प्राप्त करना और वह भी अल्प सन्निधि उनकी।'

'मैंने बाधा दी।' स्वर्णाने कहा—'मुझपर भी बरस पड़ी और बहिन कनकापर, शुभ्रापर भी।'

'तुम्हें भी शाप मिला ?' भद्र अब गम्भीर हो गया। हेमा तो तनिक चिड़चिड़ी है; किन्तु कोई स्वर्णा जैसी सौम्या, सदयाको भी शाप दे सकती है ?

'तू भी दूसरेके पास जाकर रह। उसीकी सन्तानका पालन कर। स्वामीको पाकर भी दूसरेकी बनकर रह।' स्वर्णाने शाप सुना दिया; किन्तु उसके मुखपर कोई विषाद नहीं आया।

'बहिन कनकाने रोकना चाहा' स्वर्णाने कहा—'उसे भी कह दिया कि 'तू भी दूसरेकी बनकर तब अपने स्वामीको पावेगी और शुभ्राको भी। उसने तो हाथ हिला दिया—'तुम सब !'

'क्या तात्पर्य ?' भद्रका स्वर यह 'तुम सब' सुनकर उग्र हो उठा।

'तुम क्यों रुष्ट होते हो ?' स्वर्णा बहुत सहज स्वरमें बोली—'उसका संकेत केवल हम चारके लिए था या पीछे खड़ी हिरण्या और काञ्चनाके लिए भी, यह स्पष्ट नहीं हुआ।'

'ताम्रा और खर्वाके लिए ?' भद्र सौम्य हो गया। उसने समझ लिया कि शाप केवल उसीकी पत्नियोंको दिया गया है। श्रीराधा और उनकी सखियोंको शापकी आशंकासे वह उग्र हो उठा था।

'वे दोनों तो साथ थीं ही नहीं।' स्वर्णाने बतलाया—'वे शिवलोक नहीं गयी थीं; किन्तु बेचारी सुवर्चलापर अब तुमको कृपा करनी है।'

'जीजी ! तुम अद्भुत हो। तुम इस शापको भी परिहास कहती हो ?' विशाखाका आश्चर्य अब तक मिटा नहीं था।

'देवरके और इनके भी अनन्त रूप हैं।' स्वर्णाने सस्मित कहा—'ये और चार-छः रूप बना लेंगे तो कुछ नहीं बिगड़ेगा इनका।'

'मैं भी प्रशस्त हूँ देवि !' अब भद्र हँस पड़ा—'लेकिन देखती ही हो कि शापका कोई छींटा मेरे अंगमें कहीं नहीं लगा है। तुमको भी शापने कहीं स्पर्श किया दीखता नहीं। कोई शीघ्रता नहीं शापको अभी स्वीकृति देनेकी।'

'तुमको किसने शाप दिया ?' सुबलके नेत्र अरुण हो उठे।

'तुम क्यों रुष्ट होते हो ?' भद्रने सखाके कन्धेपर स्नेहपूर्वक कर रखा—'एक मुनि महाराज थे। लेकिन कन्हाई ही उनपर रुष्ट हुआ बैठा है। उन्होंने भी परिहास ही किया है। केवल ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करनेको कहा।'

'अच्छा हुआ।' स्वर्णा अब सुप्रसन्न बोली—'तुम हम चारों बहिनोंको समेट लाना।'

'लेकिन लली क्यों मार्गमें यहाँ बैठी है ?' भद्रने पूछा।

'अब अपनी ललीको तुम स्वयं समझाओ कि यह सब परिहास है।' स्वर्णाने कहा—'वे आज मेरी भी सुनती नहीं हैं। बार-बार मेरे पैरपर मस्तक पटकती हैं। मुझसे उनका यह भाव सहा नहीं जाता। उन्हें पता नहीं क्यों लगता है कि सबका सब अपराध उन्हींका है और कोई बहुत

बड़ा अनर्थ हो गया है। वे तो अब देवरके सम्मुख जाने योग्य ही अपनेको नहीं मानती हैं।'

'सुबल ! बहुत भोली है तुम्हारी बहिन।' भद्रने सखाको समझाना चाहा—'तुम उसे समझालो। कहीं कोई अपराध नहीं हुआ। केवल उन मुनि महाराजकी चिन्ता थी मुझे और अब देखता हूँ कि सुवर्चलाको भी मुझे ही सम्हालना पड़ेगा।'

'सच, सम्हाल लेना उस बेचारीको।' स्वर्णा अत्यन्त दया एवं आग्रहपूर्वक बोली—'वह कहींकी नहीं रही। हम तो तुम्हारी हैं। भगवती महामाया हमारी सदा रक्षिका रहेंगी। किसीका कोई शाप हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता; किन्तु भगवती कात्यायनीको क्रुद्ध कर दिया उसने हम सबको शाप देकर। देवर या श्रीकीर्तिकुमारी उसकी कोई पुकार नहीं सुनेंगी। अब केवल तुम उसको यहाँ ला सकते हो।'

'तुम लाना चाहती हो, अतः उसे लाना तो पड़ेगा ही।' भद्रने आश्वासन दे दिया—'उसे लली स्वीकार भी कर लेंगी। केवल अब मर्त्यधराके कालका प्रश्न है।'

'जीजी !' अचानक विशाखा गिर पड़ी स्वर्णाके चरणोंपर—'इस अधमापर भी कृपा करो ! इतनी क्षमा, इतनी करुणा स्वामिनीके अतिरिक्त तुम्हीं कर सकती हो।'

'तुझे क्या हो गया है ?' स्वर्णाने झुककर उठाना चाहा विशाखाको; किन्तु वह पैर पकड़े झुकी रही।

'मैं तुम्हारे ये चरण तब तक नहीं छोड़ूंगी जब तक मुझे क्षमा करके आशीर्वाद नहीं दे दोगी।' विशाखा हिचकियाँ ले रही थी।

'अच्छा, तुझे क्षमा किया। बिना किसी अपराधके क्षमा किया।' स्वर्णाने हँसते हुए उसके सिरपर हाथ रखा—'आशीर्वाद देती हूँ कि देवर तुझे बहुत-बहुत प्यार करें।'

'हँसी मत करो जीजी !' विशाखा अत्यन्त कातर स्वरमें बोली—'आशीर्वाद दो कि स्वामिनी अपनी सेवामें इसे लिये रहें।'

'तू कीर्तिनन्दिनीकी सदा अनुग्रह-भाजना बनी रह !' स्वर्णाने स्वस्थ स्वरमें सचमुच आशीर्वाद दे दिया।

'आज कृतार्थ कर दिया तुमने जीजी।' विशाखाने आञ्चल करोंमें लेकर फिर स्वर्णाके पदोंपर सिर रखा और उठकर खड़ी हो गयी। 'मैं आश्वस्त हो गयी। अब स्वामिनीके समीप मेरे अपराधकी बात सोचना भी अपराध हो गया।

'चलो, एकको तो तुमने आश्वस्त कर दिया।' भद्रने पत्नीकी ओर देखा।

'लेकिन अपनी ललीको तुम्हीं आश्वस्त कर सकते हो।' स्वर्णा हँसकर बोली—'वे इस समय देवरकी भी सुनने वाली नहीं हैं।'

'भाभी ठीक कहती हैं दादा!' सुबल बोला—'बहिनको मैं नहीं समझा सकता; किन्तु तेरी बात वह टाल सकती ही नहीं।'

'मुझे ही चलना पड़ेगा!' भद्र श्रीराधाके समीप कम ही जाना चाहता है; किन्तु आज तो विवशता है।



शाप-सुधार—

'आपकी लली आपसे अनुरोध करती है' भद्रको बहुत अटपटा लगता है, बहुत अखरता है कि वह पहुँचे तो श्रीवृषभानु-नन्दिनी भूमिमें मस्तक रखकर उसे प्रणाम करती हैं और संकोचसे सिकुड़ जाती हैं। कुछ कहना ही हो तो उनकी ओरसे ललिताको ही कहना पड़ता है। आज भी ललिता ही बोली—'आप क्षमा कर दीजिये और कोई नाम मत लीजिये। उस अपराधिनीका नाम सुनना भी इन्हें सह्य नहीं है।'

'कनूँ भी यही कहता था।' भद्र गम्भीर हो गया। अन्ततः कन्हाई और श्रीराधा दो तो नहीं हैं कि इनके स्वभाव दो होंगे। 'लेकिन क्षमा माँगकर लली मुझे पराया बतावें, यह उचित नहीं है। एक साधारण परिहासमें क्षमाका प्रयोजन? मैं अभी शापमें सुधार करती हूँ। लली उसको स्वीकृति देंगी। मैं किसीको यहाँ तुम्हारे समुदायमें भेजूँ तो मुझपर तो तुम सब प्रतिबन्ध नहीं लगाओगी?'

'अब अत्याचार तो मत करो।' श्री राधाने पुनः भूमिपर मस्तक रखा तो ललिताने हाथ जोड़े—'तुमपर प्रतिबन्ध लगानेका साहस जो करेगी, उसे भगवती योगमाया क्षमा करेंगी?'

'तब तुम सब यहाँ क्यों बैठी हो?' भद्रने आदेशके स्वरमें कहा—'उठो और अपने निकुञ्जको सुशोभित करो। कन्हाई अनन्त काल तक गोचारण करता रह सकता है; किन्तु बेचारी बालिकाएँ कब तक इस प्रकार मार्गमें निर्वासिता-प्राय रहेंगी।'

'आपकी ये लली साहस नहीं कर पाती हैं आपके अनुजके सम्मुख जानेका।' ललिताने बहुत विनम्र बनकर विनय की—'वे इस समय किसीको भी कुछ कह दे सकते हैं। न भी कहें तो जीजी स्वर्णा और उनकी बहिनें यहाँ न हों तो आपकी लली निकुञ्जमें प्रवेश कर पावेंगी? विशाखाके बिना क्या निकुञ्ज शोभा पावेगा?'

'विशाखाको तो स्वर्णाने आशीर्वाद दे दिया है कि वह अपनी स्वामिनीकी सदा अनुग्रह-भाजना बनी रहे।' भद्रका वाक्य पूरा होते ही श्रीकीर्तिकुमारी अचानक उठीं और स्वर्णाके पदोंपर मस्तक रखकर उसके दोंनों चरण उन्होंने भुजाओंमें बाँध लिये।

'देवर तुमसे अनन्त प्यार करें।' स्वर्णाने उनके सिरपर भी हाथ रखकर आशीर्वाद दे दिया और बलपूर्वक उठाकर हृदयसे लगा लिया।

'कोई कहीं जा नहीं रही है।' भद्रने लौटते-लौटते कहा—'मेरा आदेश तुममें कोई नहीं टालेगा। अभी इसी क्षण यहाँसे चल दो और अपने धाम पहुँचो। कन्हाई कुछ न सोचेगा, न करेगा।'

'आदेश तो अनुल्लंघनीय है।' श्रीकीर्तिकुमारी मन्द पदोंसे चल पड़ीं, तब ललिताने ही कहा—'लेकिन कोई कहीं नहीं जायँगी उस शापके रहते ? आप उसे निरस्त कर रहे हैं ?'

'गोलोक पहुँचनेका जिसे अधिकार किसी प्रकार मिल गया, उसका शाप निरस्त कर दिया जाय तो लोककी मर्यादा ही नष्ट हो जायगी। शाप गोलोकसे बाहर दिया गया, इसका तो महत्त्व नहीं है। लेकिन भद्र यदि शापको निरस्त करता है तो बाधा डालनेकी शक्ति भी तो किसीमें कहीं नहीं है।

'मैं उसमें संशोधन करता हूँ।' भद्रने गम्भीर स्वरमें कहा—'लली उसको स्वीकृति देगी।'

'आपकी आज्ञानुवर्तिनी हैं आपकी लली।' ललिता प्रसन्न हो गयी—'स्वीकृति तो उसे तभी भगवती योगमाया दे चुकीं जब आपने संकल्प किया। हम तो सुन लेनेको समुत्सुक हैं।

'समस्त सृष्टि यहाँकी प्रतिबिम्ब भूता ही तो है।' भद्रने स्पष्ट किया—'एक-एक और प्रतिबिम्ब पड़ जायँगे मर्त्यधरापर शापको सार्थक करनेके लिए। यहाँसे कोई नहीं जायगी।'

श्रीराधा पुनः स्वर्णाके चरणोंमें पड़ गयी होतीं, यदि उसने उनको अंकमें न समेट लिया होता।

'लेकिन शुभ्रा जीजी ?' ललिताने पुनः शंका की—'उस अमंगलाने कह दिया था कि ये यहाँ फिर नहीं आ सकेंगी।'

'यहाँसे बाहर कहीं कुछ है ? असम्भव शापकी सार्थकता कभी हुई है ?' भद्र हँस पड़ा—'अवश्य शुभ्रा अब इस रूपमें तुम्हें यहाँ नहीं मिलेगी; किन्तु वह साकेतमें वहाँकी अधीश्वरी अम्बाकी पुत्रवधू बनकर रहे, इसमें तो कोई बाधा नहीं है।'

'तुम यहाँ नहीं रहोगे तो तुम्हारे अनुज सुप्रसन्न रह सकेंगे ?' ललिताको यह शाप-सुधार प्रिय नहीं लगा था।

'मैं कहाँ जा रहा हूँ।' भद्रने हँसकर कह दिया—'एक रूपसे मैं साकेतमें अम्बाका स्नेह प्राप्त करता रहूँ, इसमें तुझे क्यों ईर्ष्या होती है ? एक रूपसे मुझे मर्त्यधरापर भी जाना है।'

'तुम्हें जाना है मर्त्यधरापर ?' ललिता चौंकी ।

'एक मुनि महाराज मुझे ये आशीर्वाद दे गये हैं ।' भद्रने कहा—'अब कन्हाई उनकी चर्चा ही सुननेको प्रस्तुत नहीं । अन्ततः उनको अनन्तकाल तक पाषाण ही तो नहीं रहने दिया जा सकता । यहाँ ललीको भी एककी चर्चा सुननी स्वीकार नहीं । जो एक बार कैसे भी इनके चरणों तक पहुँच गयी, उसे भटकने तो नहीं ही दिया जा सकता । मेरी इन सहधर्मिणियोंके जो प्रतिबिम्ब वहाँ प्रकट होंगे, उनके समेटनेका कार्य कौन करेगा ?'

'इस बार अवतार लेकर तुम धराको धन्य करोगे ?' ललिता खड़ी रह गयी ।

'यह सनक मुझे नहीं है ।' भद्र खुलकर हँस पड़ा । 'यह सब करना होगा तो दाऊ दादा कभी जायगा या कन्हाई करेगा । मैं तो केवल अपनोंको समेटूँगा और धूम करूँगा । समस्याएँ उत्पन्न करता रहूँगा । उन्हें कन्हाईको सुलझाते रहना पड़ेगा ।'

'तुम जाओगे तो तुम्हारे अनुज यहाँ नहीं रहेंगे ।' ललिता भाव-विह्वल बोल पड़ी—'तब तुम्हारी लली यहाँ रहेंगी ? हम सब यहाँ रहकर क्या सिर धुनेंगी ?'

'कह तो दिया कि कोई कहीं नहीं जा रहा है ।' भद्रने झिड़की दी—'लड़कियोंको तो रोने-मचलनेका कोई बहाना चाहिये । अनन्त कालसे प्रतिबिम्ब ही सृष्टिकी प्रतीति करा रहे हैं । एक और प्रतिबिम्ब वहाँ प्रकट हो जायगा और कन्हाईको तो वहाँ जाना नहीं है । कभी कदाचित उससे न रहा जाय तो अल्प क्षणको प्रकट होलेगा; क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब भी सच्चिदानन्द ही होता है ।'

'तुम सब अब शीघ्रता करो ! अपने सदन पहुँचो ।' भद्रने चौंककर कहा—'लगता है भगवान् आशुतोष पधार रहे हैं । उनके वृषभके कण्ठके घण्टेका प्रणवनाद गूंजने लगा है ।'

'तुम्हारे अनुज भी आ ही रहे होंगे ।' ललिताने प्रणाम करनेके निमित्त अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया ।

इन भाव लोकोंमें आना-जाना तो केवल शब्द व्यवहार है । सब दिव्यलोक समस्त दिक्में सर्वव्यापक हैं । आविर्भाव-तिरोभाव ही होता है वहाँ । वृषभारूढ़ भगवान् धूर्जटिको प्रकट ही होना था ।

पुनः शाप—

'अच्छा, तुम मेरे पेटका परिहास करते हो मनुष्योंके समान !' भगवान् शिवके साथ नन्दीश्वरके अतिरिक्त केवल एक गण आया था। कोई कूष्माण्ड था। नन्दीश्वरने गणोंको निषेध कर दिया था। गोलोकमें भला भूत-प्रेत प्रवेश कर सकते हैं; किन्तु यह एक पीछे लगा लुढ़कता चला आया था। बहुत उत्कण्ठा थी इसे गोलोक देखनेकी। शिवलोक भी अभी शीघ्र ही मिला था इसे। महाभैरवका ही सेवक था। नन्दीश्वरके निषेधको महत्वपूर्ण नहीं माना इसने।

भगवान् विश्वनाथका महावृषभ गोलोकके सम्मुख रुका तो उत्साहमें यह कूष्माण्ड पीछेसे आगे लुढ़क आया। कोई बहुत बड़े गजके बराबर कद्दू लुढ़कता चले तो आपको कैसा लगेगा। बाबाके गणोंमें भूत, प्रेत, पिशाचोंके ही वर्गमें कूष्माण्ड होते हैं। इनकी आकृति कद्दूके समान। सिर, हाथ, पैर होते तो हैं; किन्तु ऐसे कि ध्यानसे देखनेपर ही दीखें। शरीरमें केवल तोंद और ये गोल-मटोल लुढ़कते ही चलते हैं। अवश्य ये मानसिक सृष्टिके हैं। भूतनी, चुड़ैल (प्रेतनी), पिशाचिनी, यक्षिणी तो होती हैं; किन्तु कूष्माण्ड वर्गमें नारी नहीं। ये आजीवन ब्रह्मचारी बहुत क्रोधी होते हैं। या तो किसीका अनिष्ट करेंगे ही नहीं, अथवा उसका समूल वंश नाश कर देंगे।

कूष्माण्ड स्वभावसे कुतूहली होते हैं। कहीं अचानक प्रकट होकर लोगोंको अकारण डरा देना और लुढ़कते चले जाना इन्हें प्रिय है।

यह कूष्माण्ड पीछेसे लुढ़कता महावृषभके आगे बढ़ता ही जा रहा था। नन्दी इसे वारित करते, इससे पूर्व ही भद्र दौड़ता आया। यह बहुत भारी लुढ़कता कद्दू इसे विचित्र लगा। अपने दाहिने हाथकी चारों अंगुलियाँ इसके गोल शरीरमें चुभाकर हंस पड़ा।

'तुमने मेरे पेटमें चार अंगुलियाँ चुभायी हैं, अतः चार युग—पूरे मन्वन्तर पर्यन्त मर्त्यधरापर रहो !' कूष्माण्डने शाप दिया।

'चल गिर नीचे !' नन्दीश्वरके नेत्र अरुण हो गये। उन्होंने हाथका संकेत किया और कूष्माण्ड ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे वहाँ कभी था ही नहीं।

'आप मुझे क्षमा करें।' नन्दीश्वर भद्रके सम्मुख हाथ जोड़कर कुछ कहते; किन्तु कन्हाईके चपल सखा इसका कहाँ किसीको अवसर देते हैं। भद्र तब तक तो भगवान् चन्द्रमौलिके श्रीचरणों तक पहुँच चुका था।

'तुम आ गये !' भगवान गङ्गाधर अपने महावृषभसे लगभग कूद पड़े थे। चरणोंमें प्रणत होते भद्रको चारों भुजाओंसे समेटकर उन्होंने अंकमें ही उठा लिया।

'बाबा !' भद्रने उन नीलकण्ठके श्रीमुखकी ओर देखते केवल इतना कहा और उनके कण्ठमें भुजाएँ डाल दीं।

जो मृत्युञ्जयके अङ्कमें पहुँच गया, उसको उनके आभरण बने कालभुजंगका भला भय क्या। अब तो बाबाके कण्ठ, भुजा आदिके आभूषण बने सर्प उसे केवल स्नेहसे सहला सकते हैं। यह गोलोक-बिहारीके सखाका स्पर्श ऐसा उपेक्षणीय तो नहीं कि कोई इस सौभाग्यका अवसर चूक जाय। अतः मस्तककी जटाओंमें लिपटा नाग भी नीचे सरककर सिर बढ़ाकर भद्रकी अलकें सहलाने लगा है।

'आप यहीं रुक गये !' कन्हाई दौड़ा आया। सहस्र-सहस्र बालक दौड़े आये। भगवान् विश्वनाथके श्रीचरणोंमें अलौकिक पुष्पोंकी अञ्जलि अर्पित करके सबने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। उठकर श्यामसुन्दरने प्रार्थना की—'पधारें और हमें अर्चाका सौभाग्य प्रदान करें।'

'तुम मुझे क्षमा करदो !' अब कहीं वे नीलकण्ठ प्रभु बोल सके। इनका रोम-रोम उत्थित, नयनों-से अश्रुधारा चलती और सम्पूर्ण गात्र कम्पायमान। भद्रको अङ्कमें ही लिये अब तक स्तब्ध खड़े रह गये थे। अब भी स्वर गद्‌गद था—'तुम्हारे सखाको एक अज्ञ गणने शाप दे दिया।'

'मुझे तो इर्ष्या हो रही है इसके सौभाग्यपर !' कन्हाई भी भद्रको ही देख रहा था—'यह हम सबका यूथनायक तो था ही, अब आपके अङ्कका अधिकारी हो गया। अम्बा आद्या इसे पहिले ही अपना पुत्र मानती हैं और साकेतका भी यह युवराज बन गया है।'

'बाबा ! यहाँ कोई किसीको शाप तो दे ही नहीं सकता।' भद्र अब धीरेसे अङ्कसे उतरा और भगवान् आशुतोषका दक्षिण कर पकड़कर उनके श्रीअंगसे सटकर खड़ा हो गया था। जैसे बाबापर कन्हाईसे अधिक स्वत्व है उसका—'यहाँ कोई शाप देनेका मन भी करता है तो अम्बा आद्या उसकी वाणीको वरदान बना देती हैं।'

'तुम उचित कहते हो !' भगवान् भोलेनाथ अत्यन्त गम्भीर हो गये। उन्होंने दक्षिण भुजा उठाकर घोषणा की—'मैं मर्यादा बनाता हूँ कि इन दिव्यलोकोंमें कोई किसीको शाप नहीं दे सकेगा और देगा तो उसे स्वयं भोगना होगा।'

'शाप देनेवाला तो अब भी भाग्यहीन ही बना।' भद्र बहुत नम्रतासे बोला—'बाबा ! उस अभागे गणको……।'

'वत्स ! मेरा एक अनुरोध मानलो।' भद्रको रोककर बीचमें ही भगवान् डमरूपाणि बोले—उसकी चर्चा भी मुझे अत्यन्त अप्रिय है। उसका स्मरण न तुम करो और न मुझे कराओ।'

'आप भी कन्हाई जैसे ही हैं बाबा !' भद्र भरित कण्ठ बोला—'आप आज्ञा दे सकते हैं। अनुरोध तो मैं करता हूँ कि अनन्त करुणा-वरुणालय प्रभु मुझे तो किसीपर कृपा करनेको स्वतन्त्र रहने दें और यदि मैं किसीको इन चारु चरणोंमें भेजना चाहूँ तो………।'

'वह सदा मेरा प्रिय रहेगा।' भगवान् विश्वनाथने भद्रको फिर अङ्कमें उठा लिया—'तुम जिसे मेरे यहाँ, गोलोक या साकेत भेजनेकी इच्छा भी करोगे, उसके स्वागतको हम तीनों समुत्सुक बने रहेंगे। मेरे यहाँ नन्दीश्वर भी उसका शासन नहीं कर सकेंगे।'

'आपकी आज्ञा मेरे लिए तो सदा अनुल्लंघनीय है।' कन्हाईने अञ्जलि बाँध ली; क्योंकि भगवान् वृषभध्वजकी दृष्टि कहती थी कि वे अपने आशीर्वादका व्रजराज कुमारसे अनुमोदन चाहते हैं।

'तुम इन सब शापोंको अस्वीकार कर देनेमें समर्थ हो, स्वतन्त्र हो।' अब उन महेश्वरने भद्रकी ठुड्डीमें दक्षिण कर स्नेहपूर्वक लगाकर उसका मुख तनिक ऊपर उठाया और उसका सिर सूंघ लिया।

'मैं आपका स्नेह भाजन, आपका—आप अमृत स्वरूपका पुत्र' भद्रने सहास्य कहा—'कोई शाप मेरा क्या बिगाड़ेगा। महाकालके प्रिय पुत्रको प्रपीड़ित करना तो दूर, उसे खिझानेका साहस किसीमें आ कैसे सकता है। ये शाप तो मेरा—मेरे एक प्रतिबिम्बका विनोद बनेंगे।'

'तुम अपने इन नीलसुन्दर सखासे अभिन्न हो, अतः इनके समान ही तुम्हारी करुणा भी असीम अतर्क्य है।' भगवान् धूर्जटिका स्वर आर्द्र हो उठा—'अब तुम्हें अपना ही अहित करने वालोंके उद्धारकी चिन्ता हो उठी

है। इसे मैं भी कैसे वारित कर सकता हूँ। तुम्हारी कृपाके अतिरिक्त तो अब उनका कहीं कोई आश्रय रहा नहीं।'

'लेकिन बाबा! लोकालयमें भी तुम कन्हाईके समान ही मेरे अपने रहोगे। मुझे अपना करावलम्बन देते रहोगे।' अब भद्रने अंकसे उतरकर अञ्जलियाँ बाँधी—'मैं जब पुकारूँगा, तुम समाधिमें नहीं बैठे रहोगे।'

'एवमस्तु!' चन्द्रमौलि प्रभुसे दूसरा कुछ सुननेकी तो आशा कभी कोई करता नहीं। उनका स्वभाव है कि उनसे कुछ कहा जाय तो उनके श्रीमुखसे स्वतः 'एवमस्तु' निकल पड़ता है। लेकिन उन्होंने भद्रका पुनः हाथ पकड़ा 'तुम्हें यह कहनेकी आवश्यकता थी? शिव तमोगुणका अधिष्ठाता सही; किन्तु ऐसी जड़ समाधि तो कभी नहीं लगाता जो तुम्हारी पुकारसे भी भग्न न होती हो।'

'बाबा! आप तो यहीं खड़े रह गये।' कन्हाईने उलाहना दिया—'हम सभी अर्चा करनेको उत्सुक हैं।'

'उचित तो यह था कि मुझे तुम्हारे इस दिव्यधाममें प्रवेशका अनधिकारी मान लिया जाता।' भगवान् कृत्तिवासका कण्ठ फिर भर आया—'तुम्हारे जनोंका अपराध करके यह प्रलङ्कर भी सकुशल नहीं रहता—यह मर्यादा स्थापित होनी चाहिये थी; किन्तु तुम और तुम्हारे सखा कृपाके ही घनीभाव हैं। तुम्हारी इच्छाकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।'

'शिवहर शंकर गौरीशं,
वन्दे गङ्गाधरमीशम्।
रुद्रं पशुपतिमीशानं
कलये काशीपुरिनाथम्॥

भगवान् वृषभध्वज तो आगे पैदल ही जाना चाहते थे; किन्तु श्यामने उन्हें वृषभारूढ़ होनेको बाध्य कर दिया। नन्दीश्वर जब द्वारपर ठिठकने लगे, कन्हाईने उनको भी आगे बढ़नेको बाध्य किया—'आप अपनी अर्चासे हमें क्यों वञ्चित करना चाहते हैं? जानते तो हैं कि महेश्वरके सेवक मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मैं उनका भी अर्चक ही हूँ।'

'आप और ये मेरे प्रभु दो नहीं हैं, दया करके मेरी यह बुद्धि सदा बनी रहने दीजिये ।' नन्दीश्वरने दोनों हाथ जोड़े— 'अन्यथा आपकी माया भगवतीकी महिमाका पार नहीं है । आप अत्यन्त लीला-निपुण और आपकी माया अगम्य । अतः मुझपर अनुग्रह करें । प्रणतपाल ! मैं आपकी शरण हूँ, पाहि !'

'एवमस्तु !' कन्हाईने भगवान् शंकरके समान ही गम्भीरतासे कहा तो सब सखा ताली बजाकर हँस पड़े ।

'मैं तुमसे बड़ा हो गया !' भद्रने धीरेसे कन्हाईका हाथ दबाया — 'अब तो मानेगा ?'

'दादा ! तू बड़ा तो सदासे है ।' भगवान् शशाङ्क-शेखरकी सन्निधिमें श्यामसुन्दर इस समय गम्भीर बन गया है— 'मैया कहती है कि तू मुझसे दस महीने बड़ा है और साकेतके युवराज एवं साम्बशिवके मुँह बोले कुमारको छोटा कहनेकी धृष्टता भला मैं कैसे करूँगा ।'

'अब तुम अपने लोकमें मेरे गणको भी ले आये ।' भगवान् शिवको नन्दीश्वरको भी साथ ले आना अच्छा नहीं लगा था ।

'हम सब भी तो आपके ही गण हैं ।' कन्हाईने अञ्जलि बाँधी— 'अपनोंमें-से ही एक अग्रणीका सत्कार करनेका अवसर तो आज मिलेगा मुझे ।'

नन्दीश्वर भाव-विह्वल हो रहे थे और भगवान् शिव भी मौन रह गये । उन्होंने देखा कि वे कुछ कहेंगे तो ये मयूर-मुकुटी ऐसी ही अटपटी बातें करते रहेंगे ।



शापोंका विवेचन—

'अन्ततः ये शाप होते ही क्यों हैं?' भद्रका प्रश्न उचित नहीं है, ऐसा कोई कह नहीं सकता। गोलोक, साकेतादिमें सर्वथा निर्मुक्त कलमष, अहंकारहीन प्राणी पहुँचता है। प्राकृत अन्तःकरण भी उसमें नहीं होता। उसका शरीर, मन, बुद्धि सबका सब तो प्राकृत जगतमें छूट चुका। वह दिव्य देह प्राप्त करके ही आनेमें समर्थ हुआ। अब उसमें अपना तो कुछ रहा नहीं। तब उसमें पूर्व-संस्कार, पूर्वाभ्यासका प्रसंग कैसा? तब उसमें अभिमान, रोष क्यों आता है? वह क्यों शाप देता है?

भद्रने नहीं पूछा; किन्तु प्रश्न तो है ही कि माया-मण्डलसे सर्वथा परे इन दिव्य भगवद्धामोंमें पहुँचकर किसीका भी पतन क्यों? यहाँसे भी यदि कोई जन्म-मरणके चक्रमें लौटता है तो भक्तिका, इन दिव्यधामोंका ही क्या प्रभाव? ये भी ब्रह्मलोकके समान पुनरावर्ती ही हुए। सब न सही, कोई तो यहाँसे भी लौटता ही है। ब्रह्मलोकसे भी सब तो नहीं लौटते। बहुत-से निर्मुक्त-कलमष वहाँसे भी ब्रह्माके साथ निर्वाण पद प्राप्त ही कर लेते हैं।

भगवान् नीलकण्ठकी अर्चा हो चुकी थी। गोपबालक श्रीकृष्ण-चन्द्रके साथ उन आशुतोषके समीप आज सहज चापल्य त्यागकर शान्त बैठे थे। भद्रको तो उन त्रिलोचनने अंकमें ही बैठा लिया था।

भद्रने ही प्रश्न किया। उसे यही समझमें नहीं आता कि भगवती योगमाया इन धामोंमें शाप देनेका सुयोग ही किसीको क्यों देती हैं। शाप असम्भव बना दिया जाना चाहिये यहाँ।

'तुम्हारे ये अनुज बहुत चपल हैं।' कन्हाईकी ओर भगवान् शंकरने संकेत किया तो सब बालक इसे देखकर मुस्कराये। श्यामने सिर झुका लिया। अब इन महेश्वरके सम्मुख प्रतिवाद तो किया नहीं जा सकता। सदाशिवने कहा—'इनसे शान्त तो बैठा नहीं जाता। यह तो मेरे संकोचसे इस समय ऐसे बैठे हैं। इन्हें लीला करनी होती है तो भगवती योगमाया अशक्यको भी शक्य बना देती हैं।'

भगवती योगमाया अघटन घटना पटीयसी हैं, यह सब जानते हैं। कन्हाई बहुत नटखट है, ऊधमी है, यह भी सबको पता है ?'

'यह इसीका उत्पात होता है ?' भद्रने श्यामकी ओर देखा और हँस पड़ा। इस सुकुमारको उलाहना नहीं दिया जा सकता।

'तुम जानते हो कि मायाके क्षेत्रमें जो अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, उनमें तुम्हारे लोकके ही प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। माया और मायाकी विकृति अहंकारादिके कारण उन प्रतिबिम्बोंमें अपना पृथक् अस्तित्व-बोध, कर्तृत्वाभिमान आता है। तब कर्मचक्र चल पड़ता है।' भगवान् भूतनाथने समझाया—'किन्तु कर्मचक्र तो है ही दुःखनिलय। उसमें पड़ा प्राणी इन आनन्दघनसे विमुख होकर अतिशय कातर हो जाता है। तब इन लीलामयको उसपर दया आती है। उसके उद्धारके लिए ये कोई-न-कोई बहाना बनाते हैं।'

'ओह ! तो अपना यह कन्हाई नटखटपन भी जीवोंपर अतिशय दया करके ही दिखलाता है।' भद्रने बड़े स्नेह, अपनत्वसे अनुजकी ओर देखा। उसे भगवान् शिवने दो भुजाओंसे पकड़ न रखा होता तो कूदकर अपने कनूँको हृदयसे लगा लेता।

'तुम्हारा यह लोक तो आनन्दका घनीभाव है।' ज्ञानियोंके परमगुरु प्रभु समझा रहे थे—'यहाँ ज्ञानको भगवती योगमाया प्रसुप्त रखती हैं। ऐसा न हो तो लीला ही नहीं चले। इन सगुण-साकार लोकोंमें और इनसे परे भी एक अखण्ड, अद्वितीय सत्ता है, वह ज्ञान है। निर्विकार, निर्विशेष ज्ञान। उस ब्रह्मके ही ये घनीभाव श्यामसुन्दर और इनसे अभिन्न तुम सब।'

सबको ही यह स्तवन जैसा लगा। भद्रने कह दिया—'बाबा, आप तो अपनी बात हम सबका और कन्हाईका नाम लेकर करने लगे।'

'तुम्हारे लोकसे बाहर, मायाकी एक पाद विभूतिमें जो अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वे प्रतिबिम्ब हैं इन दिव्य लोकोंके। स्वप्नके समान वे लोक।' भगवान् भवानीनाथकी बात आगे बढ़ी—'उनमें तुम्हारा आनन्द सत्वगुण बन जाता है। ज्ञान वहाँ रजोगुण होकर क्रियाशील रहता है और सत्ता वहाँ तमोगुण होकर सघन हो जाती है, स्थूलता प्राप्त कर लेती है।'

'आप तो शापको समझा रहे थे।' भद्रको यह गम्भीर चर्चा बहुत आकर्षक नहीं लगी।

'वही समझा रहा हूँ।' भगवान शिवने तत्त्वविवेचन संक्षिप्त किया—'तुम्हें या तुम्हारे प्रतिबिम्बको जब मर्त्यधरापर प्रकट होना है तो वहाँ त्रिगुणोंको स्वीकार करना ही है। अतः तुम्हें तीन शाप तीन प्रकारके व्यक्तियोंसे तीन ढंगसे प्राप्त हुए।'

'अच्छा !' भद्र ही नहीं, सब उत्सुक हो उठे। केवल कन्हाई सिर झुकाये रहा।

'वह मुनि था। आनेसे पूर्व मर्त्यलोकमें विशुद्ध सत्वसे एक हो चुका था। उसने तुम्हें ऐन्द्रियक जीवन प्राप्त करनेको कहा।' भगवान् शिवने स्पष्ट कर दिया—'सृष्टिमें तो आनन्दकी उपलब्धि ऐन्द्रियक भोगोंके माध्यमसे ही सम्भव है। तुम स्वयं ऐन्द्रियक जीवन न प्राप्त करो तो लोकालयमें जीवोंको अपने इस गोविन्दको प्रत्यक्ष करनेका पथ, इसकी लीलाएँ कैसे समझा सकते हो ?'

'लेकिन वह मुनि तो पाषाण बन गये !' भद्रकी शङ्का ठीक है। सत्वगुणी मुनिको अत्यन्त तामस योनि क्यों मिलनी चाहिये ?

'कर्मलोकमें प्राणियोंको आराधनाका आधार देनेके लिए अर्चा-विग्रह आवश्यक होते हैं।' भगवान चन्द्रचूड़को आगे व्याख्या नहीं करनी पड़ी। अर्चा-विग्रह सामान्य धातु-पाषाण नहीं बन सकता। कोई दिव्य, विशुद्ध सत्व न बने तो स्वयं श्यामको वह रूप लेनेको विवश होना पड़ता है। मुनि पाषाण होकर भी कन्हाईसे वहाँ भी अभिन्न हैं, यह सन्तोष हुआ भद्रको।

'दूसरा शाप सीधे तुम्हें नहीं है।' सर्वज्ञ शशाङ्कशेखरसे छिपा क्या रह सकता था—'लेकिन तुम्हारी अर्धाङ्गिनियोंको है तो तुम्हें ही है। वह है क्रियाशीलताका—रजोगुणको स्वीकार करनेका शाप। भोग-प्रवृत्ति रजोगुणकी। तुम परम स्वतन्त्र, तुमपर प्रतिबन्ध तो कोई कहीं लगा नहीं सकता। तुममें यह प्रवृत्ति न हो तो तुम वहाँ जाकर भी कुछ करोगे ही नहीं। तुमसे कुछ कराना हो तो तुममें प्रवृत्ति तो देनी ही चाहिये थी।'

'मैं खूब धूम करूँगा।' भद्रने ताली बजायी—'अपनी मर्यादाएँ आप सम्हालना।'

'तुम जानते हो कि मेरे गण कोई मर्यादा नहीं मानते।' भगवान शिवने सस्मित कहा—'तुम्हारे इन अनुजको भी मर्यादाओंकी बहुत पड़ी नहीं होती। यहाँसे बिम्ब जाय या प्रतिबिम्ब पड़े, कोई कर्म-परतन्त्र तो जा नहीं रहा। अतः शास्त्रका बन्धन ही कहाँ रहता है। मैं और तुम्हारे ये अनुज भी केवल इतना जानते हैं कि जो तुम्हारा, तुम्हारे अनुकूल, तुम

जिसपर प्रसन्न, वह हमारा और हमारा प्रीतिभाजन। जो तुम्हारे प्रतिकूल– उसका कर्म, धर्म, प्रारब्ध हम दोनोंको देखना नहीं आवेगा। उसके भाग्यमें केवल दुःख और पतन।'

'बाबा, आप भी इतने पक्षपाती बनोगे ?' भद्रको यह व्यवस्था बहुत रुची नहीं।

'हाँ, बनेंगे।' कन्हाईने पहिली बार सिर उठाया—'बाबा तो सदासे ही ऐसे हैं। अपनोंके—केवल अपनोंके।'

बाबाकी ओरसे कन्हाईने कुछ कह दिया तो बात दुगुनी पक्की हो गयी। अब बाबा तो उसे अपना विधान मान लेंगे।

'पर बेचारी सुवर्चला···· ।' भद्रका स्वर बहुत करुण हो उठा।

'उसे विशुद्ध वाणी तो कभी नहीं मिलेगी। भगवती योगमायाने विधान ही यह कर दिया; किन्तु अन्तमें वह संगीतके स्थानपर नृत्य प्राप्त कर लेगी अपनी निकुञ्जेश्वरीकी सेवाके लिए।' आशुतोष भी उसपर सदय ही थे—'श्वान-योनि उसे परिशुद्ध कर देगी। उसे तुम्हारी सह-धर्मिणियोंमें-से एककी सेवा मिल जायगी। तुम्हारी चरण-रज पाकर वह मनुष्य योनि प्राप्त कर लेगी।'

'लेकिन बाबा ! मैं भाभियोंकी अपराधिनीको अपना नहीं सकता।' कन्हाईने कुछ कातर भावसे ही महेश्वरकी ओर देखा—'आप ऐसा कोई आशीर्वाद मत दो। उसपर कृपा तो वह भाभी कर सकती है, जिसे उसने सबसे अधिक तिरस्कृत किया और यदि भद्र उसे अपना सकेगा तो निकुञ्जेश्वरीको अस्वीकार करनेका अवसर नहीं रहेगा। मैं स्वीकार करूँ तो स्वयं मैं ही रोष-भाजन बन जाऊँगा।'

'वह कूष्माण्ड ?' भद्रने अन्तमें पूछा।

'मैंने तुमसे अनुरोध किया है कि उसकी चर्चा मत करो।' भगवान शिवका स्वर खिन्न हो गया—'वह तो प्रेत था—तमोगुणी प्रेत। उसका शाप तामसिक। उसने कालकी सीमा निर्धारित की तुम्हारे लिए। अतः वह अनन्तकाल तक प्रेत ही रहेगा। अब भी वह कूष्माण्ड ही बना लुढ़कता फिरता होगा।'

'कनूं ! तू उसके रूपमें कभी कद्दू बनेगा ?' भद्रको हँसते देखकर कन्हाई बोल पड़ा—'बनूंगा, क्या हुआ इसमें ?'

जो कछुआ, मछली, वाराह भी बनता है, वह कूष्माण्ड भी बन जायगा और तब वह कूष्माण्ड भले अनन्तकाल तक उसी योनिमें रहे, इन नीलकण्ठ प्रभुका सामीप्य तो उसे प्राप्त हो ही जायगा।

तुम्हारी जय हो—

'अम्बा आद्या अत्यन्त क्रुद्ध हैं। सुर ही नहीं, सृष्टिकर्ता तक संत्रस्त हैं कि वे शान्त न हुईं तो उनका रोष ही प्रलय कर डालेगा।' कन्हाईका स्वर भी इस समय भरा-भरा है। भद्रके कन्धेपर कर रखे यह ऐसा सचिन्त हो रहा है कि कोई कल्पना भी न कर सके। आनन्दकन्द कन्हाईमें चिन्ता—सोचनेसे भी परेकी बात है।

'भगवान चन्द्रमौलि भी इस समय उन त्रिपुराके सम्मुख जानेको प्रस्तुत नहीं हैं।' श्यामसुन्दर यह नहीं कह पा रहा है सखासे कि तू जा। कहता है—'तू स्वीकार करे तो मैं जाता हूँ। वे हुङ्कार करके देखेंगी ही तो। फिर तो स्वयं पश्चाताप होगा उन्हें।'

त्रिपुरसुन्दरी हुंकार करके देखेंगी—इस बातको कन्हाई ही इतने साधारण ढंगसे कह सकता है। उन महाशक्तिका सहुंकार दृष्टिपात सहन करनेका साहस तो साक्षात् प्रलङ्कर प्रभु भी अपनेमें नहीं पा रहे हैं। काल भी रुईके नन्हें टुकड़ेके समान भस्से भस्म हो जाय उस हुंकारसे और कन्हाई जायगा उसे झेलने ?

'तू क्यों जायगा ?' भद्रको अपने इस भोले अनुजकी चिन्ताका कारण मिल गया है—'डरता है कि मुझे भी वे हुंकार करके देखेंगी ? ऐसा शक्य नहीं है। वे अम्बा हैं, अनन्त करुणामयी अम्बा। मैं उनके समीप जा रहा हूँ। देखता हूँ कि मुझे देखकर उनमें वात्सल्य कैसे नहीं उमड़ता।'

'तू ही उन्हें शान्त कर सकता है।' कन्हाईने अङ्कमाल दी—'लेकिन ऐसे मत जा। शिशु बनकर जा तो वात्सल्य सहज उमड़ेगा।'

गोलोक भावलोक है। भद्रके वस्त्राभरण अदृश्य हो गये। एक ढाई वर्षका शिशु बन गया वह। ताम्र गौर, कमल लोचन, किसलय सुकुमार दिगम्बर शिशु कुटिल अलकें लहराता, करके कंकण, कटिकी रत्नमेखला और चरणोंके नूपरोंका रुन-झुन करता नन्हें पदोंसे दौड़ चला। उसे कहाँ किसी देशमें जाना था। सूक्ष्मतासे स्थूलतामें अवतरण कोई देशगत दूरी है कि श्रम पड़ता।

अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड और उनके सत्यलोक, जनलोक, महर्लोक, तपोलोक, स्वर्ग—लेकिन भद्रके वे लीलामय अनुज उसे जहाँ भेजना चाहते थे, वहीं तो उसे प्रकट होना था।

स्वर्गङ्गाका वह असीम विस्तार क्षण-क्षण कम्पित हो रहा था। भूत, प्रेत, पिशाच, कूष्माण्ड, राक्षस, यक्ष, वैताल, भूतनी, प्रेतनी, पिशाचिनी, योगिनी, यक्षिणी, राक्षसियाँ, चुड़ैलें—लक्ष-लक्ष भयङ्कर दारुण वर्ण और ये तो किसी गणनामें ही नहीं। चामुण्डा, शीतला, काली, उग्रतारा, कपालिनी, छिन्नमस्ता, सब भैरव अपने वाहनोंपर अस्त्र-शस्त्र उठाये हुंकार करते अन्धाधुन्ध दौड़ रहे थे। चक्कर काटते भटक रहे थे। जैसे सब उन्मादग्रस्त हो गये हों।

शुम्भ-निशुम्भका तो शव भी चामुण्डाने चबा लिया था। उस रणाङ्गणमें केवल भूमि रक्तात्त थी और अस्त्र-शस्त्रों तथा रथोंके खण्ड बिखरे पड़े थे। असुरोंमें किसीका मस्तक नहीं बचा था। सब मुण्ड या तो भूत-प्रेतों, कालिकाओंने कण्ठाभरण बना लिये थे या कन्दुक बनकर खण्ड-खण्ड हो चुके थे।

एक भी शव-धड़ पूरा नहीं था। सब चिथड़े हो रहे थे। उनकी आँतें प्रेत-पिशाचोंने गलेमें लटका रखी थीं। गज, अश्व, खच्चर, गर्दभ आदि असुर-वाहनोंके शव भी फाड़-चीथ डाले गये थे। अत्यन्त वीभत्स दृश्य और भयानक हुंकारें, घोर चीत्कारें।

प्रेत-पिशाचादि चिल्लाते क्रोधोन्मत्त दौड़ रहे थे। उन्हें फाड़ने-चीथने, तोड़ने-फोड़नेको भी कुछ मिल नहीं रहा था।

सबसे ऊपर, सबसे भयानक शब्द था महासिंहकी दहाड़। वह आद्याका वाहन कराल दंष्ट्रा केशरी निरन्तर दहाड़ रहा था। उसकी दहाड़से दिशाएँ जैसे फटी जा रही थीं।

महासिंहपर आरूढ़ा षोडशभुजा सायुधा आद्या महाशक्ति त्रिपुर-सुन्दरी अतिशय क्रुद्ध थीं। उनके खड्ग, त्रिशूलसे रक्त झर रहा था। उनके करके खप्परसे सधूम ज्वाला उठ रही थी और वे हुंकार कर रही थीं। क्षण-क्षणपर हुंकार कर रही थीं। उनकी हुंकारसे दिशाएँ काँप रही थीं। जैसे ब्रह्माण्ड फट जायगा। त्रिलोकी भस्म हो जायगी। उनकी हुंकृतिसे भूत-प्रेतादि, चामुण्डा-कालिका सब उन्मत्त भाग रही थीं।

उग्र भृकुटि, कठोर नेत्र—उन महाशक्तिकी ओर देखनेका साहस सुरोंमें भी नहीं था। बहुत दूर भाग गये थे वे और सब केवल 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहे थे; किन्तु किसीको कहीं कोई त्राण देनेवाला दीख नहीं रहा था।

'अम्ब !' अचानक एक शिशुके कण्ठकी अतिशय मृदुल, क्षीण ध्वनि कहींसे आयी और भद्रकालीने चौंककर इधर-उधर देखा। उनके चरण स्थिर हो गये।

'अम्ब !' ढाई वर्षका अत्यन्त सुन्दर, कुसुम सुकुमार, गौरवर्ण, दिगम्बर शिशु दौड़ता चला आ रहा था। ऐसे चला आ रहा था जैसे भूत-प्रेत-पिशाच उसे दीखते ही न हों। जैसे केशरीकी दहाड़ और आद्या महाशक्तिकी त्रिभुवनभेदी हुंकार उसके श्रवणों तक पहुँच ही न रही हों।

'अम्ब !' भद्रकालीकी दृष्टि उस शिशुपर पड़ी और उनके दक्षिण-करका अस्थिदण्ड ऊपर उठकर आकाशमें हिलने लगा। वह दण्ड हिला और जैसे भूत-प्रेत-पिशाचादि, डाकिनी-शाकिनी सब, कालिका-चामुण्डा-उग्रतारा प्रभृति सबके पद एक साथ स्थिर हो गये। सब जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये। सबका चीत्कार करना बन्द हो गया। सबके अस्त्र-शस्त्र उठाये कर नीचे आ गये।

'अम्ब !' शिशुपर दृष्टि गयी और सृष्टिका वह सीमातीत उग्र समुदाय ऐसा शान्त, सौम्य बन गया जैसे उनमें उग्रता कभी थी हो नहीं। अवश्य सब सिमटने लगे।

'अम्ब !' शिशु तो दौड़ता आया और दौड़ता सबके मध्यमें चला जा रहा है। वह नीचे देखता ही नहीं कि कहाँ अस्त्र-शस्त्रोंके खण्ड पड़े हैं और कहाँ कोई चिथड़ा बना गज या अश्व है।

भद्रकालीके करका अस्थिदण्ड हिल रहा है। वे जानती हैं कि शिशुके सुकुमार पाद-तलमें कोई नन्हीं कंकड़ी भी चुभी या कोई शव-खण्ड उससे टकराया तो आद्या उन्हें क्षमा नहीं करेंगी। अस्थिदण्ड हिल रहा है और शिशुके सम्मुखका मार्ग स्वच्छ होता जा रहा है। शवोंके टुकड़े, रथों तथा शस्त्रोंके खण्ड स्वतः उछलकर दूर गिरते जा रहे हैं।

'अम्ब !' शिशु दौड़ता कराल द्रंष्ट्रा; ज्वलदग्निमूर्धजा, उग्र नेत्र दहाड़ते केशरीकी ओर ही जा रहा है।

'चुप !' अपनी नन्हीं सुकुमार हथेली धरदी शिशुने दहाड़ते केशरीकी नाकपर और डाँटा—'फिर बोलेगा तो तेरी नाकपर चपत मारूँगा—ऐसी चपत कि छींकते-छींकते थक जायगा तू।'

केशरीने चौंककर शिशुको देखा। उसका मुख बन्द हो गया। मस्तक झुका दिया उसने। वह ऐसी चेष्टा करने लगा जैसे उससे अपराध हो गया और अब क्षमा चाहता है। यदि आद्या उसकी पीठपर आरूढ़ न होतीं तो वह अवश्य शिशुके पदोंमें अब तक लोट गया होता।

'अम्ब !' शिशुको केशरीकी चेष्टापर ध्यान देनेका अवकाश नहीं। केशरी तो शान्त हो गया। भूत-प्रेतादि कबके चुपचाप, शान्त खड़े हो चुके। दिशाएँ निर्मल हो गयीं। समीर अब लूके स्थानपर सुखस्पर्शी बन चुका है; किन्तु ये महाशक्ति अभी हुंकार कर ही रही हैं।

'अम्ब !' शिशु झल्ला गया। वह तो छोटा है। इतने बड़े सिंहकी पीठ तक उसके कर पहुँच नहीं सकते; किन्तु उसकी पुकार ये अम्बा क्यों नहीं सुन रही हैं? उसने देवीके दक्षिण चरणके समीप जाकर उनका पादांगुष्ठ पकड़ा और हिला दिया।

'वत्स तुम !' सहसा भगवतीने अपने चरणका अंगुष्ठ पकड़े बालकको देखा और एक साथ सब करोंके अस्त्र-शस्त्र, खप्पर आदि सिंहके वामपार्श्वमें फेंककर कूद पड़ीं। शिशुको उन्होंने झुककर अङ्कमें उठा लिया।

'अम्ब !' उन आद्याके अङ्कमें पहुँचकर शिशुने मुख उठाकर उनके श्रीमुखकी ओर देखा और अपनी नन्ही हथेली उनके कपोलपर रखदी—'तू क्रोध करती है ?'

'वत्स !' उन महाशक्तिके पयोधर अमृत-निर्झर बन चुके थे। अतिशय वात्सल्यसे उनका वीणा विनिन्दक स्वर भी कम्पित था। शिशुके ललाटको चूमकर बोलीं—'तुम समीप नहीं होते, तब कभी क्रोध भी आ जाता है। अब तो वह भाग गया।'

'भाग गया अम्ब ?' शिशुने इधर-उधर मस्तक घुमाकर देखा। जैसे क्रोध कोई शशक-मूषक या श्वान होगा जिसे भागते देख ले सकेगा।

'अम्ब ! तू तो दयामयी है ?' शिशु भला अपनी स्नेहमयी अम्बाका स्तवन करेगा। वह तो अभी सुनी पिछली हुंकारों और क्रोधका उपालम्भ दे रहा था।

'दयामय तो तुम हो। अपना आनन्द लोक और अपने आनन्द-कन्द अनुजको त्यागकर इस माया-मण्डलमें स्वेच्छासे त्रिभुवनको आश्वासन देने उतर आये।' आद्याने स्नेह-विगलित स्वरमें अनुरोध किया—'अब आ ही गये हो तो धरा को भी धन्य कर दो। उस अपने अपराधी कूष्माण्डको केवल तुम्हीं क्षमा करके उसके आराध्यके समीप भेज सकते हो।'

'उसे तो कन्हाई भेज देगा भगवान भोले बाबाके समीप।' बालकनें सहज भावसे कह दिया—'मैं तनिक धराको भी घूम लूँगा; किन्तु तू मेरी वहाँ देखभाल करती रहेगी अम्ब ! मैं पुकारूँ तो हुंकार करनेमें या सो जानेमें नहीं लगी रहेगी।'

'अब तो मैं तब तक तुम्हींपर दृष्टि लगाये रहूँगी, जब तक तुम अपने अनुजके समीप नहीं पहुँच जाते।' उन महाशक्तिने कह दिया—'तुम्हें पुकारना नहीं पड़ेगा।'

'अम्बा आद्याकी जय !' शिशुने प्रसन्नतासे ताली बजायी।

'जय ! तुम्हारी—अमृतपुत्र ! तुम्हारी जय !' आद्याने भी सोल्लास जयध्वनि की।



मुनिकुमार—

अक्षुण्णव्रत अमिततेजा मुनि सुव्रतका कुमार सुभद्र; किन्तु कुछ तो नहीं सीखता। सतयुगका बालक और वह भी विप्रकुमार, परन्तु इतना चपल! माता बहुत दुःखित रहती हैं। उनको लगता है कि उन्हींके किसी असंयम, असच्चिन्तनसे उनका पुत्र ऐसा बहिर्मुख हो गया है।

मुनि सुव्रतमें प्रमादके प्रवेशकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कौमारावस्थासे वे सहज तापस। ध्यानमें बैठे रहना उनका स्वभाव है और समाधि तो जैसे उनके संकल्पकी प्रतीक्षा करती रहती है।

पिताकी आज्ञा स्वीकार करके उन्होंने पत्नी-परिग्रह किया था। महर्षि त्रित उत्सुक न हो उठते उन्हें अपनी कन्या प्रदान करनेको—वे कहाँ इस प्रपञ्चमें पड़नेवाले थे। महर्षिने उनके पिताश्रीसे अनुरोध किया और पिताकी आज्ञा उन्हें स्वीकार करनी पड़ी।

वह कृतयुग था—सृष्टिका प्रथम सतयुग। उस समय गृह-निर्माण तो केवल शासक और वणिक्के लिए उचित माना जाता था। ब्राह्मण तो उटज भी नहीं बनाते थे। आहार देनेको वनमें पर्याप्त वृक्ष थे और अग्नि-होत्रके लिए अग्नि गिरि-गुहाओंमें सुरक्षित रह सकते थे। ब्राह्मण क्यों वस्तु परिग्रह करें या झोपड़ी बनावें। वर्षमें कुछ ही दिन तो होते हैं जब वर्षासे अग्नि-रक्षाके लिए आश्रय अपेक्षित है।

अत्यन्त आग्रह, आदर भी अपवाद स्वरूप गिने-चुने ब्राह्मणोंको ही किसी वणिक्प्रधान या राजधानीके समीप रहनेको बाध्य कर पाता था। वें समर्थ, साधनसिद्ध अतिशय कृपालु महर्षि थे। लोकपर अहैतुकी कृपा करके ही वे किसी गृहाश्रयीके कुछ समीप रहना स्वीकार करते थे। इसलिए स्वीकार करते थे जिससे क्षत्रिय एवं वैश्य गृहस्थोंका संस्कार सुरक्षित रहे। इनके बालकोंको सम्यक् शास्त्र-शिक्षण प्राप्त हो।

न नगर, न ग्राम। कहीं शासकका कोई सदन है तो वहाँ कुछ थोड़े झोपड़े। उनके आचार्य महर्षि वहीं कहीं समीपके वनमें जलका सुपास देखकर किसी गुफाको आश्रम बना लेते थे।

तब कृषिकी कल्पना भी नहीं थी। वनोंमें प्रचुर फल, कन्दादि थे। प्रकृति इतनी निर्मल कि वनपशु तक शान्त। कहीं रजसका संघर्ष या तमसका कल्मष नहीं।

वणिक वर्गको कुछ वन्य अथवा समुद्र-तटीय पदार्थ नारिकेल, सुपारी जैसे व्यापारको प्राप्त थे और उस समय व्यापार वस्तु-विनिमय ही था।

वनोंमें फल-जलकी सुविधा देखकर कोई कहीं टिक जाता था। मानव सहज अन्तर्मुख, उसे समाज—साथकी अपेक्षा नहीं थी और नहीं था कोई भय। जनसंख्या अत्यल्प। कई दिन चलनेपर कोई दूसरा मिल जाय तो सर्वेशकी महती कृपा।

शासकको केवल रुग्ण, उन्मत्त पशुओं एवं यदा-कदा अपवाद रूप किसी मनुष्यकी भी व्यवस्था करनी थी। अतिशय वृद्धोंमें देहका मोह तो होता नहीं था। अतः वे अनशन आदि उपायोंसे नियम-निर्वाहमें असमर्थ होनेपर स्वयं देहत्याग कर देते थे।

अतिवृष्टि-अकाल, अन्धड़-उत्पात्, सर्प-वृश्चिक, दंश-मशक, मूषक-टिड्डी, रोग आदि उत्पात् प्रकृतिमें मनुष्यके पापोंसे विकृति आनेपर उत्पन्न होते हैं। उस समय इनका नाम भी किसीने नहीं सुना था।

रोगी-आहत, अपंग-असहाय, अन्ध-वधिर कहीं सुने नहीं जाते थे। अवश्य बहुत कम मनुष्य थे धरापर; किन्तु जो थे, स्वस्थ, सुन्दर, सन्तुष्ट, सौम्यशील थे।

सत्वगुणप्रधान सतयुगमें क्रियाशीलता अत्यल्प थी। चाहे जो एकाकी काननमें ध्यानस्थ बैठा है और बैठा तो कौन कह सकता है कि वह कितने सप्ताह या दिन समाधिस्थ रहकर उठेगा। यही किसे पता था कि कितने क्षण पश्चात् वह पुनः बैठ जायगा किसी शिलापर पुनः ध्यान करने।

मुनि सुव्रत तो किशोर होनेसे भी पूर्व समाधिनिष्ठ हो गये थे। उस समयकी निर्मल मेधा शिशुओंको श्रुतधर सहज बना देती थी। पितासे पाँच वर्षकी अवस्थामें ही प्रणवकी दीक्षा मिली। गायत्री श्रवण की। बस, शिक्षा सम्पूर्ण। शेष तो स्वयं समाहित चित्तमें स्वतः प्रकट हो जाना था। आवश्यकता भी क्या थी उस तप एवं ध्याननिष्ठ समयमें किसी विशेष शिक्षा की।

यात्रा भी करनी ही पड़ती थी। जब किसी अन्तःकरणमें तत्त्व-जिज्ञासा उत्पन्न हो, उसे गुरुके अन्वेषणमें निकलना पड़ता था। वैश्य वस्तु-विनिमयके लिए यात्रा करते थे। क्षत्रियको यात्रा करते ही रहना चाहिये। उसे कहीं रक्षाका-सेवाका सौभाग्य ढूंढ़कर ही तो मिलना था।

कन्या किशोरी हो जाय तो कन्याके पिताको उसके लिए सुयोग्य वर ढूंढ़ने निकलना पड़ता था। महर्षि त्रित ऐसे ही अपनी कन्या लेकर यात्रा करने निकले थे। मुनि सुव्रतको उन्होंने देखा और उनके पिताश्रीसे प्रार्थना की। सुव्रतको पिताकी आज्ञा मानकर उस कन्याका पाणि-ग्रहण करना पड़ा।

महर्षि त्रित तो कन्या देकर चले गये। उस समय ब्राह्म-विवाह—कन्याके साथ कुछ सामान्य वस्तुएँ, वल्कलादि दिया और विवाह सम्पन्न। अब कन्याका भार उसपर जिसने उसका हाथ पकड़ा।

पुत्रने विवाह कर लिया—गृहस्थ हो गया तो पितापर उसका दायित्व नहीं रहा। वह अब अपना पृथक् आवास अन्वेषण करे। मुनि सुव्रतने उसी दिन पिता-माताको प्रणाम करके पत्नीके साथ यात्रा कर दी।

'देवि ! यह गिरि-गुहा तुम्हें और मेरी गार्हस्थ्य अग्निके लिए उपयुक्त आश्रय है।' वनमें एक छोटी सरिताके समीप सुव्रतजीने एक गुफा ढूंढ़ली और उनका कर्तव्य पूरा हो गया। अब गृहिणी जाने और उसका वह गुहा-गृह जाने। सुव्रत मुनि तो दो घड़ी पीछे ही सरिता तटपर एक शिलापर मृगचर्म बिछाकर बैठ गये ध्यानस्थ।

वनसे कन्द, फल, समिधा लाना पत्नीका कर्तव्य। प्रातः-सायं अग्नि-होत्र करके अग्नि-रक्षा भी उसीको करनी। वह गृहस्थ है, अतः उसका सबसे बड़ा कर्तव्य अतिथि-सत्कार उसे उसके पतिने निर्दिष्ट कर दिया है; किन्तु अतिथि तो कभी जगदीश्वर कृपा करके भेजेंगे तब सेवाका सौभाग्य मिलेगा। वह प्रतीक्षा ही तो कर सकती है। प्रतीक्षा तो उसे सप्ताह-के-सप्ताह करनी पड़ती है कि उसके आराध्य ध्यानसे उठें तो उन्हें कुछ फल-जल अर्पित कर सके।

'देवि ! तुमने अपने शरीरकी उपेक्षा करके मेरी सेवा की इतने वर्ष।' किसी सौभाग्यसे, किसी सुघड़ीमें मुनि सुव्रत फलाहार करके पुनः ध्यान करने नहीं बैठे। उन्होंने पत्नीके मुखकी ओर देख लिया। कृशकाय उस तपस्विनीपर दया आयी उन्हें। उन्होंने पूछ लिया—'तुम्हें क्या अभीष्ट है ?'

'देव ! बाल्यकालमें मातासे सुना है' उस गरिमामयीने नमितनयन, लज्जारुण मुख किसी प्रकार कहा—'नारीकी सफलता मातृत्वमें है।

'ओम् !' मुनि सुव्रतने स्वीकृति दे दी। पत्नीने यदि वह अवसर खो दिया होता— कौन कह सकता है कि मुनिको पुनः कभी पूछनेकी प्रवृत्ति होती भी या नहीं।

मुनिकी वह स्वीकृति सार्थक तो होनी ही थी। नौ महीने पश्चात् उसके अङ्कमें मुनि सुव्रतकी ही दूसरी नन्ही मूर्ति, वैसा ही सुन्दर, कमल-नेत्र कुमार आ गया। मुनिने उसका नामकरण किया सुभद्र।

सुभद्रको माताका सम्पूर्ण वात्सल्य मिला। वह बढ़ने लगा; किन्तु माताको उसके शैशवने सन्तुष्ट नहीं किया। एक मुनिकुमार और इतना चपल ! वैसे माताको अपने शिशुकी चिन्ता कम ही करनी पड़ती थी। वनके पशु और पक्षी तभीसे उसे घेरे रहने लगे, जबसे वह भूमिपर बैठने लगा।

'यह मृग या केशरी शावकोंको पकड़ लेता है। उनके ऊपर चढ़कर उन्हें संत्रस्त करनेमें भी संकोच नहीं करता।' मुनि पत्नीने अत्यन्त खिन्न-कण्ठ एक दिन पतिसे प्रार्थना की—'तनिक भी शान्त नहीं बैठता और अप्रक्षालित फल ही मुखमें नहीं लेता, सिंहनीके शिशुके साथ उसके स्तनमें भी मुख लगाकर मैंने इसे दुग्धपान करते देखा है।'

मुनि-पत्नीकी चिन्ताका कारण था। शैशवमें जो इतना चपल है, वह बड़ा होकर ध्यान कैसे करेगा ? जिसमें जन्मजात आहारके शुद्धाशुद्धिका विवेक नहीं है, वह तपोनिरत कैसे रहेगा ?

'मुझसे कहाँ प्रमाद हुआ ?' मुनि पत्नीको बहुत मर्मव्यथा थी। वे सम्भव हो तो अब भी कोई कठोर तप, अनुष्ठानादि करके अपने इस शिशुको सुसंस्कार देना चाहती थीं।

'देवि ! यह तो हमें धन्य करने आया है।' मुनि सुव्रतने ध्यान किया पुत्रके पूर्व संस्कार जान लेनेके लिए। उस समय सब प्रकारके ज्ञानको पानेका एकमात्र उपाय ध्यान था। भौतिक-दैविक, परोक्ष-अपरोक्ष सब ध्यानमें प्रत्यक्ष कर देनेकी शक्ति अब भी है; किन्तु अब वैसा सुस्थिर ध्यान जो सम्भव नहीं होता। उस समय तो वह सहज था।

'इसके कोई प्राक्तन कर्म देखनेमें मैं असमर्थ हो गया।' मुनिने नेत्र खोले और दो क्षण रुककर पत्नीसे कहा— 'सञ्चित, प्रारब्ध कुछ नहीं इसका। यह तो स्वेच्छासे तुम्हारे उदरमें आया। अतः इसे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं। कहाँसे आया—मैं भी असमर्थ हूँ जाननेमें। केवल इतना कह सकता हूँ कि किसी दिव्यधामसे आया होगा। भगवती आद्या सहज अनुकूला हैं इसपर। मेरी ध्यान-शक्ति भी इसके सम्बन्धमें अधिक आलोक नहीं दे पाती।'

'कोई हो, आपका अंश है।' माताने श्रद्धा भरित स्वरमें कहा— 'इसे आपकी पवित्रता तो प्राप्त ही है। केवल चञ्चल बहुत है। सम्भव है, समय इसे शान्त बना सके।'



सुभद्र–

अति शीघ्र सुभद्र अकेला हो गया। आजकी भाषामें कहना होता तो कहा जाता कि अनाथ हो गया; किन्तु सतयुगमें तो इस अनाथ शब्दका कोई अर्थ ही नहीं था। कोई सद्योजात शिशु भी माता-पिताहीन होकर अनाथ नहीं होता था। प्रकृति ही तब पालिका थी। पशु-पक्षीके शावक तक अनाथ नहीं होते थे तो मानव शिशु अनाथ कैसे बनेगा। सुर तब धरापर अपनेको धन्य मानते थे। मानवकी कृपा अपेक्षित थी उन्हें। किसी मानव-शिशुकी रक्षा करके वे अपना ही भविष्य उज्ज्वल करते; क्योंकि बड़ा होकर वह अपने रक्षकका प्रबल-पोषक ही तो बननेवाला होगा।

सुभद्रके पिताश्रीने मान लिया कि पुत्र उत्पन्न हो गया तो वे पितृ ऋणसे मुक्त हो गये। ऋषि-ऋण और देव-ऋणसे तब ब्राह्मण सहज मुक्त होता था। मोह तब सामान्य मानवके भी मनको मलिन नहीं बना पाता था, सुव्रत तो मुनि थे। उन्होंने अपनी ध्यान-शिलापर समाधि लगायी बिना उत्थानका कोई संकल्प लिये। निर्विकल्प समाधि निर्वीज हो तो शरीर केवल इक्कीस दिन ही तो टिकता है।

मुनि-पत्नी आराध्यके चरणोंपर प्रतिदिनके समान पुष्पाञ्जलि अर्पित करने आयीं प्रातःकाल, तो उन्हें अनेक अकल्पित बातें देखनेको मिलीं। उनके आराध्यके चारों ओर वन-पशु एकत्र थे। मृग, वाराह, गज, केशरी आदि सब और वे व्यथित लगते थे—रुदन करते-से। पक्षी बार-बार उड़ते थे और फिर नीचे बैठ जाते थे। उनमें भी चारा-चुग्गा ढूंढ़नेका उत्साह नहीं था। वे चीत्कार कर रहे थे।

पशुओंने मुनि-पत्नीको स्वतः मार्ग दे दिया। अनेकने उन्हें सूंघा और ऐसी चेष्टा की जैसे कोई अनुरोध करते हों। पक्षियोंका समूह चीत्कार कर उठा।

'क्या है ? क्या हुआ है तुम सबको ?' उन स्नेहमयीके सब शिशु ही थे। लेकिन पतिके समीप वे त्वरित पदोंसे पहुँचीं। पशु-पक्षियोंका अनवरत सङ्केत उसी ओर था। पहुँचकर भी ठिठक गयीं। उनके आराध्यके श्रीमुखपर तेज आज नहीं था।

समाधिमें शरीरमें ऊष्मा नहीं रह जाती। हृदयकी धड़कन एवं नाड़ीकी गति अवरुद्ध हो जाती है। निर्विकल्प समाधिमें स्थित योगीका शरीर-परीक्षण करके कोई कुशल चिकित्सक भी उसे मृत ही मानेगा; किन्तु पशु-पक्षी प्रकृतिके पुत्र होते हैं। उन्हें भ्रम नहीं हुआ करता। मुनि-पत्नीने पशु-पक्षियोंकी चेष्टा देखी, पतिका तेजोहीन मुख देखा, बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे देखने लगीं तो देखा कि कुछ चींटियाँ उस दिव्य देहपर चढ़ने लगी हैं।

'आपने इस दासीको अनुगामिनी बननेका सौभाग्य दिया !' केवल दो बिन्दु अश्रु गिरे नेत्रोंसे। मुनिपत्नी क्षणभरमें स्वस्थ हो गयीं। उनका मुख अपूर्व ज्योतिसे दीप्त हो गया। वहाँ कोई देखनेवाला नहीं था कि उनके पादतलसे कुंकुम झरने लगा है। वे जहाँ पादक्षेप करती हैं, वह भूमि अरुण हो जाती है।

उन्होंने स्वयं सरितामें स्नान किया और स्वामीका शरीर अङ्कमें उठाकर उसे स्नान कराया। उसी शिलापर, उसी मृगचर्मास्तरणपर उन्होंने उस शरीरको लिटा दिया। पुनः स्नान करके जलाञ्जलि दी पतिको।

उस देहको अङ्कमें लिये ही वे गुहामें आयीं। सब एकत्र समिधाएँ अग्निमें एक साथ अर्पित करके उस देहको अङ्कमें लिये उन दिव्याने अग्निमें प्रवेश किया। जिस अग्निकी निष्ठापूर्वक विवाहके दिनसे अब तक उन्होंने सेवा की थी, पतिदेहके साथ अपने शरीरकी भी उन्होंने अन्तिम आहुति दे दी।

पिता तो सदा से ममतासे रहित थे। उनमें अपने शरीरके प्रति ही राग नहीं था तो स्त्री-पुत्रके प्रति ममता कहाँसे होती। स्नेहमयी माताका भी यह अग्नि-प्रवेश सुभद्र शान्त देखता रहा। वह न रोया, न चिल्लाया और न उसने माताका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करनेका कोई प्रयत्न किया।

माता—उसकी जननी सामान्या नारी भी होतीं तो सतयुगकी नारी थीं। वैसे वे ऋषिकन्या थीं। मुनिपत्नी थीं। जैसे ही अनुमान हुआ कि उनके पतिने देहत्याग दिया, उसी क्षण उन्हें अपना शरीर और संसार

विस्मृत हो गया। अपने चार वर्षके दिगम्बर शिशु सुभद्रपर उन्होंने दृष्टि ही नहीं डाली।

माता-पिताका शरीर भस्म बन गया। सुभद्र गुहा-द्वारपर तब तक खड़ा रहा, जब तक गुहामें वह चिताग्नि धू-धू करके जलती रही। वह उस अग्निको ही देखता रहा। पता नहीं उस अग्निमें वह क्या देख रहा था। अग्निसे जब नन्हीं लपटें भी उठना बन्द हो गयीं, वह उसी गुहाके द्वारपर लेट गया। पता नहीं कब उसे निद्रा आ गयी।

पशुओंमें भी किसीने उस दिन आहार नहीं लिया था। पक्षी तक उपोषित थे। पशुओंका समूह सुभद्रको घेरे रात्रिभर जागता रहा और पक्षी समीपके वृक्षोंपर, शिलाओंपर ही बैठे रहे।

दूसरे प्रभातमें सुभद्र जागा। उसने सरितामें स्नान करना सीख लिया था। वह उठा तो पक्षियों, पशुओंका समुदाय भी सक्रिय हुआ। बहुत-से पशु वनमें दौड़ गये। अनेक पक्षी उड़ गये वनकी ओर।

सुभद्र—चार वर्षका दिगम्बर बालक सुभद्र स्नान करके उस गुफामें आया। अब तक चिताका एक अंश सुलग रहा था। जो भाग शीतल हो गया था, वहाँसे उस बालकने अपनी छोटी अञ्जलिमें भस्म उठायी और उसे लेजाकर सरिताके जलमें डाल दिया। आप इसे चाहे अस्थि-विसर्जन कहें या तर्पण।

बालक सरिताके प्रवाहपर फैलकर बहती उस भस्मको खड़ा देखता रहा—देखता रहा। फिर उसने सरितामें प्रवेश करके स्नान कर लिया।

वनमें गये अनेक पशु तथा पक्षी भी लौट आये थे या लौट रहे थे। सब कोई-न-कोई फल ले आये थे। सबने अपने वे उपहार बालकके सम्मुख रख दिये।

बालक सुभद्र वहाँ बना रहता तो ये पशु-पक्षी उसकी सदा सेवा करते रहते। वह तो इनके साथ खेलनेका अभ्यस्त था। ये पहिले भी उसे प्यार-दुलार देते रहे थे। वह इनमें अनेकके स्तनोंमें मुख लगाकर दूध पी चुका है। गज-भल्लूक उसे पीठपर बैठाकर अनेक बार दूर तक वनमें घुमा चुके हैं।

सुभद्र बालक सही; किन्तु मुनिकुमार था। वह आकाशकी ओर दृष्टि उठाकर इच्छा करता तो सुरोंमें-से अनेक और सुरराज भी उसकी

सेवामें तत्काल उपस्थित हो जाते। यह ठीक है कि वह गुहा अभी रहने योग्य नहीं थी; किन्तु सुभद्र दो घड़ी भी वहाँ बना रहता तो पशु-पक्षी ही गुहाको स्वच्छ कर देते।

यह सब कुछ नहीं हुआ। सुभद्रका उस गुहामें अब कोई आकर्षण नहीं रहा। उसने फिर उस ओर देखा ही नहीं। पशु-पक्षियोंके लाये फल कन्द भी उसने उठा-उठाकर उनको ही वितरित किये। उसके छोटे हाथोंका उपहार सबने स्वीकार कर लिया। व्याघ्र और केहरी तकने उसके करसे मिले कन्द मुखमें डाल लिये।

सुभद्र केवल तब तक रुका वहाँ, जब तक उसकी समझसे सब पशु-पक्षी नहीं आ गये और वह सबको कोई-न-कोई फल या कन्द नहीं दे चुका। वह नन्हा बालक अनजानमें ही माता-पिताकी यह अन्त्येष्टि नहीं कर रहा था, यह कर्मकाण्डका कोई धुरन्धर विद्वान भी कहनेका साहस करेगा ?

सुभद्रको वहाँसे चले जाना था; किन्तु यह बहुत कठिन था। कहाँ जाय वह ? किधर जाय ? उसने तो अब तक अपने माता-पिताको छोड़कर कोई दूसरा मनुष्य भी पृथ्वीपर कहीं होगा, यह जाना ही नहीं है। इस गुफा, इस छोटी सरिता और आसपासके वनके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं जानता। इन पशु-पक्षियोंके अतिरिक्त कोई परिचय उसका कहीं नहीं।

इतने छोटे बालकको पूर्व-पश्चिमका पता होता है ? अब तक माताके अङ्कमें और पशुओंके मध्य अथवा उनकी पीठपर ही रहा है वह।

अभी उसकी आयु ऐसी नहीं है कि इनमें-से कोई कठिनाई उसे आतङ्कित कर सके। उसने जाना ही नहीं कि भय, आशङ्का या कष्ट क्या होता है। लेकिन उसकी कठिनाई ये पशु हैं। ये उसे घेरे खड़े हैं और मार्ग देनेको प्रस्तुत नहीं हैं। यह उनको अपने नन्हे करोंसे कितना ठेले ?

अनेक-अनेक उसके सम्मुख लेट गये हैं। केशरी भी श्वानके समान उसके पैरों-में लिपट गया है। लेट-लेट जाते हैं ये व्याघ्र। वह तो इनको पुचकारकर भी हटा नहीं पाता है। इन सबके स्नेहका आग्रह; किन्तु वह मुनिकुमार है। उसका मन मोहसे असंस्पृष्ट। उसने यहाँसे चले जानेका निर्णय किया तो यहाँसे जायगा ही।

किसीके भी स्नेहाग्रहके साथ निष्ठुरता तो की नहीं जा सकती। पशु-पक्षियोंका स्नेहाग्रह, इस वर्गने बाधा दी तो सुभद्र सोचनेपर विवश हुआ। वह सिर झुकाकर सोचने लगा—'किधर जाय? क्यों जाय? कैसे जाय?'

सुभद्र केवल सतयुगका मुनिकुमार ही नहीं था। वह जन्मजात सिद्ध, जातिस्मर, और जब उसे स्मरण है कि कन्हाई उसका सखा, उसका अनुज है, तब उसके संकल्पमें बाधा देनेवाली शक्ति सृष्टिमें कहाँ है।

'यह संसार कौन बनाता है? क्यों बनाता है? कैसे बनाता है?' सुभद्रके मनमें प्रश्न उठा। सृष्टिकर्तासे ही मिल लेना उसे उचित लगा। इच्छा करते ही उसका शरीर वहाँ अदृश्य हो गया।

—●—

सृष्टिकर्ताके साथ-

अच्छा लगा सुभद्रको सृष्टिकर्ताका लोक। केवल एक बात उसे अटपटी लगी। कहीं कोई पशु-पक्षी नहीं। कोई उसका समवयस्क बालक नहीं।

वहाँ उसके पिताके समान जटाधारी ऋषि-मुनि थे। स्त्रियाँ बहुत थीं; किन्तु उसकी माताके समान तपस्विनी कोई नहीं दीखती थी। सब सुसज्ज थीं और वह इस शृङ्गारसे अपरिचित था।

उसने धरापर देखा ही क्या था; किन्तु इस अपरिचयने उसे चौंकाया नहीं। उसके अन्तर्ज्ञानको–संस्कारको–स्मृतिको (ठीक शब्द नहीं मिल रहा) जागृत कर दिया और जब उसे अपना गोलोक स्मरण आगया–ब्रह्मलोक बहुत दरिद्र, असंस्कृत-कुरूप, उपेक्षणीय लगा उसे। वह कुतूहलसे इधर-उधर देखता खड़ा रह गया। अवश्य धराकी जो स्मृति थी, उसके सम्मुख ब्रह्मलोक ऐसा था जैसे किसी जीर्ण झोपड़ीके सम्मुख राजसदन।

'तुम आ गये ?' चतुर्मुख, भगवान ब्रह्मा सोल्लास उठे–'उतनी दूर क्यों खड़े हो ? यहाँ अभी तुम्हारे अनेक परिचित निकल आवेंगे।'

'वत्स ! तुम मुझे तो पहिचानते हो।' देवी सरस्वतीने अंकमें उठाया तो वह सहज प्रसन्न हो गया–'अम्ब !'

'हाँ, वत्स !' वीणापाणि भगवतीने वीणा पृथक धर दी थी। उनके करकी स्फटिक माला भी स्खलित हो गयी–'यहाँ यह हंस तुम्हारा विनोद किया करेगा।'

अब उसने देखा कि एक खूब बड़ा, खूब उज्ज्वल हंस वहाँ है और वह समीप आ गया है।

'अम्ब ! आप कैलाशपर ....।'

'वहाँ मैं कभी-कभी ही देवी हिमवान-सुतासे मिलने जा पाती हूँ।' भगवती शारदाने बीचमें ही बालकको समझाया –'लेकिन उन सिंहवाहिनी और सिन्धुसुतासे भी मेरा अभेद है। तुम उमाके समान ही मेरे भी पुत्र हो

और पुत्रको मातासे माँगना नहीं पड़ता। मेरा स्नेह तुम्हारा स्वत्व है। तुम कहीं रहो, तुम्हारा यह स्वत्व तुम्हें सदा प्राप्त रहेगा।'

'बाबा! आप सृष्टि करते हैं?' बालक अब प्रतिभाकी देवीका आशीर्वाद पाकर ब्रह्माजीके पास आ गया—'कैसे करते हैं? आप तो कुछ करते नहीं दीखते। केवल कुछ क्षणको अभी अदृश्य हो गये थे। कहाँ गये थे आप? सृष्टि करने गये थे? सृष्टि करनेका आपका कोई कार्यालय अन्यत्र है? कहाँ है? मैं उसे देखूँगा? आप देखने देंगे?'

एक साथ बालकने ढेरसे प्रश्न कर डाले। अन्ततः बालक ही तो था।

'तुम कहीं जाना चाहो, कुछ देखना या करना चाहो तो तुम्हें मैं या मेरी सृष्टिका कोई रोक कैसे सकता है।' सृष्टिकर्ताका स्वर गद्‌गद हो गया था—'मैं अनुरोध करता हूँ कि जब तक मेरी सृष्टिमें रहनेकी इच्छा है, इसकी मर्यादा मानोगे तो मुझे अनुगृहीत करोगे।'

'मैं आपका और आपके नियमोंकी अवमानना नहीं करूँगा।' बालकने वचन दिया—'कुछ पटकूँ या तोड़ूँगा नहीं। ऊधमी तो कन्हाई है। वह कुछ करे तो आप उसे मना करना।'

'मैं उन्हें मना करूँगा?' ब्रह्माजीने मस्तक झुकाया—'मुझ जैसे असंख्य लोकस्रष्टा तुम्हारे द्वारपालकी दया दृष्टिके भिक्षुक रहते हैं; किन्तु तुम यहीं रह जाओ तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा।

'बाबा! मैं कहाँ रहूँगा, कन्हाई जानता है।' बालक अपने सहज स्वभावको कहीं छोड़ नहीं सकता—'किन्तु आपने तो बतलाया ही नहीं कि आप सृष्टि कैसे करते हैं? कहाँ करते हैं?'

'मैं कहाँ सृष्टि करता हूँ।' सृष्टिकर्ताने स्पष्ट स्वीकार किया—'मैं तो निमित्त हूँ। तुम्हारे सखा एक रूपसे सर्वेश्वर हैं। उन्होंने सब व्यवस्था ऐसी कर दी है कि किसीको कुछ करना नहीं है।'

'वे सर्वव्यापक हैं। चिद्‌घन हैं।' ब्रह्माजीने बतलाया—'मैं केवल सृष्टिके प्रारम्भमें कुछ प्रयत्न उनके प्रदर्शित पथसे करता हूँ। केवल प्रारम्भमें ही—पीछे तो सब अपने आप चलता रहता है। मुझे तभी कुछ करना पड़ता है, जब कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाय।'

'आप तब करते क्या हैं ?' बालकको विचित्र लगी यह बात।

'उन श्रीहरिका चिन्तन और उनके मंगलमय सुयशका श्रवण।' ब्रह्माजीके यहाँ गन्धर्व, अप्सराएँ आगयी थीं। अतः उन्होंने कहा—'तुम भी सुनो। तुम्हें बहुत प्रिय लगेगा।'

बालक सुभद्रको सचमुच वह संगीत बहुत प्रिय लगा। वह भगवद्-यश कीर्तन तन्मय होकर सुनता रहा।

ब्रह्मलोकमें क्षुधा-पिपासा तो है नहीं। स्वर्गके समान ऐन्द्रियक भोग भी नहीं। सदा तृप्ति, सन्तुष्टि और शान्ति। वहाँ यदि कुछ क्रिया है तो मात्र यह श्रीहरिके सुयशका संकीर्तन।

वहाँ वाणी-व्यवहार भी नाममात्रका। देवी सरस्वतीने बालकके मस्तकपर अपना दक्षिण कर रख दिया और उसे सृष्टिका रहस्य प्राप्त हो गया।

कर्म, कर्मसे संस्कार, संस्कारोंसे प्रारब्ध, प्रारब्धसे जन्म और संस्कार-भोग तथा नूतन कर्म। सृष्टिकी यह अनादि परम्परा। कर्म संस्कार-की अनन्त-अनवच्छिन्न धारा जैसे उसे प्रत्यक्ष दीख गयी।

चेतन तत्व सर्वव्यापक है, अतः अत्यन्त सूक्ष्ममें भी विद्यमान है। कहना यह उपयुक्त है कि सूक्ष्मतामें उसकी सन्निकटता बढ़ती जाती है, अतः चिच्छक्ति और शक्तिमत्ता भी बढ़ती जाती है।

विज्ञानकी भाषामें कहें तो प्राणियोंके रजवीर्यमें जो लाख लाख कीटाणु हैं, उनमें भी अनेक क्रोमोसोम और प्रत्येक क्रोमोसोममें करोड़ों जीन्स। इन जीन्सोंमें संस्कार-ग्रहणकी और उसे सैकड़ों पीढ़ियों तक सुरक्षित रखनेकी अकल्पनीय शक्ति है। विज्ञान भी अभी बतला नहीं पाता कि जीन्स कब, कैसे संस्कार ग्रहण करता है और किस समय कौन-सा संस्कार वह प्रकट करेगा या छिपाये रहेगा।

प्राणियोंके रंग, रूप, आकार—नख, केश, रोम, नेत्रादिकी सब बनावटकी रूपरेखा—मानचित्र जीन्समें और वह भी कितने और कैसे-कैसे मानचित्र, कोई कल्पना नहीं।

प्राणीको जाति, आयु, भोग (सुख-दुःख, यश-अयश, हानि-लाभ) देनेवाला प्रारब्ध या कर्म-संस्कारका प्रवाह अनादि और उसके संस्कारोंके वाहक जीन्सके बिना जन्म ही सम्भव नहीं उसका।

भगवान ब्रह्माको सृष्टिके प्रारम्भमें प्रयत्न करना पड़ता है। कश्यपजी-की विभिन्न पत्नियोसे उन्होंने मानव, दानव, देवता, नाग, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, प्रभृति सब उत्पन्न करनेकी व्यवस्था की। सृष्टिमें वैसी कोई विशेष परिस्थिति कहीं आ पड़े तब सृष्टिकर्ताको विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

'आप बीच बीचमें अदृश्य क्यों होते हैं?' बालकने संकीर्तन विरमित होनेपर पूछा—'आप तो इस सुयश-कीर्तनके मध्य भी कई बार अदृश्य हुए।'

'धरापर जब-जब श्रीहरि अवतार लेते हैं, मैं उनके दर्शनकर आता हूँ। उनकी अभ्यर्थना करता हूँ।' ब्रह्माजीने कहा—'सृष्टि मेरी है, मेरे गृहके समान। प्रभु पधारें तो मुझे स्वागत सेवामें प्रमत्त तो नहीं होना चाहिये।'

'इतने अल्प क्षणोंमें ही अवतार होते रहते हैं?' बालकको बहुत विचित्र लगा।

'तुम कालको सत्य मानकर मत बोलो।' ब्रह्माजीने कहा—'जैसे तुम्हारे गोलोकसे चले वहाँ अभी क्षणार्ध भी नहीं हुआ, वैसे ही इस लोकके क्षणोंमें धराकी चतुर्युगियाँ बीत जाती हैं।'

'तुम कालकी इस सापेक्ष स्थितिको समझते हो।' बालकको सोचते देखकर सृष्टिकर्ताने समझाया—'देवताओं, ऋषियोंका काल भी मर्त्यधराके कालसे भिन्न है।'

'मर्त्यधराका काल सबसे छोटा!' बालकने प्रसन्न होकर ताली बजायी। उसे मर्त्यधरापर केवल एक चतुर्युगी ही तो रहना है। तब वह इस बड़े कालवाले ब्रह्मलोकमें क्यों बैठा रहे।

'मनुष्योंके कालसे भी अत्यल्प काल धराके छुद्र प्राणियोंका है।' ब्रह्माजीने समझाया—'जितने समयमें एक दिन मनुष्यका बीतता है, उतने समयमें वहाँ अनेक छुद्र प्राणियोंकी कई पीढ़ियाँ बीत जाती हैं।'

बालकको बहुत छुद्र-प्राणियोंके कालमें कोई रुचि नहीं। उसे मनुष्यकी एक चतुर्युगी धरापर रहना है। उसे मानव कालसे प्रयोजन है।

'सब लोक--मेरी सृष्टिके सब लोक मेरे इस लोकपद्ममें ही स्थित है।' सृष्टिकर्ताने बालकसे कहा—'कालके समान देश भी सबके अपने-अपने हैं।

जैसे उदुम्बर फलके भीतर उत्पन्न पृथ्वीके सूक्ष्म प्राणियोंके लिए वह फल ही ब्रह्माण्ड है। देश भी कल्पित है। उसमें सूक्ष्मता-स्थूलताका ही तारतम्य है।'

'देशका यह सापेक्षत्व मैं देख चुका हूँ।' बालक सुभद्र अन्ततः पृथ्वीसे ब्रह्मलोक आया है।

'तुम यदि धरापर पुनः पधारनेसे पूर्व कुछ और लोकोंको अपनी चरण-धूलि देते जाते!' ब्रह्माजीने प्रार्थनाके स्वरमें कहा—'धरासे तो तुम्हारे अनुज तुम्हें अपने साथ ले जायेंगे। अन्य इस मेरे ब्रह्माण्डके लोकोंको यह सौभाग्य अभी ही मिले तो मिलेगा। मुझे उपालम्भ देंगे भगवान रुद्र और श्रीविष्णु भगवान भी, यदि तुम उनके यहाँ नहीं जाते।'

जो कर्म-परतन्त्र नहीं आया, जिसे कर्म आगे भी एक निश्चित सीमा तक ही भोग दे सकते हैं, वह अपना मानव-जीवन पृथ्वीपर प्रारम्भ कर देगा, तब भला और किसी भी भोग लोकमें क्यों जायगा?

'अम्बा भवानी और श्रीसिन्धु-सुताकी चरण-वन्दना तो मुझे करनी है।' बालकने कहा—'आपकी आज्ञा है तो लोकपालोंके भी दर्शन करके तब मर्त्यधरा जाऊँगा।'



प्रलयङ्करका प्रेम–

अनन्त विस्तार हिम प्रदेशका, जैसे सृष्टिकी सम्पूर्ण सात्विकता सघन हो गयी है। मध्यमें केवल एक वट वृक्ष और वह भी इतना विस्तीर्ण कि पृथ्वीपर कोई कल्पना न की जा सके। भारतवर्षका हिमालयका ही प्रदेश था वह। नन्दा और अलकनन्दासे घिरा हुआ; किन्तु मनुष्य वहाँ पहुँच भी जाय तो उसे हिम और शीतके अतिरिक्त क्या मिलता है।

भगवान रुद्र, उनका मणि-महालय, उनके गण, उनका वटवृक्ष ही क्यों, कुबेरकी अलकापुरी और उनके यक्ष भी तो मानव नेत्रोंके लिए अदृश्य ही हैं।

बालक भद्र—भद्र पृथ्वीकी गणनासे तो अनेक चतुर्युगीन वृद्ध है; किन्तु यह अमृतपुत्र धरासे चार वर्षकी आयुमें ब्रह्मलोक गया और वहाँ पूरे एक दिन भी तो नहीं रहा है। अभी दिगम्बर शिशु ही है। धराके कैलाशपर कुछ ऐसा नहीं था जो उसके लिए अदृश्य रहता।

भगवान रुद्रके असंख्य गण थे वहाँ और वे कैसे हैं, कहना नहीं होगा। लेकिन उनमें एकने भी बालकको डरानेका साहस नहीं किया। नन्दीश्वर जिसे प्रथम ही मस्तक झुकावें और गणाधिप जिससे मिलने दौड़ पड़ें, उसे गण केवल दूरसे प्रणति दे सकते थे।

'अम्बा तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रही हैं।' अपने पदोंमें प्रणत होते बालकको लम्बोदर गजवदन मंगलमूर्तिने आशीर्वाद देकर कहा—'पिताके समीप वे वटवृक्षके नीचे ही विराजमान हैं।'

'मैं तो स्वयं आ रहा था।' बालकका तात्पर्य था—'आपने कष्ट क्यों किया ?'

'तुम अम्बाके अङ्कमें पहुँचकर मेरी ओर देखना भी भूल जाओगे।' गणेशजीने सहास्य कहा—'सृष्टिकर्ताने मुझे प्रथमपूज्य पद दिया है और अनुज प्रमाद न करे, इसका भी दायित्व अग्रजपर ही होता है। इसलिए मैं अपने आप दौड़ आया कि तुम्हारा प्रथम प्रणाम मुझे प्राप्त हो जाय।'

'आप भी अद्भुत हैं।' बालक ताली बजाकर हँसा—'मैं कहाँ कोई शुभारम्भ करने जारहा हूँ कि आदिपूज्यको स्मरण करूँ। आप यह नहीं कहते कि अनुजका स्नेह आपको दौड़ा लाया।'

'तुम मेरे मूषकपर बैठोगे ?' गणेशजीको प्रसंग-परिवर्तन उचित लगा। वे बुद्धिके अधीश्वर जानते हैं कि कन्हाईके सखा कितने नटखट होते हैं। 'यह तुम्हें गिरायेगा नहीं और वेगपूर्वक दौड़ सकता है।'

'मूषक कोई अच्छा वाहन नहीं। इसे बिल दीखा तो प्रवेश करनेमें विलम्ब नहीं करेगा। आप ही इसपर अच्छे लगते हैं।' बालक कह गया—'मैं न मयूरपर बैठकर उड़ना चाहूँगा और न वृषभ मुझे बैठने योग्य लगता। बैठना ही होगा तो अम्बाका केशरी कहीं गया है ?'

'तुमको कोई अस्वीकार नहीं करेगा; किन्तु तुम यहाँ रुक गये तो देखो अम्बा स्वयं आ रही हैं।' गणेशजीने संकेत कर दिया।

'हाँ—अब ठीक है।' भगवती उमाने ललककर अङ्कमें उठा लिया तब बालकने गणेशजीकी ओर देखा—'मैं क्यों दूसरा वाहन बनाऊँ ? मुझे कहीं जाना होगा तो अम्बा अङ्कमें लेकर पहुँचा देंगी।'

'बहुत नटखट है।' उन शैलसुताने सहास्य कहा—'मुझे वाहन बना रहा है।'

बालकको कोई कौतूहल नहीं था वहाँके मणि-सदनको देखनेका। वटवृक्षके समीप पहुँचते ही स्वयं अम्बाके अङ्कसे उतरकर उसने भगवान नीलकण्ठके चरणोंपर मस्तक रखा।

'कल्याणमस्तु !' उन आशुतोषने अपना अभय कर उसकी अलकोंपर रखा।

'बाबा आप तो बहुत अच्छे हैं' बालकने पूछा—'क्यों लोग कहते हैं कि आप भयानक हैं और प्रलय करते हैं ?'

'भयानक तो मैं हूँ। मेरे तीन नेत्र जो हैं।' भूतनाथ प्रभु सस्मित कह रहे थे—'कहीं उत्सव हो जाता है या मेला समाप्त होता है तो अन्तमें वहाँ स्वच्छता आवश्यक हो जाती है। सृष्टिका महोत्सव समाप्त हो जाता है तब मैं स्वच्छ कर देता हूँ देश और कालको भी।'

'तब सदा संहार कौन करता है ?' बालकने इधर-उधर देखा। उसे तो त्रिशूल भी दूर गड़ा दीखा। संहार-मृत्युका कोई भी उपकरण तो वहाँ नहीं था।

'मैंने भूत-प्रेत, प्रमथ-पिशाच सृष्टिके प्रारम्भमें ही बना दिये। रोग-व्याधिके सब देवी-देवता मेरे गणोंमें हैं।' भगवान नीलकण्ठने कहा—'इनको भी कह दिया है कि बहुत उत्पात न करें। केवल तब इनको सक्रिय होनेका अवकाश है, जब प्राणी प्रमाद करे। लेकिन प्रमादहीन रहकर कोई ही अमरत्वको प्राप्त कर पाता है। अधिकांश तो परमायुसे भी पूर्व स्वयं मरण-शरण होते हैं।'

'बाबा ! तुम तो समाधिमें ही बैठे रहते हो।' बालकने कुछ नहीं पूछा।

जन्मके साथ मृत्यु लगी है। सक्रियताके साथ ही संक्षय है। अणु उत्पन्न होनेके साथ शक्तिका उत्सर्ग करने लगता है।' प्रभुने स्वयं समझाया—'मृत्यु एक दिन नहीं आती। वह तो कण-कणके साथ क्षण-क्षण लगी है। मैंने अपने सब गणोंको संकेत कर दिया है कि इन्हें शीघ्रगामी नहीं होना चाहिये। तमोगुणी होनेसे ये सब वैसे भी सुस्त हैं। सृष्टिकर्ताकी सृष्टि गतिसे मन्दपद ये न चलें तो सृष्टि बची कैसे रहेगी।'

'आप यहाँ रहते हैं अम्बाके साथ ?' अब बालककी दृष्टि चारों ओरके हिम-प्रदेशपर गयी।

'यह तुम्हारी अम्बाका पितृगृह है।' श्रीचन्द्रचूडने भगवती उमाकी ओर देखा—'भारत धरापर इन्होंने काशीमें आवास बना लिया है और अधोलोकोमें-से एक लोक ही है। वैसे इलावर्त....'

'आप बालकको क्यों व्यर्थ भटकनेको उत्सुक बनाते हैं।' देवीने बीचमें ही किञ्चित् लज्जापूर्वक कहा। अन्ततः इलावर्त पुरुष-प्रवेश वर्ज्य प्रदेश है। साम्ब-शिवकी विहार भूमि और अधोलोक वितल भी। बालक कहीं मचल पड़ा—इसे न वारित किया जा सकेगा और न शापकी शक्ति इसका स्पर्श करेगी।

'तुम एक भ्रममें दीखते हो।' भगवानने प्रसंगान्तर किया—'तुम जिन महेश्वरसे परिचित हो, जो तुम्हारे गोलोक पधारते हैं, मैं उनसे

अभिन्न होकर भी उनका अंश हूँ। उन निखिल ब्रह्माण्ड विधायकका छुद्र अंश। केवल इस वामन ब्रह्माण्डका रुद्र।'

'इन ब्रह्माण्डोंके भी नाम होते हैं ?' बालकको कुतूहल हुआ।

'जब अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तो तुम्हारे सखा बिना नामके उन्हें कैसे पहिचानेंगे।' बालकको यह बात ठीक लगी। बहुत गायोंमें भी किसीको पुकारनेके लिए उसका नाम लेना पड़ता है। नाम तो उसके सखाओंके भी हैं। 'लेकिन इस ब्रह्माण्डका नाम केवल मुझे ज्ञात है। सम्भव है ब्रह्माजीको भी ज्ञात हो और विष्णु भगवान तो इस नामकरणके कारण ही हैं। वामनावतारमें विराट् बनकर उन्होंने इतना ऊपर चरण बढ़ाया कि उनके पादांगुष्ठके नखाघातसे ब्रह्माण्डका बाह्यावरण तनिक फट गया। उसीसे तुम्हारे दिव्यलोकका ब्रह्मद्रव इस ब्रह्माण्डमें आकर सुरसरि कहलाया। वामनके नखसे आवरण फटनेसे ब्रह्माण्डका नाम वामन पड़ा।'

'आज तो समाधिमें नहीं बैठे आप ?' बालकके प्रश्नोंमें क्रम कहाँ होता है।

'समाधि तो इनका सहज स्वरूप है।' इस बार अम्बा बोलीं—'संहारकी केवल प्रलयकाल आनेपर सूझती है। एक साथ सब मिटा देते हैं; लेकिन समाधि वहाँ दीर्घकालीन होती है। जब-जब श्रीहरि पृथ्वीपर पधारते हैं....।'

ब्रह्माजीके समान प्रभु भी कुछ क्षणोंके अन्तरसे यहाँ अदृश्य होते रहते हैं ?' इस बार बालक बीचमें ही पूछ बैठा।

'अकेले तो बहुत कम जा पाता हूँ।' भगवानने कहा—'मैं अर्घ-नारीश्वर हूँ। अत: तुम्हारी ये अम्बा प्राय: साथ जाती हैं और अनेक बार उत्सुक गणोंको मैं रोक नहीं पाता।'

'इन भूत-प्रेतोंको आप क्यों पालते हैं ?' बालकका यह प्रश्न सम्भव है आपका प्रश्न भी हो।

'इनको कहीं तो शरण चाहिये।' आशुतोष करुणामयने कहा—'इनके आकार और स्वभाव किसीको भी प्रिय नहीं लगते। कोई इन्हें प्रसन्नतापूर्वक समीप नहीं रखना चाहता।'

'बाबा ! आपका एक गण था न, वह बड़ा भारी कूष्माण्ड ?' बालकको अकस्मात् इस चर्चामें स्मरण आ गया।

'गण तो वह महेश्वरका बन चुका था।' उन दयामयका स्वर भी रूक्ष होगया—'तुम उसकी चर्चा और स्मरण मत करो। उसे भटकने दो इस ब्रह्माण्डके भुवर्लोकमें।'

'तुमको भगवान नारायणके भी तो दर्शन करने हैं!' भगवान शंकरको लगा कि यह सुकुमार यहाँसे सीधे भुवर्लोक भी दौड़ जा सकता है, अतः यह चर्चा उठा दी 'तुम उनसे कहाँ मिलोगे ?'

'कहाँ मिलेंगे वे ?' बालकने पूछा।

'केवल ब्रह्माजी अपने लोकमें रहते हैं।' भगवान विश्वनाथने बतलाया—'जैसे मैं यहाँ, काशी, इलावर्त और वितलमें भी रहता हूँ, वैसे भगवान विष्णुके भी कई लोक हैं। रमाबैकुण्ठ, क्षीरसागर, पाताल, श्वेतद्वीप और सूर्यमण्डल।'

'मैं सब देखूँगा।' बालककी उत्सुकता उसकी अवस्थाके अनुरूप ही थी। वह तो उसी क्षण उठ भी पड़ा।



देवर्षि दीखे—

'अच्युतं केशवं रामनारायणं
कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं
जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥'

सुभद्रको चौंकनेका भी अवकाश नहीं मिला। वीणापाणि देवर्षि नारद उसके सम्मुख आकर खड़े होगये। ऐसा लगा कि ज्योतिराशि ही सघन होकर देवर्षिकी देह बनी है।

वहाँ न कोई आधार था और न उसे आकाश ही कह सकते। अन्तरिक्ष अधिकतम उपयुक्त शब्द है।

'भगवन्! यह कौन-सा लोक है?' सुभद्रने प्रणाम करनेके अनन्तर पूछा। जब देवर्षि वहाँ हैं तो कोई लोक होना चाहिये।

'कोई लोक नहीं।' देवर्षि सस्नेह बोले—'वत्स! जो दीख पड़े वह लोक (लोक्यन्तेऽति लोकाः) लेकिन यहाँ तुमको मेरे अतिरिक्त कुछ दीख पड़ता है?'

'हम दोनों शून्यमें हैं?' सुभद्रके प्रश्नका अर्थ था कि शून्यमें हमारी स्थिति कैसे सम्भव हुई?

'शून्य कहीं कुछ नहीं है।' देवर्षिने समझाया—'निर्गुण निराकार निर्विकार परम ब्रह्म ही परिपूर्ण है, अद्वितीय है; किन्तु निर्गुणमें अन्य सत्ता सम्भव नहीं। अपनी अचिन्त्य योगमायासे वही सगुण-निराकार भी है। उसीमें सविशेष सत्ताकी प्रतीति होती है। तुम इस प्रकार समझो कि हम दोनों ईश्वरमें हैं।'

'ईश्वरमें हैं?' बालक सुभद्र ठीक समझ नहीं पारहा था।

'यहाँ मायाकी तो सत्ता नहीं है। मायाका ही दूसरा नाम प्रकृति। उससे उत्पन्न, उससे स्थूल महत्तत्त्व और उससे स्थूल अहं-तत्त्व। इस अहंके तामसांशसे व्योम।' देवर्षिने कहा—'तुम व्योमको ही अन्तरिक्ष कहते हो।'

'हम ईश्वरमें कैसे हैं?' बालक अभी भी समझ नहीं पा रहा था।

'तुम जैसे कैलाशमें भगवती उमाके अंकमें थे और वहीं तुम्हें कुछ

दूर ले गयी थीं, देवर्षिने सीधा ढंग अपनाया--'वैसे ही हम दोनों ईश्वरमें हैं। वही हमारा आधार है और हम जैसा चाहते हैं, वैसा हमें प्रतीत करा देता है।'

'हूँ, तब यह कन्हाई है।' बालक हँस पड़ा--'इतना नटखट वही है कि पास रहकर भी छिपा रहता है। खटखुट भी करता रहता है और अपना पता भी नहीं लगने देता।'

'है तो वही; किन्तु निराकार बना हुआ है।' देवर्षिने कहा—'हम-तुम दोनोंके देह, हमारी सत्ता भी वही है।'

'मेरा देह भी ?' सुभद्रने अपना उदर छूकर देखा।

'तुमने जब पृथ्वीसे ब्रह्मलोक पहुँचनेकी इच्छा की, तुम्हारा वह प्राकृतिक-पाञ्चभौतिक देह तो अणुओंमें बिखरकर अदृश्य हो गया।' देवर्षिने कहा—'तुम्हें तत्काल यह दिव्य देह मिला। इसमें न क्षुधा-पिपासा है, न श्वास-प्रवास है। इस चिन्मय वपुमें व्यवहारकी केवल प्रतीति है।'

'हम किस देशमें यहाँ हैं ?' बालकने फिर पूछा।

'ईश्वरमें हैं।' देवर्षिने फिर वही उत्तर देकर समझाया—'देश और काल मुझे विवश नहीं करते। इस समय तुम भी मेरी ही स्थितिमें हो। हम दोनोंका देश-काल हमारी इच्छाके वशमें है। जहाँ जिस देश-कालमें उपस्थित होना चाहेंगे, उसमें ही अपनेको देखेंगे, तब उसदेश-कालमें स्थित लोगोंके साथ व्यवहार कर सकेंगे।'

'मैं पुनः पृथ्वीपर लौट जाना चाहूँ तो ?' बालकने जिज्ञासा की।

'लौट सकते हो; किन्तु केवल दो प्रकारसे।' देवर्षिने समझाया—'इस दिव्य देहसे धरापर जाओगे तो केवल शुद्ध सात्विक अधिकारी ही तुम्हें देख सकेंगे। उन्हींसे सम्पर्क हो सकेगा। वह भी अधिक समय बनाये रखना तुम्हें स्वयं अप्रिय होगा। तुम्हारी वहाँ उपस्थिति सृष्टिकर्ताके विधानमें व्याघात ही बनेगी।'

'यह मैं नहीं करूँगा।' ब्रह्माजीको दिये अपने वचन वह विस्मृत नहीं हुआ है।

'तब किसी सत्पुरुषके वीर्यका आश्रय लेकर किसी माताके उदरसे जन्म लेना पड़ेगा।' देवर्षिने स्पष्ट कहा—'पाञ्चभौतिक देह प्राप्त करनेकी यही प्रक्रिया है। यद्यपि उस देहमें भी तुम्हारी अधिकांश दिव्य शक्तियाँ

तुम्हारे पास रहेंगी । जब तक तुम वहाँ कहीं आसक्त नहीं होते, तुम स्वतंत्र हो । कर्म तुम्हें परतन्त्र कर नहीं सकता । लेकिन तुम तो नारायणके समीप जाना चाहते हो ?'

'नारायण सदा जलमें ही डूबे रहते हैं ?' बालकको स्मरण आया कि नार शब्दका अर्थ जल है ।

'मेरा नाम भी तो नारद है । तुम्हें क्या आशा है कि मैं लोगोंको पानी पिलाता घूमता होऊँगा ?' नारदजी हँसे—'नारका दूसरा अर्थ ज्ञान है । मैं ज्ञानदाता होनेसे नारद हूँ और विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ज्ञानैकगम्य होनेसे भगवान नारायण हैं ।'

'वे पानीमें नहीं रहते ?' बालकको देवर्षि की व्याख्या प्रिय तो लगी; किन्तु वह पूरा स्पष्टीकरण चाहता था ।

'वे क्षीराब्धिशायी हैं—गर्भोदशायी हैं और उनका श्वेतदीप भी समुद्रके मध्यमें ही है । शेषशायी बनकर पातालमें भी वे सागरमें ही रहते हैं ।' नारदजीने कहा—'किन्तु वे रमावैकुण्ठ विहारी भी हैं और सूर्यमण्डल-में तो वे अग्निके भीतर आसन लगाये हैं ।'

बालक सोचने लगा कि इनमें-से वह पहिले कहाँ जाय; क्योंकि एक बार इन सब रूपोंमें श्रीहरिको देखनेका संकल्प उसका अभी शिथिल नहीं हुआ था ।

'तुम चाहो तो श्वेत द्वीप मेरे साथ चल सकते हो ।' देवर्षिने स्वयं प्रस्ताव किया 'मुझे तो घूमते रहनेका व्यसन है । कहीं किसी एक स्थानपर मैं केवल दो घड़ी रुक पाता हूँ । मुझे दक्षके शापने परिव्राजक बना दिया है ।'

'आप मुझे सब विष्णुलोक और दूसरे लोक भी घुमा नहीं देंगे ।' बालक ठीक सोचता है कि जब देवर्षिको घूमते ही रहना है तो इनका साथ क्यों न कर लिया जाय ।

'इससे तुम्हारी यात्रा अपूर्ण रह जायगी ।' देवर्षिको एकाकी रहना प्रिय है । वे क्यों किसीको साथ लगावें—'तुम्हें उन लोकोंको सहज स्थितिमें देखनेका सुयोग नहीं मिलेगा । सबको मेरा सत्कार करनेकी पड़ती है, जब मैं किसीके यहाँ पहुँचता हूँ ।'

'उन्हें मेरा समाधान करनेका भी अवसर नहीं मिलेगा ।' बालकको भी एकाकी यात्रा ही उत्तम जान पड़ी । देवर्षिके साथ वह केवल श्वेतद्वीप जायगा ।



विष्णुकी व्यापकता—

आपने सुना है—

'शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेद् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥'

श्वतेवर्ण, चतुर्भुज, श्वेत वस्त्रधारी स्वयं भगवान और उनका निवास श्वेतद्वीप। श्वेत भी सब हिम या कपास जैसा नहीं। सब ज्योतिर्मय, सुखद, शीतल ज्योति। उसमें आकृतिकी प्रतीति केवल ज्योतिके तारतम्यसे।

सब शान्त। ऐसा शान्त जैसे निष्क्रियप्राय हो। केवल विशुद्ध सत्त्वगुणका घनीभाव! एकमात्र उपासना ही वहाँका जीवन। प्रेम ही वहाँ प्राण। श्रीनारायणके साथ वहाँ लक्ष्मी भी नहीं।

वहाँ बोलने, चलनेकी जैसे प्रवृत्ति भी है तो स्तवन, परिक्रमा मात्रके लिए और अनन्त गाम्भीर्य लिये।

देवर्षि वहाँ पहुँचते ही शान्त हो गये। मूक हो गयी उनकी वीणा। वे अपलक स्थिर दर्शन करते रहे। वहाँ वे जब आते हैं, दर्शन ही करने आते हैं। यहाँ आकर बोलनेकी वृत्ति ही नहीं रह जाती।

सुभद्र न धराका और न ब्रह्मलोकका। यह बालक गोलोकका। अतः इसपर जैसे कहींका प्रभाव पड़ता ही नहीं। इसका सहज स्वभाव आच्छन्न नहीं होता।

'बाबा! यहाँ दधिभाण्डमें तैरती नवनीतकी बूँदों जैसे ही सब हैं?' नारदजीका हाथ हिला दिया उसने—'केवल चमकती बूँदें लगते हैं।'

'वत्स!' जलदगम्भीर स्वर सुन पड़ा। जैसे अमृत ही स्वर बन गया हो। देवर्षि तो मौन शान्त खड़े थे; किन्तु बालकको भगवान नारायणने स्वयं उठकर अपनी विशाल भुजाओंमें उठा लिया।

'बाबा! आप?' बालकको लगा कि उसे प्रणाम करना चाहिये था; किन्तु अब तो वह अंकमें पहुँच चुका था।

'सृष्टिकर्ता और प्रलयङ्करके समान पालक कोई व्यवस्था करके पृथक नहीं बैठ सकता।' भगवानने स्वयं समझाया—'पालनकर्ताको सदा

साथ रहना पड़ता है। अतः मैं प्रत्येक अतःकरणमें अन्तर्यामी रूपमें रहता हूँ। पल-पल सम्हालता रहता हूँ प्रवृत्तिके क्षेत्रमें प्राणीको।'

'यहाँ आप कुछ करते हैं?' बालकका स्वभाव तो तुम कहनेका है; किन्तु ये शशिवर्ण नारायण उसे अपरिचित लगते थे। इनसे संकोच होता था उसे।

'यह समष्टिके विशुद्ध अन्तकरणको तुम देख रहे हो।' नारायण भगवान्ने बतलाया—'विशुद्ध होनेपर सत्त्व श्वेत ज्योतिर्मय होता है। अत्यन्त बिशुद्ध अन्तःकरण प्रेमैक प्राणोंका मैं यहाँ पोषण करता हूँ। लेकिन तुम्हें मेरे प्रतिपालक रूपको देखना है, तब सूर्यमण्डलमें उसका साक्षात् करो।'

सुभद्रको पता नहीं कि देवर्षि कब तक श्वेतद्वीपमें वैसे ही स्थिर खड़े रहे। उसे श्रीनारायणके अङ्कसे उतरनेका भी अनुभव नहीं हुआ। उसे लगा केवल यह कि उसके चारों ओर अत्यन्त प्रचण्ड तेज—अत्युग्र ज्वाला है। ऐसी ज्वाला जिसमें पाषाण, लौह पलक झपकते भस्म हो उठे; किन्तु उसे वह उष्णता सुखद लगती है।

वह अब भी नारायणके अंकमें ही है; किन्तु नारायण गगननील, विद्युद्वसन चतुर्भुज हैं। ये कमललोचन अरुणपद्मपर आसीन हैं उसे अंकमें लेकर। ऐसा लगता है कि ये किसी रथपर बैठे हैं। इनका अत्यरुण सारथी इनके आगे बैठा है।

'वत्स! उष्णता ही जीवन है।' भगवानने कहा—'गति, शक्ति, प्रकाश उष्णताके ही पर्याय हैं। सृष्टि रहेगी ही नहीं, यदि रजोगुण उसे सक्रिय न रखे। शुद्ध रजसका केन्द्र यह मेरा सूर्यमण्डल।'

'बाबा! सुना कि आपके इसी धामसे प्राणी मुक्त होता है।' बालकने पूछा—'कौन आते हैं यहाँ आपके समीप?'

'निरुद्धवृत्ति समाधिसे शरीर त्याग करनेवाले योगी और धर्मयुद्धमें सम्मुख मरणको वरण करनेवाले शूर।' भगवान् सूर्य नारायणने समझाया—'देहासक्ति ही बन्धन है। शरीरकी आसक्तिका मूलोच्छेद हो गया तो मनुष्य मुक्त तो हो ही गया। यहाँ आकर उसका आकारका मोह भी भस्म हो जाता है।'

'मेरा ही एक नाम हिरण्यगर्भ है।' भगवान सूर्यने स्वयं बतलाया -- 'मेरे इस मंडलका ही एक पृष्ठ ब्रह्मलोक है। तुम मेरे समीप वहाँ पहुँच चुके हो। सृष्टिमें जीवनकी सृष्टि मेरी रश्मियोंकी उष्णता ही करती है और मैं यहाँ इस रूपमें अपनी ऊष्मासे पोषण करता हूँ। प्राणियोंके नेत्रोंका अधिदेवता होकर उन्हें प्रकाश देता हूँ '

'इतना तेज, इतना उग्र प्रकाश?' बालकको सन्देह हुआ।

'तुम ठीक सोचते हो।' सूर्य भगवानने कहा---'प्रलयङ्कर भी मैं ही हूँ। रुद्रलोक मेरा दूसरा पृष्ठ है। रुद्र भी मेरा ही रूप है। मैं उन शिवकी एक मूर्ति हूँ; किन्तु वह रूप पूर्ण सक्रिय प्रलयके समय होता है। सृष्टिके सञ्चालन-पालनके लिए ऊर्जाका उद्गम हूँ मैं और अर्जा उग्रतेजका ही दूसरा नाम है।'

'तुम्हारे सुकुमार शरीर और नवनीत मृदुल स्वभावके अनुरूप यह लोक नहीं है।' भगवान् सूर्यने स्वतः इसे लक्षित किया था, अतः कहा— 'तुमको क्षीराब्धि प्रिय लगेगा। वहाँ तुम सिन्धु-सुताका स्नेह प्राप्त कर सकोगे।'

'अम्बा यहाँ भी नहीं हैं?' बालकने पूछना चाहा था; किन्तु उसे अवकाश नहीं मिला। उसे अन्यत्र भेजनेसे पूर्व केवल वात्सल्यसिक्त भगवान् सूर्यने कहा था --'धरापर तुम मेरे कुलमें आओगे तब मैं ही तुम्हें तुम्हारे सखाके समीप पहुँचानेको प्रेरणा-माध्यम बनूंगा। निखिल बुद्धिवृत्तिका मैं प्रेरक हूँ, यह शक्ति सार्थक हो जायगी तुम्हें प्रेरित करके।'

'आहा!' बालक उल्लसित हो उठा अनन्त अपार दुग्धसिन्धु देखकर। उत्ताल तरंगायमान क्षीरोदधिके अन्तरालसे स्निग्ध ज्योति जैसे प्रकट हो रही थी।

वहाँ अपार विस्तीर्ण सौध था; किन्तु उसे दुग्ध तरंगोंने ही निर्मित किया था। उसमें तरंगें ही भूमि, स्तम्भ, छत आदि सब थीं और उस सौधमें सज्जा थी। कहना कठिन था कि ज्योतिर्मय मुक्ता-लड़ियाँ लटक रही थीं या नवनीतके उज्ज्वल बिन्दु सजे थे।

कमलतन्तु श्वेत सहस्र फण उठाये भगवान् शेष स्थिर थे। उनके मस्तककी मणियोंके प्रकाशसे दुग्धराशि अत्यधिक उज्ज्वल हो रही थी।

उस दुग्ध सौधमें, उन उज्ज्वल शेषकी सुदीर्घ कुण्डलीभूत देहपर

एक घनश्याम, पीताम्बरधारी, रत्नमुकुटी, चतुभु ज मन्द-मन्द मुस्कराते चरण फैलाये आधे लेटे थे।

'अम्ब !' उन परमपुरुषके प्रफुल्ल पद्म पादारविन्दोंको अङ्कमें लिये जो सौन्दर्य, सौष्ठव, सौकुमार्यकी अधिदेवता सिन्धुसुता विराजमान थीं, उन्हें देखते ही बालकने पुकारा और भुजाएँ फैलाकर दौड़ा उनकी ओर।

'वत्स !' उन श्रीने भी परमपुरुषके चरण अङ्कसे नीचे रखे और ऐसे दौड़ीं दोनों कर फैलाये जैसे केवल आतुर जननी दौड़ सकती है।

'तुमने मुझ अजातपुत्राको पुत्रवती बनाया।' उसे अङ्कमें लेकर सिन्धुतनयाकी वाणी गद्‌गद हो उठी। उनका वक्षावरण भीगने लगा वात्सल्यकी धारासे। उन्होंने ही उसका मस्तक शेषशायीके श्रीचरणोंसे स्पर्श कराया।

'बाबा ! तुम यहाँ दूधमें सोते हो ?' बालकको यहाँ तनिक भी संकोच नहीं लगा। उसे लगता था कि उसका नटखट कन्हाई ही यहाँ इतना बड़ा बनकर लेट गया है। उन अनन्तशायीका श्रीअंग अनेक स्थानोंपर दुग्ध एवं नवनीत विन्दु पड़नेसे चन्दन-चर्चित लग रहा था। बालक सहज भावसे शेषकी कुंडलीपर आगे बढ़ गया और उदर देशपर पड़ी नवनीतकी बूंदको अपने नन्हें करसे फैलाता बोला।

'यह किञ्चित् रजोमिश्रित सत्वधाम है।' अनन्तशायी समझाने लगे स्नेहपूर्वक—'सृष्टिके सब शिशुओंको उत्पन्न होनेके साथ दूध चाहिये। उनकी माताओंके स्तनोंमें दूध उनका स्नेह बनता है। यह सागर उस वात्सल्य स्नेहकी समष्टि और शिशु बड़े होते हैं, तब उन्हें शोभा, सम्पत्ति, सुयश देकर पालन करनेवाली तुम्हारी ये अम्बा।'

'करते सब ये आदिपुरुष हैं।' भगवती श्रीने कहा—इनका अनुकम्पापूर्ण दृष्टिपात पाये बिना मैं कुछ कर नहीं पाती। वैसे ये सहज निष्क्रिय ही दीखते हैं।'

पुरुष तो भोक्ता ही रहता है। लेकिन उसका भोक्तापन भी भ्रम है। वह केवल द्रष्टा है। उसकी प्रसन्नताके लिए परमेश्वरी प्रकृतिका सम्पूर्ण सम्भार है।

'अनन्त ब्रह्माण्डोंके पालनमें तुमको श्रम नहीं होता ?' बालकने श्रीकी ओर देखा।

'ये परमपुरुष और मैं भी केवल इस ब्रह्माण्डके पालक-पदपर हैं।' रमाने स्नेहपूर्वक कहा---'तुम परम पालकके समीप भी पहुँच सकते हो। हम तो उनके अंश हैं।'

बालकको कुछ विशेष अनुभव नहीं हुआ। वह क्षीराब्धिशायीके समीपसे गर्भोदशायी महाविष्णुके समीप पहुँच गया है, यह भी उसने अनुभव नहीं किया। उसने ध्यान ही नहीं दिया कि अब तक जिनके समीप है वे अष्टभुज हैं।

अवश्य ही वहाँ सूर्यमण्डलसे भी अनेक गुणित अधिक प्रकाश है; किन्तु वैसा उग्र नहीं। बहुत सौम्य, शीतल भी नहीं श्वेतद्वीपके समान और उग्र भी नहीं।

'अम्ब !' बालकने उन भूमापुरुषके चरणोंके समीप आसीना सिन्धुतनयाकी ओर देखा—'तुम इन परमपुरुषके समीप ही बैठी रहती हो ?'

'मैंने कभी तुम्हारी उपेक्षा की है ?' भगवती श्रीने स्नेहपूर्वक देखा—'मैं तो इनसे पराङ्‌मुखोंकी भी उपेक्षा नहीं करती। लेकिन मेरी प्रीतिका प्रसाद पीड़ा तो नहीं होना चाहिये।'

'अम्ब, तुम किसीको पीड़ा दे कैसे सकती हो।' बालकको अपनी दयामयी अम्बापर विश्वास है---'तुम तो केवल स्नेहमयी हो।'

'क्या करूँ, बालक मचलते हैं तो मुझसे देखा नहीं जाता। मैं दौड़ जाती हूँ उन तक। इसीसे इन्होंने मेरा नाम,चञ्चला रख दिया है।' परम-पुरुषकी ओर तनिक कटाक्षपूर्वक देखा उन सिन्धुतनयाने --'लेकिन वे अज्ञ मेरे प्रसादका दुरुपयोग करते हैं। ऐन्द्रियक भोगमें लगकर रोग, अशान्ति, अध:पतनको आमन्त्रण देते और भवमें भटकते हैं।'

'इसीसे मैं इनका प्रसाद सम्पत्ति अपने प्रिय जनों तक कम ही पहुँचने देता हूँ। तुम तो जानते हो कि इनका वाहन उलूक है।' इस बार परम पुरुष सहास्य बोले— इनकी कुछ खटपट है भगवती वीणाधारिणीसे। अत: ये जाती हैं तो अहंकार दे आती हैं और वे दिव्या दूर चली जाती हैं।'

'अम्ब ! आप दौड़ दौड़कर इतना शान्त होती हैं।' बालकमें अपनी अम्बासे सहानुभूति जागी—'आप यहीं अच्छी हैं।'

'मैं कहाँ देवी सरस्वतीसे द्वेष करती हूँ। मैं तो उनके आश्रितोंकी भी पालिका हूँ।' भगवती श्रीने परमपुरुषके कटाक्षका प्रतिवाद किया—

'मेरी सचमुच प्रीति वे पाते हैं जो इन पुरुषोत्तमके चरणाश्रित हैं। मैं स्वयं इनके श्रीचरणोंको छोड़कर कहीं नहीं जाती। इन्होंने मेरे लिए एक लोक ही बना दिया है।'

'अम्ब ! वह तुम्हारा आनन्द लोक है ?' बालकने पूछा।

'तुम्हारे लिए अगम्य नहीं है।' भगवती श्रीका यह कहना पर्याप्त था। बालक भूमापुरुषके समीपसे रमा-बैकुण्ठ पहुँच गया।

सौभाग्यकी बात कि रमा-बैकुण्ठमें दिनका समय था। रात्रि होत तो भगवती रमाके साथ केवल गन्धर्व कन्याएँ दीखतीं। इस समय वे गन्धर्वोंके साथ परमपुरुषकी अर्चामें लगी थीं।

'अम्ब ! यहाँ क्या करती हो तुम ?' बालक बिना संकोच समीप पहुँच गया।

'बड़ी तीव्र इच्छा थी अपने इन आराध्यकी अर्चा करनेकी। इन्होंने मेरे लिए यह लोक ही बना दिया। मैं यहाँ अहर्निशि इनकी अर्चा करनेको स्वतन्त्र हो गयी। यहाँ और कोई कार्य मेरे पास नहीं।' भगवती लक्ष्मीने कहा—'किन्तु मुझे अर्चासे न तृप्ति होती है, न सन्तोष। तुम अच्छे आ गये। तुम तो मायातीत लोकके हो, तुम कुछ बतलाओगे ?'

'अम्ब, यह लोक तो आपका उपासना मन्दिर है।' बालकको लगा कि मन्दिरमें अधिक देर रहना अच्छा नहीं। अर्चकोंको वहाँ रहना चाहिये। 'हम सबोंको भी कन्हाईको सजानेमें कभी सन्तोष नहीं होता।'

भक्तिमें-प्रीतिमें, सेवामें सन्तुष्टि तो तब हो जब इनकी सीमा होती हो। लेकिन यहाँ अम्बा अर्चामें लगी रहती हैं तो बालकको यहाँसे विदा होना चाहिये या मौन बैठना चाहिये।



सौम्य शेष—

अनन्त भगवान, इन्हींको शेष कहते हैं। अवश्य ये संकर्षणके, दाऊदादाके अंश हैं; किन्तु यही तो आकर्षणकी सत्ता हैं, अतः ये संकर्षण हैं।

कमलतन्तु श्वेत, वैसे ही चमकते और पारदर्शी न होनेपर भी पारदर्शी-जैसे लगते सहस्र फण शेष। अनन्त आकर्षणकी जो सत्ता हैं, धरा उनके ही एक सिरपर, एक धारापर तो धरी है। शेषको साकार पानेका प्रयत्न मानव करे तो उसकी मूर्खता होगी। समुद्रके अधिदेवता वरुणको या अपने गृह-देवताको ही देख पाता है वह ? भगवान शेष आकर्षण शक्तिके अधिदेवता हैं, यह सीधी बात भी मनुष्य समझता नहीं।

सुभद्र तो पार्शिव शरीरी सामान्य शिशु नहीं था। वह पाताल पहुँचा इच्छा करते ही। भावदेह हो तो भावलोक पहुँचता है।

जिनके एक सिरपर सरसोंके दानेके समान धरा धरी हैं, उनके सिरका विस्तार आप सोच लें। वैसे सहस्र फण और उन फणोंमें ज्योतिर्मय मणियाँ, प्रत्येक सिरमें मणियोंके समान ही जलती दो-दो आँखें और लप-लपाती मुखसे निकली दो दो जिह्वाएँ। लेकिन अत्यन्त शान्त, स्थिर भगवान् शेष। उनके शरीरमें कम्पका नाम नहीं।

नाग कुमारियाँ उन अनन्तके उज्ज्वल सुचिक्कन शरीरमें अंगराग लगानेमें तन्मय थीं। कुछ ऋषि समीप स्तुति कर रहे थे। स्वयं भगवान् शेष गायन कर रहे थे। हरिगुण गान ही उनका परमप्रिय व्यसन है।

'दादा !' सुभद्र प्रसन्न हो गया। उसे कुछ ऐसा लगा कि यह नाग देह तो आवरण है। इसमें स्पष्ट गौरवर्ण, नीलवसन, एक कर्णमें कुण्डल पहिने, कन्धेपर अष्ट धातुका हल धरे उसके अपने दाऊ दादा बैठे हैं। वह पुकारकर भी दौड़ नहीं सका। उसने देखा कि जैसे दादाके अङ्कमें उसका कन्हाई ही लेटा है।

कन्हाई तो चतुर्भुज नहीं है। यह तो भूमापुरुष जैसे कोई हैं; किन्तु अष्टभुज नहीं हैं। ये पीताम्बर पहने, अधलेटे भले कन्हाई जैसे हैं; किन्तु चतुर्भुज हैं।

'तुम समीप नहीं आओगे ?' भगवान् शेषने स्नेहपूर्वक पुकार लिया—'इतनी दूर क्यों रुक गये ? देख ही रहे हो कि मैं हिल नहीं सकता।'

'दादा ! तुम यहाँ क्या करते हो ?' वह समीप पहुँचकर उन नीलवसन संकर्षणका हाथ पकड़कर बोला—'ऐसे बिना हिले ऊबते नहीं ?'

सहस्रफण शेषका संगीत चलता रहा। नाग कुमारियोंकी ओर उसने देखा नहीं और स्तुति करनेवाले ऋषि-मुनियोंकी ओर तो उसकी पीठ हो गयी थी। केवल संकर्षणके अङ्कमें लेटे सुकुमार नीलसुन्दरको वह बार-बार देख लेता था।

'तुम विष्णुलोक ही तो देखने निकले हो।' उन नीलसुन्दरने इस बार कहा—'मुझे पहिचान लो और अपने इन दादाको भी। पालकको धारण-पोषण दोनों करना पड़ता है। क्षीराब्धिमें मैं पोषणकर्ता हूँ और यहाँ हम दोनों धारक है। धारकको निष्कम्प तो रहना ही पड़ता है। मैं दादाके अङ्कमें स्थिर न रहूँ तो ये उग्र हो उठते हैं। उनकी फूत्कारें ज्वालामुखी बनकर फूटने लगती हैं। इनके रोषसे रुद्र प्रकट हो जाते हैं और त्रिशूल उठाये प्रलय करने दौड़ पड़ते हैं।'

'तुम चतुर्भुज हो गये; किन्तु तुम्हारा नटखटपन गया नहीं।' सुभद्र हँसने लगा—'दादा कितने तो सौम्य हैं और तुम इनको दोष दे रहे हो।'

'भद्र ! ये समीप रहते हैं तब मैं इनको देखनेमें अपने-आपको भूला रहता हूँ !' संकर्षणने ही कहा—'इनको देखनेसे तृप्ति ही नहीं होती। वैसे सर्पकी क्या सौम्यता। उग्र एवं क्रूर तो स्वभाव है मेरा।'

'दादा, तुम भी बहकाने लगे ?' सुभद्रने उपालम्भ दिया—'तुम कब क्रोध करते हो ?'

'भले मेरा स्वभाव क्रोधी हो' शेषने स्वीकार किया—'तुम जैसे सखा सम्मुख हों तो मुझे कभी क्रोध नहीं आवेगा।'

'ये ज्ञानघन ही तुम्हारे गुरु हैं।' सुकुमार उन चतुर्भुज श्यामसुन्दरने कहा—'समस्त जीवोंके यही गुरु हैं और गुरु दयामय होनेके साथ शास्ता भी होते हैं।'

'लेकिन तुम्हारे साथ मेरा यह सम्बन्ध नहीं है।' संकर्षणने प्रतिवाद किया—'हम सखाओंमें कोई गुरु-शिष्य या बहुत बड़ा-छोटा नहीं हुआ करता। केवल किञ्चित् बड़े-छोटेका अन्तर। मैं तुम्हारा बड़ा भाई।'

'हाँ, तू तो दादा है।' सुभद्र तुम कहना भी भूल गया; 'किन्तु दादा ! तू मुझे सिखलावेगा नहीं ? मैं किसी दूसरेको गुरु बनाने भटकूँगा ?'

'तुम्हें भटकना कहाँ है ?' भगवान संकर्षण बोले—'तुम स्वेच्छासे भवमें जा रहे हो। वहाँ भी समय आनेपर मैं तुम्हें सम्हाल लूँगा।'

'अब तो तुम निश्चिन्त हो गये ?' नीलसुन्दरने इस बार कहा।

'लेकिन मैं अभी हूँ कहाँ ?' सुभद्रने अब इधर-उधर देखा। नीलवसन संकर्षण जैसे शेषका आवरण ओढ़े हों। वे सहस्रफण शेष--भले वे सौम्य हैं, शान्त हैं, किन्तु इतने विशाल सजीव सर्पके समीप खड़े रहना अटपटा लगा भद्रको। उसने छूकर देखा शेषके उस श्वेत शरीरको और सोचा—'इतना शीतल होता है सर्प और ऐसा गिलगिला, इसीलिए सम्भवतः इन पीतवसनको यह शय्या प्रिय है।'

'तुम पातालमें हो।' भगवान शेषने ही कहा—'पृथ्वीका अन्तराल सप्तावरणात्मक है। यह अन्तिम आवरण। इसे भू-केन्द्र कह सकते हो। इसीसे मैं इसके आकर्षणका अधिष्ठाता बना, इसका धारक हूँ।'

'पातालमें - भूमिके मध्य अन्तरालमें !' सुभद्र कुछ सोचते हुए स्वयं बोल गया—'मूषकके समान बिल बनाते मुझे बाहर जाना पड़ेगा ?'

'तुम किसी विवर-द्वारसे तो यहाँ आये नहीं।' शेषने ही समझाया—'भगवती रमा या श्रीनारायणने भी तुम्हें नहीं भेजा। तुम वहाँ अब भी जा सकते हो। तुम्हारे इस दिव्य देहको देश या काल तो बाधक बनता नहीं। लेकिन तुम यहाँ आ गये हो तो भू-विवरोंको भी देखते जाओ। भगवान वामन तुम्हें देखकर प्रसन्न होंगे। मय और बलिसे मिलकर तुम्हें प्रसन्नता होगी। जहाँ तुम्हें अच्छा न लगे, तुम्हें कोई नहीं रोकेगा।'

'इन भू-विवरोंमें ही नागलोक है। अमृतकुण्ड है वहाँ !' अनन्तशायीने सस्मित कहा।

'मुझे नागोंका जूठा अमृत नहीं चाहिये।' सुभद्रने मुख बनाया—'अमृतका वास्तविक कलश अमरावतीमें है, जानता हूँ।'

'भगवान वामन ही वहाँ उपेन्द्र हैं।' शेषने कहा--'तुम अमृत पीना चाहोगे तो तुम्हारे लिए वह अलभ्य नहीं रहेगा। लेकिन····।'

'अमृत पीकर मुझे यहीं कहीं अटके नहीं रहना।' सुभद्रने स्पष्ट कह दिया—'सुरोंका वह उच्छिष्ट न भी हो, तब भी तो शरीरमें अटकाता ही है। मेरा कन्हाई मेरी प्रतीक्षा करेगा।'

'तुम्हारा निर्णय सुदृढ़ रहे। शेषने सुप्रसन्न आशीर्वाद दे दिया। ●

दानवेन्द्र मय—

'अमृतकी आवश्यकता आपको नहीं है, हम यह जानते हैं।' सुभद्र भगवान शेषके समीपसे पाताल पहुँचा तो उसे ऐसा लगा कि यहाँ उसके स्वागतकी तैयारी हुई है। नागराज वासुकि अनेक नाग-प्रमुखोंके साथ सामने ही मिले—'हम तो उपकृत होंगे यदि आप हमारा यह उपहार स्वीकार करेंगे।'

अनेक सिरोंवाले नागोंसे भरा वह पाताल लोक। इतने विशाल उनके वे मोटे लम्बे देह कि उनमें एक भी पृथ्वीपर आ जाय तो पूरे महानगरको मुख खोलते ही निगल जाय। लेकिन सुभद्र अभी सहस्र शीर्ष शेषके समीपसे आया है। उनके सम्मुख तो ये वासुकि भी अत्यन्त साधारण सर्प-से लगते हैं।

'आप देखते ही हैं कि मैं अभी अनन्तशायीके समीपसे आ रहा हूँ।' सुभद्र बालक सही; किन्तु विनम्र है—'मैंने सुना है कि समुद्र-मन्थनमें आप मन्दराचलमें लिपटे मन्थनरज्जु बने थे। सबसे अधिक कष्ट आपने सहा। अमृत आपका उचित भाग था। सुरोंने आपको अमृत देकर कोई उपकार नहीं किया।'

'आप मुझे क्षमा करें।' दो क्षण रुककर वह फिर बोला—'आपका अनुग्रह ही मेरे लिए बहुत है। अमृत पीकर मर्त्यधरापर जाना विडम्बना होगी।'

'आपका शील है कि आपने नहीं कहा कि यहाँका अमृत हमारा उच्छिष्ट है। हमारे हाथ तो हैं नहीं कि हम उसे पृथक् पीते। सीधे मुख डालकर चाट लेना हमारा स्वभाव है।' वासुकिने स्वीकार किया—'हमारे विष-मिश्रणसे यह मादक बन गया है।'

सच यह है कि सुभद्रको अनुभव ही नहीं कि मादक क्या होता है। कोई जानबूझकर अपनी बुद्धिको खोना चाहेगा—भले कुछ क्षणोंके लिए ही हो, यह वह सोच ही नहीं सकता।

'आप सब यहाँ भूमिके अन्तरालमें रहते हैं।' नागोंकी मणियों और उनके ऐश्वर्यमें उसे कोई आकर्षण नहीं। उसे वासुकिपर दया आ रही है—

'अमृत-मन्थनमें मन्दरके घर्षणके घाव भले अमृतपानसे मिट गये; किन्तु उनके चिह्न अब भी आपके शरीरपर हैं।'

'ये तो मेरे सौभाग्य-सूचक हैं।' अब वासुकिने अपनी पूँछ घुमाकर दिखायी—'मेरे सिर और इस पूँछको अपने हाथोंमें स्वयं श्रीहरि पकड़े रहे अधिकांश मन्थनके समय। सुरों और असुरोंने तो केवल हाथ लगाया। ये सब अल्पप्राण सिद्ध हुए। वे भूमापुरुष मन्थन न करते तो सुधा निकलनी थी। मैं अमृत न भी पाता, उन सर्वेश्वरके कर-स्पर्शसे ही स्वस्थ हो गया था।'

'आप अब अनुमति दें। सुभद्रने अपने नन्हें करोंसे वासुकिका शरीर सहला दिया।

पृथ्वीके भीतर ये महानाग—ये प्राणके, बलके अधिदेवता न हों तो धरामें धारक शक्ति कहाँसे आवे ?

रसातलमें हिरण्यपुर मिला; किन्तु उस स्वर्णपुरीके निवासी निवात-कवच दानवोंने सुभद्रकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। निश्छिद्र कवच चढ़ाये वे अपनी भोगपुरीमें मदोन्मत्त घूमते दीखे। बालक सुभद्रको उनमें कोई रुचि नहीं थी।

महातलमें भी वह रुका नहीं। उसके पहुँचते ही वहाँके नागोंने सिर उठाकर, फण फैलाकर फूत्कार छोड़ी।

'आप महातलके हमारे सजातीयोंपर क्रोध मत करना!' पातालसे चलते समय वासुकिने प्रार्थना की थी—'उनके पूरे समुदायका नाम ही क्रोधवश है। पृथ्वीपर अपार विष उत्पन्न होता रहता है। वह अहर्निशि भूतलकी महाग्निमें परिपक्व होकर कुछ ही ऊपर जा पाता है और वहाँ विष-धातु तथा विषैली वनस्पतियोंमें उपलब्ध होता है। शेष महातल सीधे दानवेन्द्र भेज देते हैं। सृष्टिकर्ताने उसे नागोंका आहार बनाया है; किन्तु उसके सेवनसे वे क्रोधोन्मत्तप्राय रहते हैं।'

सुभद्रको शेषके सम्मुख तो इस लोकके अनेकसिर नाग केंचुए जैसे लगे। ये सब पातालके वासुकि तथा उनके बन्धुओंसे पर्याप्त छोटे थे। बालकको कौन बतलाता कि तक्षक जैसे अत्यन्त विषैले इनमें प्राय: सब हैं और तक्षक ही इनका नायक है। ये आकारमें भले वासुकि प्रभृतिसे छोटे हों, इनका विष अत्यन्त दारुण है।

कोई कह देता कि कालिय नाग भी इन्हींमें है तो सुभद्र अवश्य उस शतैकशीर्षाको ढूँढ़ता । कन्हाई उसके फणोंपर थिरकता फिरा था। कन्हाईका यह सखा नागोंसे डरना क्या जाने; किन्तु इनमें उसे रुचि नहीं थी। इन्हें उद्विग्न करनेके लिए क्यों रुके वह यहाँ ?

तलातलमें उसे दानवेन्द्र मय मिल गये। वह चकित रह गया। उस जैसे नन्हें बालकको ये दानव विश्वकर्मा इस प्रकार भूमिमें पड़कर क्यों प्रणिपात करते हैं ?

'बाबा ! उठो तुम।' सुभद्र अपने छोटे करोंसे उन वज्र कर्कश काय, सुदीर्घ शरीरको उठा तो सकता नहीं था। उसने उनके घुंघराले केशोंसे मण्डित मस्तकको छू दिया।

कज्जल कृष्ण वर्ण भी इतना भव्य, इतना सुन्दर होता है, कोई सोच नहीं सकता। विशाल लोचनमय धीरेसे उठे। बालकके पदोंका मस्तकसे स्पर्श किया उन्होंने और हाथ जोड़कर सम्मुख खड़े हो गये। उनके नेत्रोंसे अश्रु झर रहे थे। शरीर कम्पित था। रोम-रोम उठा हुआ। वाणी बोलनेमें असमर्थ हो रही थी।

'आप यह क्या कर रहे हैं ?' सुभद्रने उन महाशिल्पीके अञ्जलि बाँधे दोनों कर पकड़ लिये।

'यह महामायावी दानव आज पवित्र हो गया।' मयने किसी प्रकार कहा—'मयका जीवन श्रीकृष्णका दान है। यह खाण्डवके दावानलसे बच भी जाता तो पार्थके वाण अवश्य विद्ध कर देते यदि तुम्हारे मयूरमुकुटीने इसकी शरणकी आर्त पुकार सुन न ली होती।'

'इसमें क्या हो गया ! कन्हाईने कौन-सा बड़ा काम कर दिया। यह तो उसे करना ही चाहिये था।' सुभद्रको मय बहुत शालीन लग रहे थे—'आप अब तक यह नन्हीं बात भूले नहीं।'

'मैं दानव हूँ। उपकार स्मरण रखना दानवका स्वभाव नहीं होता; किन्तु वे घनश्याम तो अपनाकर छोड़ना नहीं जानते। उन्होंने अपनाया, तभी तो अपने प्रियजनके दर्शनका सौभाग्य दिया।' मय भावक्षुब्ध थे—'आप तो मेरे आराध्य पिनाकपाणिके भी प्रिय हैं। अपने चरणोंके अर्चनका सौभाग्य दें इस दानवको।'

चाहे जितना संकोच हो, सुभद्र समझ गया कि दानवेन्द्रका आग्रह

स्वीकार करना ही पड़ेगा। लेकिन उनके सदनमें जाकर वह चौंका। सदन ऐसा नहीं था जैसा दानव विश्वकर्माका होनेकी कोई कल्पना करे। कठोर-सुस्थिर कलाका भी कहीं नाम नहीं और वैभवका चाकचिक्य भी नहीं।

'आप यहाँ तपस्या करते हैं?' जब मय विधिपूर्वक उसका पूजन कर चुके, तब उसने पूछा। इसलिए पूछा; क्योंकि मयने श्रुतिके सस्वर पाठ सहित उसकी अर्चा की थी। इसलिए पूछा, क्योंकि वह दानवेन्द्रके सदनकी अपेक्षा कोई मन्दिर अधिक लगता था। इसलिए पूछा, क्योंकि वहाँ उसे श्रद्धा, सात्विकता साकार लगती थी।

वहाँ कला थी, सजावट थी, मणि-रत्न भी थे; किन्तु सब होनेपर भी बहुत सादगी लगती थी। बहुत सौम्य सज्जा थी। लगता था कि एक-एक अणु यहाँ अत्यन्त श्रद्धासे सजाया गया है।

'दानव तप भी करे तो सृष्टिके लिए दुर्दैव ही लावेगा।' मय खुलकर हँसे—'किन्तु भगवान भूतनाथने अपने इस आश्रितको अपनाया तो इसकी भोगेच्छा मर गयी। मैंने पुत्रोंके मोहमें पड़कर त्रिपुर-निर्माणका पाप किया - विनाशके साधन दे दिये दानवोंको और मेरे करुणामय आराध्यने इतनेपर भी मुझे वीरभद्रको भेजकर बचा दिया।* मैं उनका हाटकेश्वर ज्योतिर्लिंग लेकर चला आया यहाँ। यह मेरी अर्चनाका स्थान है। यह उन महेश्वरने मुझे दिया है। इसे मैं भोग भूमि बनानेका प्रमाद तो नहीं कर सकता।'

'यदि आप अधिकारी समझें मुझे' संकोचपूर्वक सुभद्रने कहा—'भगवान् हाटकेश्वरके दर्शन करलूँ मैं।'

आराध्य विग्रह अर्चकका अपना होता है। उस रूपमें आराध्य उसके सर्वथा अपने हैं। वहाँ दूसरे किसीका—आराध्यके अभिन्न परिकरोंका भी प्रवेश अर्चककी अनुमतिके विना अनुचित है।'

'आप अर्चन नहीं करेंगे?' मयने भी संकोचपूर्वक ही पूछा—'दानवकी आराध्यमूर्ति होनेपर भी ज्योतिर्लिंग है वह।'

'यहाँ विल्वपत्र और पुष्प....' सुभद्रने पूछा। उपयुक्त उत्तम सामग्री न प्राप्त हो तो पूजनमें उसकी रुचि नहीं होती।

* त्रिपुर-दहन चरित 'शिव चरित' में गया है।

'आप भूल ही गये कि यह दानव मायावी है और' मय खुलकर पहिली बार हँसे—'विश्वकर्माका संस्पर्धी भी है यह। आप नीलोत्पलोंसे अर्चा करेंगे या रत्नकमलोंसे ?

'रत्न तो कठोर और निर्गन्ध होते हैं।' सुभद्रको स्वर्ण, रत्न, मणि कभी भव्य या मूल्यवान नहीं लगे। 'सुगन्धित, सुरंग, सुकुमार सुमन ही अर्चाके उपयुक्त उपकरण होते हैं; किन्तु बाबाको विल्वपत्र, धतूरा और आकके फूल प्रिय हैं।'

'आप पधारें!' मयने मार्ग-दर्शन किया।

'आप मन्त्रपाठ कर दीजिये।' सुभद्रने भूमिमें मस्तक रखकर भगवान हाटकेश्वरको प्रणाम किया और समीप सजे आसनपर बैठ गया—'पूजाकी विधि भी आप ही बताइये। यहाँके आप प्रधान अर्चक हैं।'

'आप दानवके यजमान बन रहे हैं।' मयने विनोद किया—'दक्षिणा यह नहीं छोड़ेगा।'

'कन्हाई दे देगा।' सुभद्रके समीप अपना क्या धरा है और जब कन्हाईको देगा है. वह क्यों सोचे कि दानव विश्वकर्मा क्या माँगेंगे।

'नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥'

मयकी गम्भीर परावाणी गूँजने लगी। वे महाशैव श्रद्धाविभोर पूजन करानेमें तन्मय हो गये। सम्भवतः पहिली बार वे किसीके आचार्य बने थे।

गंगाजल, दुग्ध आदिका सविधि अभिषेक और जब समयका प्रश्न नहीं, सामग्रीका अभाव नहीं तो पूजन पञ्चोपचार या षोडशोपचार क्यों हो ? महाराजोपचारसे पूजन चलने लगा।

मय और सुभद्र दोनोंमें-से किसीको पता नहीं लगा कि कब अर्चा-विग्रहके स्थानपर साक्षात् धूर्जटि गङ्गाधर आकर आसीन हो गये और पूजन ग्रहण करने लगे।

नीराजनके अनन्तर स्तवन करते मय नृत्य करने लगे ओर सुभद्रने ताली बजाना प्रारम्भ कर दिया, यह भी दोनोंको स्मरण नहीं कि उनके स्तवन, नृत्यमें कब डमरूका डिम-डिम सम्मिलित हो गया।

'वरं ब्रूहि !' दोनों जब अन्तमें प्रणिपात करने लगे, तब एक साथ दोनोंके मस्तकोंपर कर स्पर्श हुआ और अमृतस्वर गूंजा ।

'श्रीचरणोंमें अनुराग ।' झटपट दोनों बैठे और अञ्जलि बाँधकर एक साथ बोले ।

'एवमस्तु !' वह ज्योतिमूर्ति उस अर्चा-विग्रहमें ही अदृश्य हो गयी ।

'आचार्य ! आपकी दक्षिणा ?' कुछ समय लगा सुभद्रको स्वस्थ होनेमें । सावधान होनेपर उसने हँसते-हँसते मयकी ओर देखा ।

'आप महा महेश्वरके स्नेह शिशु हैं ।' मयने सुभद्रके पदोंपर मस्तक रख दिया—'महेश्वरने आपकी ओरसे जो दक्षिणा दे दी, अनन्तकालके लिए यह दानव उससे परितृप्त हो गया ।'

'अब आप अनुमति दें ।' सुभद्रने चलनेका उपक्रम किया ।

'एक अनुरोध है ।' मयने अञ्जलि बाँधी—'आप सुतलमें भगवान वामनके दर्शन तो करेंगे ही और मेरे आराध्यने यहीं आपकी अर्चा स्वीकार करली है । अतः वितल आप छोड़ दीजिये ।'

'कोई विशेष बाधा है ?' सुभद्रने सहज पूछ लिया ।

'आपके लिए कहीं कोई बाधा सम्भव नहीं; किन्तु' मय संकोचपूर्वक कह गये —'भगवान हाटकेश्वरका अर्चा-विग्रह यहाँ है और वितल उनका अन्तःपुर है । देवीके साथ वे वहाँ एकान्त क्रीड़ा करते हैं । मैं भी वहाँ कभी नहीं जाता ।'

'अम्बा संकोचमें पड़ें, मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा ।' सुभद्रने अपनी यात्रामें-से वितल जानेका कार्यक्रम छोड़ दिया । यह अच्छा ही हुआ । पृथ्वी गर्भकी अग्निसे अतल-वितल दोनों तप्त रहते हैं । उमा-महेश्वर तो अग्निमूर्ति वितलमें निवास करते हैं । साथमें भूत-प्रेत जैसे अगिया बेताल, सुभद्र वहाँ जाकर प्रसन्न नहीं होता ।



दैत्यराज बलि–

अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुभद्र सुतल पहुँचकर। यह तो वह स्वर्ग पहुँचा तब पता लगा कि अमरपुरीका ऐश्वर्य सुतलके सम्मुख बहुत फीका है; किन्तु ऐश्वर्य और सौन्दर्य सुभद्रको प्रभावित नहीं करता। वह अभी ब्रह्मलोक तथा विष्णुलोकोंका वैभव देखकर आया है। उसे प्रसन्नता हुई सुतलके स्वामीके द्वारपर गदापाणि भगवान वामनको देखकर।

'तुम यहाँ खड़े हो ? तुम्हें पता है कि मैं आ रहा हूँ ? तुम अकेले कैसे आ गये ? यह गदा कहाँसे ले आये !' सुभद्र दौड़कर वामनके पास पहुँच गया। उनका हाथ पकड़कर हिला दिया उसने। उसे यही लगा कि उसका कन्हाई ही वहाँ आखड़ा हुआ है।

वही नवघन सुन्दर शरीर, वैसा ही पीतपट; किन्तु सुभद्रको अपनी भूल शीघ्र ज्ञात हो गयी। वह वामनका हाथ छोड़कर दो पद पीछे हटकर उन्हें देखने लगा— तुम तो कन्हाई नहीं हो। इतना मोटा जनेऊ पहिने हो और मुझसे इतना छोटा कन्हाई नहीं है। मैं सुभद्र हूँ—भद्रसेन। तुम कौन हो ?'

'मैं तुमको जानता हूँ।' मन्द-मन्द मुस्कराते मेघ गम्भीर स्वरमें भगवान वामन बोले—'मैं देवमाता अदितिका सबसे छोटा पुत्र हूँ; किन्तु बालक नहीं हूँ। मेरा शरीर वामन है।'

'वामन—वामन विष्णु ! बाबा, मुझे क्षमा करो ! मैं तो समझा ···!' सुभद्रने हाथ जोड़े।

'भूलसे सही; किन्तु भ्रमसे भी अपना सखा समझकर तुमने मुझे सम्मानित ही किया है।' वामन सुप्रसन्न थे—'तुमसे अपराध नहीं हुआ। लेकिन तुम यहाँ आगये हो तो दैत्येश्वरकी अर्चा स्वीकार कर लो !'

'महाभागवत प्रह्लादका पौत्र विरोचनात्मज दैत्यबलि प्रणिपात करता है।' एक ओरसे यह विनम्र स्वर आया तो सुभद्रने उधर देखा। स्वर्ण गौर बिशाल वपु, रत्नाभरण जो पुरुष भूमिमें दोनों हाथ आगे

फैलाकर पड़ गये थे, उनका शरीर अत्यन्त सुगठित था; किन्तु देखनेमें वे देवोपम लगते थे। उनके पीछे जो अनुचर आये थे, वे भले दैत्य कहे जायँ; किन्तु वे दैत्य दीखते नहीं थे।

'आप उठो !' सुभद्रने उनका मस्तक स्पर्श करके कहा—'मैं तो बालक हूँ। मेरी यह अभ्यर्थना ...'

'आप अपने इस चरणाश्रितको ठगो मत।' सर्वत्र भगवद्दर्शनके अभ्यासी बन चुके बलिने कहा—'एक बार यज्ञशालामें बालक बनकर पधारकर आपने मुझे वञ्चित करनेका प्रयत्न तो कर देखा। आप अपनी करुणासे स्वयं वञ्चित हुए।'

सुभद्रने वामनकी ओर देखा। बलि क्या कह रहे हैं, यह पूरी बात वह भले न समझ सका हो; किन्तु समझ गया कि इन वामनकी बात ही वे कह रहे हैं।

'तुम दैत्येश्वरके साथ पधारो। इन्हें अर्चाका सौभाग्य प्राप्त होने दो।' भगवान वामनने कहा—'मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। संकोच मत करो।'

'मेरा जन्म-जन्मका पुण्योदय हुआ आज' बलि भूल गये कि वे दैत्येश्वर हैं और दैत्यसेवकोंसे घिरे द्वारपर खड़े हैं। वे तो दोनों हाथ उठा कर कीर्तन करने लगे। वामनने अपने अनुभावसे ही उन्हें शान्त किया।

भगवान वामन दैत्यराजके आग्रहपर भी कभी भीतर नहीं जाते। बलिको उनकी पूजा द्वारपर आकर करनी पड़ती है। आज बालक रूपमें ऐसे अतिथि पधारे कि उनके साथ वामन प्रभु भी सिंहासनपर बैठेंगे और उनके पाद-प्रक्षालनका अवसर पुनः प्राप्त होगा।

बलिने वामन और सुभद्रको एक ही रत्नसिंहासन पर बैठाया। दैत्येश्वर पट्ट-महिषी विन्ध्यावलीने दोनोंके चरण धोये। सविधि अर्चा हुई। अवश्य इस अर्चामें वामनके संकेतपर सुभद्र अग्रपूज्य बना लिया गया था। पुराण-पुरुष होनेपर भी शरीरसे वामन बालक ही लगते थे, अतः उनकी समीपताने सुभद्रको बहुत कुछ निःसंकोच कर दिया था।

'तुम इस समय जहाँ हो, यह सुतल धराका अन्तराल है; किन्तु धराके तलमें जो असह्य अग्नि-सागर है, जिसमें सब धातुएँ द्रव बनीं खौल

रही हैं, उससे यह इतना अन्तरंग है कि वहाँकी ऊष्मा यहाँ सुखद जीवन-दायिनी बनी रहती है।' वामनने स्वयं बतलाया।

'यह स्थूल लोक तो लगता नहीं। सुभद्रने देखा कि वहाँ समीप अत्यन्त मनोहारी उद्यान लहरा रहे हैं और सुस्वर पक्षियोंके स्वर भी हैं।

'हम असुर दैत्य, दानव, राक्षस और यक्ष—इन चार कुलोंके हैं। हम देवताओंके समान ही महर्षि कश्यपकी सन्तान हैं।' बलिने अपना कुल-परिचय दिया—'देवता हमारे अनुज हैं। हम सबकी माताएँ पृथक हैं। हमारी और देवताओंकी देह-रचना तथा जन्मजात शक्तियोंमें कोई अधिक तारतम्य नहीं है। देवता अधिक सत्वगुण अपनाकर सुकुमार हो गये और दैत्य-दानवादिने कर्मशील रहकर कायाको कठोर बना लिया।'

'देवताओंके समान ही दैत्य-दानव, यक्ष-राक्षस भी कामरूप, जन्म-सिद्ध होते हैं।' भगवान वामनने कहा—'स्वर्ग भोग-लोक है और ये सुतल आदि कोई हीन लोक हैं, ऐसा नहीं है। ये भी पुण्यलोक ही हैं; किन्तु देवलोकसे ये प्रकृष्ट हैं।'

'देवलोक उत्तम नहीं है?' सुभद्रने पूछा।

'देवताओंका दर्प है कि अमरावती उत्तम है। अन्यथा हम असुरोंने अनेक बार उसे बलपूर्वक अधिकृत किया है। देवता भागे-भागे फिरते रहे हैं।' बलिने सगर्व कहा—'हमारे इन लोकोंमें एकपर भी कभी देवताओंका अधिकार नहीं रहा।'

'स्वर्गकी अधिक निकटता है मनुष्य-लोकसे। तुम चाहो तो इसे उसकी श्रेष्ठता कह सकते हो; किन्तु यह निकटता उसे उपेक्षणीय भी बनाती है।' भगवान वामन गम्भीर हो गये।

'मनुष्यके पाप या पुण्य जब इतने अधिक हों कि किसी पार्थिव देहमें उनका भोग सम्भव न हो तो उसे पृथ्वीपर जन्म देनेसे पूर्व उसके पाप या पुण्योंको एक सीमा तक कम करना आवश्यक हो जाता है। पाप भोगके लिए नरक हैं और पुण्य भोगके लिए स्वर्ग। पाप एक सीमामें आये तो नरकसे छुटकारा और पुण्य भोग द्वारा परिमित हुए तो स्वर्गसे निष्कासन।'

'इन अधोलोकोंमें धराका प्राणी नहीं आता?' सुभद्र का प्रश्न स्वाभाविक था।

त्रिभुवनमें जितने लोक हैं, सब भोग लोक हैं। केवल धराका मनुष्य ही वहाँ जाता है। धरापर भी मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है और उसमें भी धन्य हैं वे जो अजनाभवर्ष (भारत) में मनुष्य जन्म पाते हैं।' बलिने इस बार उल्लासपूर्वक कहा—'देवता और हम दैत्य भी भारतमें रहनेको उत्सुक रहते हैं। अवसर मिलते ही वहाँ टिकने लगते हैं या जन्म लेने लगते हैं।'

'तब ये अधोलोक भी अमरावतीके ही समान हुए।' सुभद्रने कहा नहीं, केवल सोचा।

'अधोलोकोंमें वे पुण्यात्मा जन्म लेते हैं जिनके पुण्य इतने अधिक हों कि कल्प पर्यन्त उन्हें जन्म न लेना हो।' भगवान वामनने कहा—'केवल कुछ विशेष महानुभाव मन्वन्तर पर्यन्त यहाँ रहते हैं।'

'मैं ऐसा ही भाग्यहीन हूँ।' बलिने खेदपूर्वक कहा—'धरापर पहुँच गया था और मेरे ये मोक्षदाता प्रभु प्रसन्न भी हुए; किन्तु स्वर्गके मोहने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। इन परमोदारने मेरे सौ अश्वमेध यज्ञके फलके रूपमें सावर्णि मन्वन्तरका इन्द्रत्व मेरे लिए सुरक्षित कर दिया।'

'स्वर्ग तब सचमुच उपेक्षणीय है। वहाँसे निष्कासनकी अवधि ही अनिश्चित है।' सुभद्र बोल उठा—'ये अधोलोक कम-से-कम एक कल्पका आश्वासन तो हैं।'

'कल्पपर्यन्त ब्रह्मलोकमें तथा तपोलोक, जनलोक और महर्लोकमें भी पुण्यात्मा रहते हैं।' वामन भगवानने स्पष्ट किया—'जो शुद्ध सत्वगुणी होते हैं वे उन लोकोंमें और जो कर्मासक्त रजोगुणी धर्मात्मा, किन्तु उग्र प्रकृति होते हैं, वे इन अधोलोकोंमें पहुंचते हैं।

'मैंने केवल ब्रह्मलोक देखा है।' सुभद्रको लगा कि भगवान वामन जैसा उत्तम और समवयस्क न सही, लगभग समकाय मिला है तो पूरी जानकारी उसे प्राप्त कर लेना चाहिये।

'तुम उन लोकोंको देख लो। उनको देखनेके पश्चात् अमरावती पहुँचोगे तो वहाँके भोग तुम्हें प्रलुब्ध नहीं करेंगे।' वामनने सम्मति दी—'तपोलोक, जनलोक और महर्लोक ये तीनों तपस्वियोंके ही हैं। इनमें तुम्हें कल्पजीवी तापस, ज्ञानी, योगी मिलेंगे। तुम उनसे मिलकर प्रसन्न होगे।'

'मैं जटा नहीं बढ़ाऊँगा और न तप करूँगा।' सुभद्रका बालकपन मचला- 'मुझे उनमें किसीको गुरु नहीं बनाना। मैं तो मर्त्यधरापर निवास करूँगा।'

'जिसे स्वयं संकर्षण भगवानने मन्त्र देनेका वचन दिया है, उसे शिष्य बननेका धृष्ट प्रयत्न कोई नहीं करेगा।' वामनने आश्वासन दिया—'तुम्हें तप या ध्यान करनेकी आवश्यकता नहीं, किन्तु हरिचर्चा तुम्हें प्रिय लगेगी। वहाँ भगवत्कथागत प्राण पवित्रात्मा कम नहीं हैं।'

'तब मैं वहाँ जाऊँगा।' सुभद्र उठ खड़ा हुआ। उसके उठते ही भगवान् वामन और सपरिकर बलि भी उठकर खड़े हो गये।

'तुम अधोलोकोंको तो देख ही रहे हो।' भगवान वामनने अन्तिम सूचना दी—'इनमें-से बितल भगवान हाटकेश्वरकी विहार-स्थली है और अतल मयपुत्र महामायावी बलकी। ऊपरके लोकोंको देखते लौटो तो अमरावती भी देख ही लेना; किन्तु दूसरे लोकपालोंकी पुरियाँ स्वर्गसे कम सुशोभन नहीं हैं। लोकपालोंकी समस्या तुम यदि सुन लोगे तो तुम्हारे सखाका ध्यान भी कदाचित चला जाय उनकी ओर।

'लोकपालोंकी पुरियाँ ?' सुभद्रने पूछा।

'कुबेर, वरुण, यम तीनोंकी पुरी देख लेना पर्याप्त होगा।' वामन भगवानने कहा—'वैसे तो अग्नि, वायु, निर्ऋतिकी भी पुरियाँ हैं और गंधर्व, अप्सराओंके उपनगर हैं अमरावतीमें।'



महर्जनः तपः—

असह्य उष्णता धराके उस अन्तरालमें। पिघले लावेका उबलता समुद्र; किन्तु दिव्य देह सुभद्रको उसका क्या भय।

सब अधोलोक भी देवलोकोंके समान भावलोक ही हैं। सुभद्र तो सूर्यलोक भी हो आया था। वितल उसने छोड़ दिया था और अतल उसे अटपटा लगा। उस अग्नि-समुद्रमें उसे अल्प आकर्षण भी नहीं दीखा।

सुभद्र वहाँ रुक भी जाता तो क्या मिलना था उसे? मयके महामायावी पुत्र बलके समीप ९६ मायाएँ सही, लेकिन सुभद्रको तो माया सीखनेमें कोई रुचि नहीं। उसे माया ही सीखना होता तो मय मना करते?

अतलकी अकल्पनीय ऊष्मा। उस अग्निमें मयपुत्र बल और उसके अनुचरोंका आवास है। उनका आहार है हाटकरस अर्थात् पिघला स्वर्ण। इस आहारपर रहनेवाले कैसे होंगे—धराका प्राणी कल्पना भी नहीं कर सकता।

वहाँ स्त्रियाँ भी हैं; किन्तु उनके केवल तीन वर्ग हैं—१. कामिनी—सदा कामुका। २. स्वैरिणी—उनका अपना मन जिस पुरुषको जब स्वीकार करे, उस पुरुषको प्राप्त करके रहेंगी। ३. पुंश्चली—कोई पुरुष उन्हें चाहे जब प्राप्त कर सकता है। इनके अतिरिक्त उस लोकमें कोई गृहिणी या पत्नी नहीं। वहाँ माता, बहिन, बेटीकी कल्पना ही नहीं।

दानवेन्द्र मयके मायावी पुत्र बलने यह द्रव अग्निका लोक अपना निवास बहुत सोचकर बनाया। देवता दानवोंके शत्रु और सर्वत्र उनका भय; किन्तु इस अग्नि समुद्रमें आकर वे करेंगे क्या?

दानव बलकी कोई महत्त्वाकांक्षी नहीं। उसे विलास—निरुपद्रव विलास चाहिये। उसने यह अग्निसमुद्र बसा लिया। उसे अपने समान रुचिके सेवक चाहिये। उसने अपनी जम्हाईसे शतशः स्त्रियाँ उत्पन्न कर दीं। इन स्त्रियोंके उपरोक्त तीन वर्ग। कहींसे कोई अपहरण नहीं, अतः स्त्रीके कारण संघर्षका प्रश्न नहीं।

अब जो दैत्य-दानव एक बार इस लोकमें आ जाता है, भूल ही जाता है कि सृष्टिमें दूसरा भी कहीं कोई स्थान है। यहाँका द्रव सुवर्ण पीकर और

यहाँकी स्त्रियोंके सम्पर्कमें आकर उनका जादू न चले, सम्भव नहीं। ऊपरसे बलकी मायाओंका महा जाल। यहाँ पहुँचा प्रत्येक पुरुष समझने लगता है—'मैं सर्वसमर्थ हूँ। मुझसे अधिक भोग सक्षम दूसरा कोई नहीं। मुझमें दस सहस्र हाथियोंका बल है।*

आप कह सकते हैं कि 'यह पागलपन है। लेकिन पागल-मदोन्मत्त हुए बिना कोई प्राणी—दानव सही, उस अग्निसमुद्रमें रहना ही क्यों चाहता? दानव बलने कामिनी आदि स्त्रियोंके तीन वर्ग तथा अपनी मायाका विस्तार ही इसलिए किया था कि वहाँ आये दैत्य-दानव उसके व्यामोहमें वहाँसे जाना न चाहें। उसका लोक बसा रहे। वह वहाँ पत्नी बननेकी निष्ठा रखनेवाली दानव नारियाँ लाकर सन्तान-परम्परा चलानेके पक्षमें नहीं था।

'सन्तान होती है तो परिवार बनते हैं। उनके स्वार्थ पृथक होते हैं। इससे संघर्ष उत्पन्न होता है।' आप बलके मतसे असहमत हो सकते हैं—किन्तु उसे एकमात्र अपने प्रति सबको वहाँ निष्ठावान रखना था। अतः उसकी व्यवस्था निरंकुश शासकके अनुरूप ही है।

सुभद्रने जनलोकमें एक महापुरुषसे पूछा था—'सृष्टिकर्ताने एक अधः लोक ही क्यों ऐसा बना दिया? बल और उसके अनुचर कल्पजीवी हैं।'

'पृथ्वीपर जीवन बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि भूगर्भमें पर्याप्त ऊष्मा हो।' महात्माने समझाया—'उस ऊष्मामें बल और उसका समाज बना रहता है तो कहीं किसी अन्य लोकका कुछ नहीं बिगड़ता। विश्व-स्रष्टाको तो सब भावोंके बीज भी सुरक्षित रखने पड़ते हैं। जब इस जनलोकमें वासनाका बीज ही नहीं तो कहीं उसीका प्राधान्य भी होना चाहिये।'

सुभद्र सीधे तपोलोक चला गया था। अतलमें वह कुछ क्षणको पहुँचा और वहाँसे इतना खिन्न हुआ कि बीचके लोकोंको लौटते हुए देखना उसे ठीक लगा।

तपोलोक भी सुभद्रको बहुत प्रिय नहीं लगा। उसमें न आवास हैं, न उद्यान। केवल विशाल वृक्ष हैं और प्रचुर जल है। पशु-पक्षियोंका वहाँ प्रवेश ही नहीं। पूरा लोक नीरवप्राय। कदाचित् ही कहीं गति होती है।

* आज जैसे अश्वशक्ति (हार्स पावर) बलके मापका माध्यम है, प्राचीन भारतीय परम्परा शक्तिका माप गज बल मानती थी।

ध्यान, समाधि, तप—सब शान्त, मौन और अपनी साधनामें संतुष्ट। किसीका ध्यान किसी दूसरेकी ओर नहीं जाता।

सत्त्वगुणमें भी गति नहीं है। तपोलोक परिशुद्ध सत्त्वका घनीभाव। धरापर हम आज असंख्य ऐसे व्यक्ति देखते हैं जो अपने दैनिक जीवनमें परम सन्तुष्ट हैं; किन्तु यह सन्तोष रजोगुणका होनेसे अस्थिर है। तपोलोकका सन्तोष निरतिशय है।

साधनमें जो सुख, शान्ति, सन्तोष है यह केवल साधक समझ सकते हैं। निर्बाध, निर्विघ्न साधन चलता रहे, साधकके लिए इससे बड़ा सौभाग्य नहीं। उसे दूसरा कुछ नहीं चाहिये।

तपोलोक ऐसे सब साधकोंका लोक नहीं है। वह उनका लोक है जो तपोनिष्ठ रहे धरापर। व्रत, उपवासमें निष्ठा यहाँ पहुँचाती है।

कोई ऊर्ध्वबाहु एक पाद खड़ा है, कोई पञ्चाग्निमें स्थित है। किसीने आहार ही नहीं, जल भी त्याग दिया है। अनेक जलमें डूबे रहते हैं। कुछ ऐसे जो वृक्षोंसे उतरते ही नहीं। वहाँ कितने समयका प्रश्न व्यर्थ है। कल्पान्तमें भी तपोलोक, जनलोक और महर्लोकका नाश नहीं होता। ये लोक तो महाप्रलयमें तब लीन होते हैं, जब भगवान ब्रह्मा अपनी दो परार्धकी आयु पूरी करके परमपद प्राप्त करते हैं।

सुभद्रकी तपस्या और ध्यानमें रुचि नहीं। वह तपोलोकसे शीघ्र जनलोक आगया और जनलोक आया तो बहुत समय तक भूला रहा कि उसे और भी कहीं जाना है।

जनलोक तपोलोकसे सर्वथा भिन्न। ढूँढ़नेपर भी कोई वहाँ ध्यानस्थ न मिले। कहीं कथा हो रही है और कहीं संकीर्तन महोत्सव है। कोई एकाकी ही अपने संगीतमें स्वयं निमग्न है।

निर्गुण या सगुणका आग्रह जनलोकमें नहीं। लेकिन कथा हो या संकीर्तन, गायन हो या वार्ता, केवल भगवानको वाणी और मन समर्पित। उन सर्वात्माके सगुण रूपकी चर्चा या निर्गुण तत्त्वका निरूपण।

सुभद्र विभोर हो गया। कन्हाईका गुणगान, व्रजेन्द्रनन्दनके नाम-गुण-लीलाका कीर्तन—वह स्वयं ताली बजाता कहीं नाच उठता और कहीं शान्त सुनता।

निर्गुण चर्चा भी सुलभ थी और भगवानके सभी रूपोंके रसिक थे; किन्तु सुभद्रने कम ही उधर ध्यान दिया। वैसे वह भगवान नारायण, श्रीगङ्गाधर, महाशक्ति, श्रीरघुनाथ, भगवान गणपति, सूर्य नारायणके सुयश-सत्संगसे अरुचि नहीं रखता था। गया वहाँ भी; किन्तु घूम-फिरकर श्रीकृष्ण-कथा स्थल उसका केन्द्र बन गया।

'भद्र ! महर्लोकके सिद्ध तुम्हारा सामीप्य चाहते हैं।' अचानक सनकादि कुमारोंमें-से सनन्दनजीने सूचित किया—'वैसे तुमको अपने मध्य पाकर हमें बहुत हर्ष होता है।'

सुभद्र बालक था। स्वभावत: नित्य पाँच-छ: बर्षके बने रहनेवाले इन कुमारोंमें उसका आकर्षण था। वह इन्हें अग्रजोंका सम्मान देता था। ये परमर्षिगण भी उसे स्नेह दे रहे थे। जब ये कुमार साथ चलने लगे तो वह महर्लोक आ गया।

कुमार सम्भवत: उसे पहुँचाने ही आये थे। जनलोकका तो वह था नहीं कि द्विपरार्ध पर्यन्त वहाँ बना रहता। महर्लोकके सिद्धोंका सत्कार स्वीकार करके चारों कुमार ब्रह्मलोक चले गये सुभद्रको छोड़कर।

'आप सब यहाँ रहेंगे ?' सुभद्रको महर्लोकमें पहुँचकर मर्त्यधराका ध्यान आया। उसे लगा कि जब यहाँसे धरापर उतरा जा सकता है तो ये सब सिद्ध अजनाभवर्षमें जन्म क्यों नहीं ले लेते।

'तुम्हारे समान स्वतन्त्र किसी लोकमें कोई नहीं।' एक वृद्धने बतलाया—'हम सब विश्वनियन्ताके विधान-परतन्त्र है। हमारी आयु द्विपरार्ध पर्यन्त है; किन्तु प्रत्येक प्रलयमें हमें यह अपना लोक त्यागकर जन-लोकमें प्रलयकाल व्यतीत करना पड़ता है।'

'क्यों ?' सुभद्रने पूछ लिया।

'प्रलयमें जब नीचेके लोग भस्म होने लगते हैं, यहाँ इतनी उष्णता हो जाती है कि यह लोक निवास योग्य नहीं रहता।' उन वृद्धने सखेद कहा—'प्रलय तो पहुँची ही रहती है। ब्रह्माजीके दिनका अन्त हुआ और प्रलय आयी। उन स्रष्टाकी प्रत्येक सायं-सन्ध्याको हम भागनेको विवश हैं। रात्रि—प्रलय रात्रि जनलोकमें हमें व्यतीत करनी पड़ती है।'

'हमारे आकार प्रायः वही हैं जो पृथ्वीपर मनुष्य देह त्यागते समय था।' सब वृद्धप्राय, उज्ज्वल केश अधिक, मुण्डित मस्तक या जटाधारी

देखकर सुभद्रने पूछा था कि 'यहाँ कोई बालक क्यों नहीं है ? युवा इतने कम क्यों हैं ?'

'हम मानव जीवनमें मायाके प्रपञ्चसे प्रलुब्ध हो गये।' सखेद एकने सुनाया—'तत्त्वज्ञान प्राप्त था हमें। अनेक समाधि सिद्ध थे हममें। अनेकने उपासनासे आराध्यका प्रत्यक्ष पाया था; किन्तु किसी प्रयोजन विशेषसे जान-बूझकर सिद्धिका उपयोग किया और यहाँ आना पड़ा।

'कब तक आप सब यहाँ रहेंगे ?' सुभद्रको यह विवशता बुरी लगी।

'अब तो द्विपरार्धके अन्तमें ब्रह्माजीके साथ हमें छुटकारा मिलेगा।' उस सिद्धने कहा— धराके साधकोंके संरक्षण, सहायता, मार्गदर्शनका दायित्व हमें तब तक निभाना है। सिद्धिने हमें धराके साधकोंकी सहानुभूतिके बन्धनमें बाँध दिया।'

'सहानुभूति, सहायता तो बुरी बात नहीं है।' सुभद्रने चकित होकर कहा।

'सहानुभूति-सहायताका अहंकार बुरी बात है।' वे सिद्ध कह गये— 'सिद्धिका प्रयोग ही इस अहंकारसे होता है कि हम भी कुछ कर सकते हैं। अन्यथा सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ करुणावरुणालय सर्वेशके सम्मुख अपनी शक्तिके प्रयोगका प्रयत्न अपराध तो है ही।'

सुभद्रको यह बात बहुत अटपटी लगी। लेकिन वह कह गया— 'इतना मैं जानता हूँ कि कन्हाई खेलमें कोई अटपटा खिलौना बनाने लगे तो उस समय उसे रुचता नहीं कि कोई उसकी भूल सुधारे। वह रूठने लगता है। अतः मैं उसके ऐसे पचड़ेमें नहीं पड़ता। उसे कुछ जानना या कराना हो तो स्वयं कहना चाहिये।'

यह सिद्धलोक जिसे महर्लोक कहते हैं, सुभद्रको रोक नहीं सकता था। वहाँ कोई बालक तो था ही नहीं। अमरावती और धरा दीखती थी वहाँसे। अतः सुभद्रको यात्रा करनी थी।



अमरावती अभागिनी-

'आपने कौनसे पुण्य किये हैं ?' पहुँचते ही द्वारपालने यह प्रश्न किया तो सुभद्र झुंझला उठा।

'मुझे पता नहीं।' उसने रूखे स्वरमें कहा—'यह पता रखना मेरा काम नहीं है।'

जीवका काम नहीं है अपने पाप-पुण्यका विवरण रखना; किन्तु देवलोकके अधिकारी तो ईर्ष्यालु हैं। वे नवागन्तुकको उकसाते हैं कि वह स्वयं अपने पुण्योंका वर्णन करे। अपने मुखसे अपने सत्कर्मोंका वर्णन करनेसे वे क्षीण होते हैं। अहंकार बढ़ता है। इससे स्वर्गके सेवकोंको उस प्राणीका कम समय तक, कम सत्कार करना पड़ता है। उसे शीघ्र निकाल दिया जा सकता है।

'आप कहाँसे पधारे ?' द्वारपालको आश्चर्य था कि स्वर्गमें इतना अल्पायु बालक कैसे आ गया। यहाँ तो किशोरावस्थाका भोग देह धारण करके पुण्यात्मा आते हैं। बालवपु लेकर आनेवाला यहाँ क्या भोगेगा ? अब तक तो कोई इतना अल्पायु यहाँ आया नहीं। अतः उसने पूछा—'आप किससे मिलेंगे ? क्या परिचय दूँ आपका।'

'कठिनाई यह है कि तेरे दाढ़ी नहीं है, अन्यथा पता लगता कि मैं उसे कितना हिला सकता हूँ।' सुभद्र खीझ गया इस पूछाताछीसे—'मुझे किसीसे मिलना नहीं। यह पुरी देखने आया हूँ। तू द्वारसे हटेगा या....।'

'नहीं, नहीं !' द्वारपाल घबड़ाकर एक ओर हटा—'आप मुझे शाप मत दीजिये। आपको मैं रोकूँगा नहीं; किन्तु यह पुरी क्या अब पर्यटन स्थली बना दी सृष्टिकर्ताने ?'

'यह सृष्टिकर्तासे पूछ लेना।' सुभद्र समझता है कि जैसे वह इच्छा करते ही किसी लोकमें जा सकता है, वैसे ही यह स्वर्गका देवता द्वारपाल भी जा सकता होगा।

'भगवान सनत्कुमारोंमें तो ये हैं नहीं।' द्वारपाल सोचता खड़ा रह गया। उसके यहाँ एकाध बार वे ब्रह्मपुत्र पधारे हैं। उन्हें जानता है। लेकिन

यह बालक ? इतने सहज ढंगसे ब्रह्माजीसे पूछ लेनेकी बात कहनेवाला कौन ? लेकिन द्वारपालको यही बहुत लगा कि उसे शाप नहीं मिला। उसे द्वारपर केवल पूछताछ करनी होती है। किसीको रोकनेका तो उसे अधिकार है नहीं। जो यहाँ तक पहुँच सकेगा,वह स्वर्गका अनधिकारी हो नहीं सकता।

'यहाँ यह सब क्या हो रहा है ?' सुभद्रने सीधे सुधर्मा सभामें पहुंचकर शक्रसे ही पूछा। इन्द्रकी उस सभाके ऐश्वर्यका तो उसपर क्या प्रभाव पड़ना था; किन्तु अप्सराओंका नृत्य, गन्धर्वोंका गान-वाद्य उसे बहुत अटपटा लगा—'तुम सब पुण्यात्मा कहे जाते हो और यह पीं-पीं, टुन-टुन लगा रखी है। गायन ही करना है तो कन्हाईके गुण क्यों नहीं गाते ?'

'आप ?' इन्द्रने अब तक ध्यान ही नहीं दिया था। अब हड़बड़ा कर सिंहासनसे उठे। जो उन्हें इस प्रकार डाँट सकता है, वह दिगम्बर बालक भले दीखे, सामान्य नहीं हो सकता। जब शक्रके सहस्र नेत्र भी उसे पहिचान नहीं पाते, पता नहीं कौन कितना प्रभाव लेकर आ धमका है। हकलाते बोले—'आप सिंहासन स्वीकार करें ! मुझे सेवाका सौभाग्य दें और यदि सृष्टिकर्ताने यह पद....।'

बड़ा अस्थिर है इन्द्र पद। पृथ्वीपर सौ अश्वमेध यज्ञ करके तो प्राप्त होता है; किन्तु पता ही नहीं लगता कि कब यहाँसे किसे पदच्युत कर दिया जा सकेगा। असुर बलवान होते ही सुरोंको मार भगाते हैं। कोई तपस्वी छीन ले सकता है इन्द्रत्व और कोई ऋषि-मुनि प्रसन्न हो जाय किसीपर तो इसे ऐसे वरदानमें दे सकता है जैसे भिक्षामें फेंक दिया हो।

'मुझे अपनी पुरी दिखला दो। सुभद्रने शक्रकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। 'पूजा करनी हो तो कन्हाईकी करना। तुम्हारा यह स्वर्ग मुझ तो सड़ा-सड़ा लगता है। क्या बात है ? यहाँ सड़ाँध क्यों है ?'

'भगवन् ! लगता है कि आप किसी दिव्यलोकसे पधारे हैं।' अब हाथ जोड़ा पुरन्दरने —'वहाँ प्रलयसे पूर्व पतनका क्रम नहीं होगा; किन्तु यहाँ तो ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह इन्द्र मर जाते हैं। मैं प्रथम इन्द्र हूँ—स्वायम्भुव मन्वन्तरका इन्द्र। अभी-अभी इस लोकमें आया हूँ। कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें।'

'मुझे यहाँ क्षयिष्णुताकी गन्ध आती है।' सुभद्रने सहज कहा।

'प्रतिपल यहाँसे प्राणी गिरते ही रहते हैं।' इन्द्रने स्वीकार किया—'पुण्यशेष होनेपर किसीको एक पल भी यहाँ रहने नहीं दिया जाता। लेकिन आप हमारा नन्दनकानन देखकर प्रसन्न होंगे।'

'यह पारिजात है। सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला कल्पतरु!' इन्द्रने बड़े उत्साहसे अपने सुरोद्यानमें पहुँचकर कल्पवृक्षका वर्णन किया—'आप यहाँ आ गये हैं, इससे कुछ भी माँग सकते हैं।'

'मूर्ख है तू!' सुभद्र स्वर्गमें पहुँचते ही खीझ गया था और वह खीझ मिटी नहीं थी—'मैं भिक्षक हूँ जो इस वृक्षसे मागूँगा ? मेरा कन्हाई कृपण हो गया है ?'

इन्द्रने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया; किन्तु मनमें प्रसन्न हो गये। यह बालक उन्हें पदच्युत कर देगा या स्वर्गका कोई बड़ा पद ले लेगा, यह भय मिट गया।

'ये इतने आतंकित क्यों दीखते हैं।' देवोद्यानमें बड़ी संख्या देवताओंकी थी। अप्सराएँ भी थीं। सब आनन्द-विनोदमें लगे थे; किन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही एक ओर सिमटकर संयत खड़े हो गये थे। सुभद्रने यह देखा तो पूछ लिया।

'मैं शतक्रतु हूँ—यहाँका अधीश्वर!' इन्द्रने अब सगर्व कहा—'दूसरे सब सुरोंको मेरा सम्मान करना पड़ता है और शासन मानना पड़ता है।'

'हूँ, तो सुरोंमें भी छोटे-बड़े हैं। इनमें भी स्पर्धा होगी।' सुभद्रने खिन्न स्वरमें कहा—'यह विषमता क्यों है ?'

'इनके पुण्योंके तारतम्यके कारण।' संक्षिप्त उत्तर दिया सुरेशने।

'ये कल्पवृक्षसे अधिक पुण्य या उन्नत पद क्यों नहीं माँग लेते ?' बालक सुभद्रको उन संकोचसे एक ओर सिमटे सुरोंपर दया आयी—'ये इस वृक्षसे मुक्ति, भक्ति, ज्ञान तो माँग ही सकते हैं। इतने बड़े होकर भी इनमें इतनी समझ क्यों नहीं है ?'

'कल्पतरु यह कुछ नहीं दे सकता!' इन्द्रको स्वीकार करना पड़ा—'न मोक्ष, न धर्म। केवल अर्थ और कामके सम्बन्धकी कामनाएं पूर्ण कर सकता है। ऐन्द्रियक भोग दे सकता है।'

'एक दरिद्र झंखाड़ तुमने लगा रखा है और मुझसे कह रहे थे कि मैं माँगू ?' सुभद्रने झिड़की दी इन्द्रको—'मैं इससे कन्हाईकी प्रीति माँगू तो ?'

'आप मुझपर और इस देवोद्यानपर दया कीजिये।' इन्द्रने घबड़ाकर पैर पकड़ लिये—'क्षीरोदधिसे निकला वृक्ष दूसरा नहीं है कहीं। इसके बिना स्वर्ग श्रीहीन हो जायगा। आपने ऐसी कोई माँग की तो यह निश्चय अपनी असमर्थताकी ग्लानिसे सूख जायगा।'

'तुम समझते हो कि तुम्हारी यह पुरी बहुत श्रीसम्पन्न है ?' सुभद्रने मुँह बनाया—'जहाँ क्षण-क्षण स्खलनसे ग्रस्त है, पतनसे त्रस्त है पुण्यात्मा प्राणी, अधमोत्तमकी स्पर्धा है, वासनाओंकी सडाँध व्याप्त है, वह पुरी यदि सुशोभन है तो अभागिनीपुरी और कौन-सी होगी ?'

देवेन्द्रको इस समय मौन रहनेमें ही अपनी कुशल लगी। वे जिस स्वर्गपर, जिस सुरपादपपर, जिस इन्द्रत्वपर अपार गर्व करते हैं, उस सबको जो इतने धड़ल्लेसे भाग्यहीन बतला रहा है, वह भले दीखनेमें बालक हो, उसको रुष्ट करके अपने कल्याणकी आशा नहीं की जा सकती।

'तुमने सौ अश्वमेध यज्ञ करके कोई बड़ा तीर नहीं मार लिया। यह सड़ा स्वर्ग मिला तुमको और वह भी सृष्टिकर्ताने अपने एक दिनमें चौदहको बाँटना निश्चित कर दिया।' अब गम्भीर बन गया सुभद्र—'मेरी मानो और भजन करो। अपनी सभाका यह नृत्य गीत बन्द कर दो। श्यामका सुयश गाओ-सुनो !'

'आपको कहीं किसीने नहीं बतलाया कि स्वर्ग केवल भोग भूमि है ?' इन्द्रने विनयपूर्वक कहा—'हम यहाँ कुछ भी करें, वह अपना फल देनेमें असमर्थ रहेगा।'

'देवता मूर्ख होते हैं।' सुभद्र बालक है, कुछ भी बोल पड़ता है। आप इसकी बातोंको गम्भीरतासे लें, यह उचित नहीं। यह तो कह गया—'कन्हाई और उसका नाम, सुयश सब चिन्मय, आनन्दघन। उसका फल क्या ? वह तो स्वयं फल है। अपनाओ और आनन्दमें डूबे रहो; किन्तु तुम पुण्य करके उसके फलसे स्वर्ग क्या आ गये, तुम्हें सर्वत्र फल ही चाहिये। तब दूसरा काम करो। इस निष्फल लोकमें क्यों पड़े हो ? जहाँ कर्मका फल होता है, वहाँ चलो !'

'हम इसमें स्वतन्त्र नहीं हैं।' इन्द्रने सिर झुकाये ही बतलाया—'पुण्य समाप्त होने तक हमें यहीं रहना पड़ेगा और पुण्य समाप्त होनेपर गिरा दिये जायेंगे।'

'अभागिनी है अमरावती।' सुभद्रको अरुचि हो उठी उस स्थानसे। जहाँ केवल अर्जित पुण्य-सम्पत्तिको भोगसे क्षीण ही करनेका अवसर है—उपार्जनका कोई अवसर भी नहीं, वह भी कोई रहने या टिकने योग्य स्थान है।

सुभद्रको स्वर्गमें कुछ क्षण भी रुकनेको कहना कठिन था। वह पता नहीं कब क्या कहे या करे। अतः इन्द्रने सविनय बिदा किया।



उदार यम—

अमरावतीके अधिपतिने विदा तो किया सुभद्रको; किन्तु सुरपतिने अपनी स्वाभाविक कुटिलताका त्याग नहीं किया था। वे इसे नीति कहते हैं और आप जानते हैं कि उच्च पदपर पहुँचनेवाला प्रत्येक व्यक्ति नीतिको कितना अनिवार्य मानता है। यद्यपि नीतिका सामान्य अर्थ कूटनीति है और वह व्यक्तिको सरल, सहज तो रहने नहीं देती, शान्त-निश्चिन्त भी नहीं रहने दिया करती। उसका काम ही सशंक रखना है।

सुरेन्द्रने स्वर्गके दक्षिण द्वारसे सुभद्रको विदा किया। उनका अभिप्राय उसे यमके समीप पहुँचाना था। सचमुच सुभद्र संयमिनी पुरी ही पहुँचा; किन्तु श्यामके स्वजन कहीं पहुँचें, सृष्टिकर्ताने उनके लिए संकटकी स्थिति तो बनायी ही नहीं है।

स्वर्गके स्वामी प्रमाद कर सकते थे। वे, क्या हुआ कि सौ अश्वमेध करके शक्र हुए थे, सामान्य जीव ही थे; किन्तु संयमिनीके स्वामी तो साधारण जीव नहीं होते। प्रचेताके समान वे भी कारक पुरुष होते हैं। वे द्वादश भागवताचार्योंमें हैं। वे यदि प्रमादी होते तो कन्हाई उनकी स्वसाका पाणि स्वीकार करता ?

आप उन्हें यमराज कहते हो; किन्तु हैं वे धर्मराज। अपने उत्तर द्वारपर सुभद्रका स्वागत करने स्वयं उपस्थित मिले। उन्होंने परिचय पूछनेके स्थान-पर अर्घ्य अर्पित किया और सादर ले जाकर अपने सिंहासनपर बैठाकर पूजन करने लगे।

जब कोई सविनय श्रद्धासहित सत्कार करता है, तब उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। सुभद्र शान्त बैठा रहा। पूजन पूर्ण हो जानेपर उसने पूछा—'इस शान्त भव्यपुरीका नाम ?'

'यह भयानक यमपुरी संयमिनी है।' यमराजने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'और जिसे आपने आज यह अर्चनका सौभाग्य दिया है, यह इसका सर्वथा अनधिकारी महिषवाहन अकरुण यम है।'

'यह संयमिनी है ?' सुभद्रने चकित होकर चारों ओर देखा—'इतनी भव्य और शान्त संयमिनी ? इतने विनम्र आप और आपके ये सहज सरल अनुचर।'

'इस पुरीकी एक विशेषता है।' यमने बतलाया—'इसकी चारों दिशाओंमें चार द्वार हैं। यह भावपुरी प्रत्येक द्वारसे आने वालेको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीखती है। उसीके अनुरूप मैं और मेरे अनुचर भी दीखते हैं। उत्तर द्वार तो हमारा स्वागत द्वार है। इसीसे देवर्षि यदा-कदा दया करके पधारते हैं। इसीसे एक दिन यहाँ श्रीसंकर्षणके साथ स्वयं पुरुषोत्तमको पधारना है। यहाँ हमें धन्य करने आनेवाले महापुरुष इसी द्वारसे पधारते हैं।'

'दण्डपात्र पापी भी तो आते हैं यहाँ ?' सुभद्रको उनकी स्थिति देखनेका कुतूहल जागा।

'वे हमारे दक्षिण द्वारसे आते हैं।' यमने बतलाया—'लेकिन आप उधरसे आनेकी इच्छा करेंगे तो यह पुरी स्वयं आपके लिए अदृश्य हो जायगी। सृष्टिकर्ताने व्यवस्था ही ऐसी करदी है कि यहाँ उचित अधिकारीको अपने अनुरूप द्वारसे ही आना पड़ता है।'

'आपके पूर्व और पश्चिम द्वारसे कौन आते हैं ?' जब अपनी इच्छानुसार किसी द्वारसे यहाँ आना सम्भव ही नहीं तो पूछकर ही जानना एकमात्र उपाय रहा।

'पूर्व द्वारसे पुण्यात्मा या साधक आते हैं। उन्हें स्वर्ग अथवा अन्य उत्तम लोकोंमें भेजनेकी व्यवस्था यहाँ है।' यमराजने बहुत संक्षिप्त परिचय दिया—'पश्चिम द्वार आगतोंके लिए नहीं है। यहाँकी यातनासे परिशुद्ध प्राणी उसी द्वारसे धरापर जन्म लेने जाते हैं।'

'सब जीवोंको यहाँ आना पड़ता है ?'

'केवल मर्त्यलोकके मनुष्योंको।' धर्मराजने कहा—'जो कर्मयोनिका प्राणी है, उसीके कर्मोंका निर्णय आवश्यक है। उनमें भी सब नहीं आते। जो योगी या पुण्यात्मा देवयानसे जाकर परमपद पाने वाले हैं, वे अथवा मुक्त पुरुष यहाँ नहीं आते। श्रीहरिके शरणागत, उनके आश्रितोंका तो मेरे यहाँ कोई विवरण ही नहीं रहता। उनके स्वामी ही उन्हें स्वधाम ले जाते

अथवा उनकी व्यवस्था करते हैं। मुझे उन लोगोंके सम्बन्धमें सोचनेका भी अधिकार नहीं।'

'आपके यहाँ कहीं नरक भी तो हैं।' सुभद्रने कहा--'आप कृपा करके मुझे उन्हें देखने देंगे ?'

'मुझसे कोई अपराध हो गया ?' यमराज घबड़ाकर खड़े हुए और सुभद्रके पैरोंपर सिर धर दिया उन्होंने—'आप मुझे क्षमा नहीं करेंगे ?'

'लेकिन मैंने तो आपके अपराधकी बात कही नहीं।' सुभद्र चौंक गया।

'आपने अभी कर्मलोक देखा भी नहीं है।' यमराजने कहा—'आप वहाँसे सब मर्यादाएँ भंग करके भी आये होते तो भी हम आपका इसी द्वारसे स्वागत करते। आपके सखाका मैं अत्यन्त छुद्र सेवक—आप नरकोंकी ओरसे दूरसे भी निकल जायँ तो वे नष्ट हो जायँगे। पुण्यात्मा प्राणीसे कोई प्रमाद होता है तब उसकी परिशुद्धि नरक-दर्शनका दण्ड बनती है।'

'इसका अर्थ है कि मैं आपके यहाँ कुछ देख नहीं सकता।' सुभद्रने सिर झुकाकर सोचा। उसे अब पूछकर ही जो पता लगे, वही जान सकेगा। उसने पूछा--'आप प्राणियोंको कितना दण्ड देते हैं ?'

'आप जानते हैं कि आपके सखाकी उदारताका अन्त नहीं है। दण्ड देनेकी बात तो वे तब सोचते हैं जब कोई उनके स्वजनका अपराध करे।' यमने कहा--'उनके विधानमें दया है, दण्ड नहीं है।'

'मैं तो आपके विधानकी बात पूछता हूँ।' सुभद्रको अपने सखाका स्वभाव कहाँ अज्ञात है।

'मेरा विधान कैसा ? सृष्टिमें, सभी ब्रह्माण्डोंमें केवल उनका विधान ही चलता है।' यमराजने बतलाया—'यह संयमिनीका स्वामी तो उनके विधानको सक्रिय रखनेवाला एक अत्यन्त सामान्य सेवक है।'

'आप किसीको दण्ड नहीं देते ?' सुभद्रको अद्‌भुत लगी यमकी बात।

'परिशोधनके प्रयत्नका नाम ही दण्ड पड़ गया है।' अब धर्मराजने पूरी बात समझायी—'कर्मयोनिमें जाकर प्राणी एक क्षणमें इतने पाप या पुण्य कर लेता है कि उसका परिणाम उसे युगों तक प्राप्त होता रहे। अतः जब वह देह त्यागकर यहाँ आता है, उसके पुण्य या पाप इतने अधिक हुए

कि किसी पार्थिव शरीरमें जाने योग्य वह नहीं है तब उसका प्रक्षालन करना आवश्यक हो जाता है। आप जानते हैं कि अंगरागको भी अन्ततः दूर करना पड़ता है। पुण्य अधिक हुए तो उसे भोग देह देकर पूर्व द्वारसे स्वर्ग या उपयुक्त लोक भेज दिया जाता है। पाप अधिक हुए तो इस मलको दूर करनेके लिए उसे यातना देह मिलता है। ऐसे अनेक मल होते हैं जो केवल धोने या रगड़नेसे नहीं दूर होते। संताप आवश्यक होता है। इसमें कष्ट होता है प्राणीको; किन्तु उसे स्वच्छ तो करना ही है। शोधनको सह सके, इसलिए यातना देह देकर उसे कम-से-कम कष्ट हो ऐसा विधान है। वह जैसे ही पार्थिव किसी देहको भी पाने योग्य हो जाता है, एक क्षण भी उसे यहाँ रोका नहीं जाता।'

'अन्तर्यामी हृषीकेश कर्मयोनिके प्राणीको अपथपर जानेसे बार-बार रोकते हैं।' तनिक रुककर यमराज सखेद बोले—'लेकिन वह उनकी चेतावनीपर ध्यान नहीं देता। अपनेको मलिन करनेमें सुख मानता है और तब उसे परिशुद्ध तो करना पड़ता है।'

'आपके यहाँ सब प्राणियोंका कर्म-विवरण रहता है?' सुभद्रने पूछा।

'सबका कर्म-विवरण ही कहाँ होता है। केवल मनुष्य ही कर्मयोनि-का प्राणी है। उसमें भी जो परमपदकी इच्छा करते हैं, उनको सर्वेश सम्हाल लेते हैं। उनकी प्रगति और भोगका विधान वे ही करते हैं।' यमराजने बतलाया—'यहाँ केवल वे आते हैं, जिन्हें कर्मचक्रमें अभी पड़े ही रहना है। जिन भाग्यहीनोंने अभी इससे परित्राणकी इच्छा ही नहीं की, केवल उनका कर्म-विवरण हमारे चित्रगुप्तजी रखते हैं।'

'आप उस विवरणके अनुसार दण्ड-विधान करते हैं?' सुभद्रने चित्रगुप्तसे पूछा, जो समीप ही हाथ जोड़े खड़े थे।

मेरा काम तो केवल विवरण रखना है।' चित्रगुप्तने ऐसे कहा जैसे वे अपनेको निरपराध बतला रहे हों। उन्हें भय लग रहा था। यह जो बालक आया है, वह उनके सब विवरण फाड़ डाले तो इसे कोई रोक पावेगा? यहीं यह चित्रगुप्तके ही कान पकड़े तो?

'परिशोधनके लिए आवश्यक होता है यह जानना कि मल कितना और किस प्रकारका है।' यमराजने कहा—'दण्डका तो प्रश्न ही नहीं है; किन्तु यह तो देखना ही पड़ता है कि किसी प्राणीको तनिक भी अधिक

पीड़ा न प्राप्त हो। केवल उतना शोधन जितना उसे फिर कर्मलोकमें भेजनेको पर्याप्त हो।'

'आप अत्यन्त उदार हैं।' सुभद्र सन्तुष्ट होगया—'लेकिन आप और ये चित्रगुप्तजी भी इतने समयसे मेरे सम्मुख हैं। आपके दूसरे द्वारोंसे आगत प्रतीक्षा करते होंगे। मैंने व्यर्थ आपका समय नष्ट किया।'

'आपके सखा जैसे एक ही समय असंख्य रूपोंसे क्रीड़ाएँ करते रहते हैं, कृपा करके उन्होंने इस सेवकको भी वैसी किञ्चित् क्षमता दे रखी है।' यमराजने कहा—'चित्रगुप्तजीके विवरण स्वतः इनके खातोंमें चढ़ते रहते और मेरे यम, यमधर्म आदि चार रूप हैं। चारों द्वारोंमें एक साथ मैं वहाँके कार्योंका निर्वाह करता रहता हूँ।'

'मैं यहाँसे अब मर्त्यधरापर जाऊँ तो आप मुझे सहायता देंगे?' सुभद्रने अकस्मात पूछा। पता नहीं क्यों उसके मनमें यह बात उठी।

'आपको हममें किसीकी सहायताकी अपेक्षा ही कहाँ है।' यमराजने कहा—'लेकिन आप वरुण और कुबेरको कृतार्थ कर दें। गन्धर्व लोकमें जा सकते हैं यदि अपने सखाका सुयश सुनना हो। मर्त्यलोकका मुख्य मार्ग तो पितृलोकसे है, यदि वहाँ पार्थिव देह स्वीकार करना हो।'

यमराजने कहा नहीं; किन्तु सुभद्रको स्मरण आगया कि देवर्षिने कहा है कि इस देहसे धरापर जानेपर वहाँ उसे केवल अधिकारी देख सकेंगे।



गन्धर्व लोक-

अभी सुभद्र संयमिनीके उत्तर द्वारसे निकला ही था। अकस्मात् उसके सामने एक अद्भुत नगर प्रकट हो गया। आपने कभी सुना है ?

गन्धर्व नगरोपम्या स्वप्न माया मनोरथा ।

स्वप्न, इन्द्रजालके दृश्य और मनोरथ—कल्पनाओंकी उपयुक्त उपमा है गन्धर्व नगर।

आकाशमें हल्के बादल हों तो उनमें अनेक बार हाथी, घोड़े, सेना, वृक्षादि बनते-मिटते दीखते हैं। इसे कहते हैं गन्धर्व नगर।

सुभद्रके सम्मुख जो नगर अकस्मात् प्रकट हुआ था, वह गगनमें मेघोंमें प्रतीत होनेवाले नगरसे इस अर्थमें भिन्न था कि उसमें सभी रग थे और उसके सम्पर्कमें पहुँचा जा सकता था। वैसे वह भी क्षण-क्षण रूप रंग बदल रहा था और इतना सुकोमल लगता था, जैसे सघन मेघोंसे ही बना हो।

'तुम्बरू आपका स्वागत करता है!' सुभद्र उस नगरके द्वार तक भी नहीं पहुँचा था कि सुमधुर संगीत गूंजने लगा। द्वारसे बाहर आकर गन्धर्वराजने उसे अर्घ्य अर्पित किया।

'आपसे मैं परिचित हूँ।' सुभद्रको भी लगा कि वह आगत गन्धर्व-राजको देख चुका है।

'दया करके देवर्षि अनेक बार मुझे अपने साथ परिभ्रमणमें ले लेते हैं।' तुम्बरूने कहा—'उनके अमोघ संगका प्रभाव है कि मुझे भी श्रीहरिके सुयश ही प्रिय लगते हैं।'

'वस्तुत: हम सब सुर-सेवक हैं और हमारा यह नगर, अमरावतीका ही एक उपनगर है। सो भी कल्पना-नगर।' गन्धर्वराजके साथ भीतर जानेपर जब पूजा हो चुकी, एक किन्नरने परिचय दिया—'हम कला-जीवियोंकी रुचि बहुत कोमल होती है। हमें एक ही ढंग और वस्तु दूसरोंकी अपेक्षा शीघ्र उबा देती है। अत: हमारे नगरका कोई ठोस अस्तित्व और स्थिर रूप नहीं है। यहाँ प्रत्येककी रुचिके अनुरूप पल-पल परिवर्तन होता रहता है।'

'आपका आकार ?' सुभद्र उस अश्व-प्राय-मुख किन्नरको ध्यानसे देख रहा था। बहुत सुस्वर वाणी थी उसकी और मुखके अतिरिक्त शेष शरीर बहुत सुगठित, कोमल, सुन्दर था। मुख भी था तो मनुष्यका ही; किन्तु लम्बा और अश्वसे मिलता-जुलता। लेकिन गन्धर्व तो बहुत सुन्दर थे।

'हम सुर-गायक हैं।' किन्नरने कहा—'हमारा मुख उग्र-मृदुल दोनों स्वरोंको व्यक्त करने योग्य है; किन्तु किन्नरियाँ और गन्धर्व कन्याएँ केवल कोमल स्वर ही उच्चरित कर पाती हैं।'

'हम गन्धर्व वस्तुतः वाद्य विशेषज्ञ हैं।' तुम्बरूने सुभद्रको अपनी ओर देखते देखा तो बोले—'वैसे वादकको संगीतका मर्मज्ञ तो होना ही पड़ता है और गायन भी अवसर आनेपर हम करते हैं—कर सकते हैं; किन्तु हम अपने इन गायक मित्रोंके पूरक हैं।'

'हमको अत्यल्प अवकाश है अपनी इस पुरीमें रहनेका।' किन्नरने कहा—'सुरेन्द्र तथा दूसरे सुरोंकी संगीत-सभा लगी ही रहती है और अप्सराओंका नृत्य हम किन्नरोंके गान तथा गन्धर्वोंके वाद्यके बिना तो सरस बन नहीं सकता। इसीलिए हमको ब्रह्मलोक तक आह्वान करता रहता है।'

'सुरोंकी संगीत-गोष्ठी' सुभद्रको अमरावतीकी इन्द्रसभाका स्मरण आ गया—'भगवती शारदाका प्रसाद केवल वासना-विमत्त वर्गका विनोद बननेके लिए है ?'

'आपकी वाणीके यथार्थको हम अस्वीकार नहीं करते।' किन्नरने किञ्चित लज्जानुभव व्यक्त किया—'विडम्बना यही है कि कलाजीवी प्रोत्साहन एवं प्रश्रय चाहता है। स्वयं अपनी सम्हाल और संग्रहमें हम लग जायँ तो कलाकी साधना, सेवा बनती नहीं और ऐसा प्रश्रय प्रायः उसी वर्गसे मिलता है, जिसे आप विलासी कहते हो।'

'हममें जो भी सफल साधक हैं, जिनपर भगवती वीणापाणिने सचमुच कृपा की है, वे विलासी वातावरणसे वितृष्ण होते हैं।' तुम्बरूने कहा—'काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य तथा तक्षणादि सब कलाओंके सम्बन्धमें परम सत्य यही है कि उनकी सार्थकता ही श्रीहरिकी सेवामें है। यह भी कि उन पूर्ण पुरुषोत्तमका प्रसाद बने बिना कहीं पूर्णता नहीं आया करती।'

'आपका यह लोक' सुभद्र अधिक कला-चर्चामें रस ले सके, ऐसी मनोवृत्ति उसकी नहीं। बालक गम्भीर चर्चा क्या जाने और सुभद्रको तो वाद्य, नृत्य, संगीतमें भी रस नहीं। इसे अपने कन्हाईके नृत्य और वंशी ध्वनिसे श्रेष्ठ संगीत-नृत्य कोई दे सकेगा ?

'हमारा लोक यदि सुस्थिर, कोई एक रूप स्थिर होता तो हम आपको नगर-भ्रमण करा देते; किन्तु इसे आप जैसा देखना चाहते हैं, यह तो यहीं वैसा बनता जा रहा है।' तुम्बरूने अब अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना की—'जिसके समीप जो होता है, उसीसे वह श्रीहरि और उनके जनोंकी सेवा करता है। हमारी सम्पत्ति तो गायन, वाद्य, नृत्य है। आप आ गये है तो हमें सेवाका सौभाग्य दें। हमारी कला भी सार्थक हो, कृतार्थ हो।'

'ऐसा नहीं है कि हमारी कला विलास-कलुष ही हो।' किन्नरने भी हाथ जोड़ा—'श्रीहरिकी आराधनाका इसे श्रेष्ठ साधन महर्षियोंने स्वीकार किया है। हम आपके सखाके सुयशको ही साकार करनेका प्रयत्न करेंगे।'

'मैं कन्हाईका कीर्ति-गान सुनने ही यहाँ आया।' सुभद्र प्रसन्न हो गया। संयमिनीसे यह संकल्प लेकर न चला होता तो यह गन्धर्वपुरी उसके सम्मुख प्रकट ही क्यों होती।

वहाँ कोई आयोजन नहीं करना था। उस संकल्प पुरीमें तो सोचा और साकार हुआ। अत्यन्त विशाल सभा-भवन सुसज्ज दीखा जहाँ वे बैठे थे और दिशाएं सुरभिसे झूम उठी थीं।

सुभद्र भी एक बार खिल उठा। उसे लगा कि अपने गोलोकके पश्चात् यहीं उसे सौन्दर्य एक साथ इतना देखनेको मिला है। क्या हुआ कि वह अवर्णनीय दिव्यत्व नहीं और न वह सहज भाव—यहाँ सबमें संकोचका सम्मिश्रण है; किन्तु जो सहस्र-सहस्र किन्नरियाँ, गन्धर्व-कन्याएँ आ गयी थीं नृत्यके लिए सुसज्ज—सौकुमार्य, ललित लावण्यकी वे साक्षात् प्रतिमाएँ।

गन्धर्व तरुणोंने विविध वाद्य मिला लिये क्षणार्धमें और किन्नरोंकी स्वर लहरीके साथ वे सुषमाकी मूर्तियाँ लहराने लगीं।

व्रजराज दुलारे भूल न जाना।
आना, आना, हमारे घर आना।
भटक न जाना॥

छहर छहर मोर मुकुट
लहर लहर वनमाल।
गोपाल प्यारे,
भुजभर हृदय लगाना।
हमें भूल न जाना ।।

भले फूटें दधिभाण्ड,
क्षीरोदधि प्रवह-माण्ड
नवनी भोग लगाना,
कहीं भटक न जाना !

व्रजराज दुलारे !
कन्हाई प्यारे !
मोर मुकुट वारे !
हमें भूल न जाना !

सुभद्र डूब गया—भूल गया कि वह कहाँ बैठा है। भूल गया कि सुर-सुन्दरियोंका भी तिरस्कार कर सकें ऐसी सहस्रशः किन्नरियाँ, गन्धर्व-कन्याएँ सम्मुख थिरक रही हैं स्वरको लहरीपर। गन्धर्वोंके वाद्यों और किन्नरोंके संगीतके साथ राग-रागिनियोंके अधिदेवता साकार हो गये हैं।

सुभद्रका दिव्य देह रोमाञ्चित हुआ, स्वेद स्नान हुआ और कम्पित होने लगा। ऐसा कम्प जैसे प्रबल शीतज्वरमें भी कदाचित ही होता है।

कलाकार ही नहीं जो अपनी कलाको जब रूप देने लगता है, तब सावधान रह सके। वहाँ सब स्वर तन्मय थे। किसीको अपने ही शरीरका स्मरण नहीं था तो यह कैसे पता लगता कि सुभद्र कब मूर्च्छित हो गया है।

'कन्हाई ! कनूँ !' मूर्छामें भी जैसे हृदय हाहाकार करके पुकार रहा हो।

'भूल न जाना !' क्या है, क्या है यह ? इतना आग्रह, इतना प्राणोंमें प्रवेश करता अनुरोध, तो अपना कन्हाई भूल भी जा सकता है ?

स्वर, संगीत, नृत्य-कला क्या जो भावको हृदयका सच्चा भाव न बना दे। सुभद्रका हृदय मथ उठा—जैसे फट जायगा—'कन्हाई भूल भी जा सकता है ?'

लेकिन कन्हाई—व्रजेन्द्रनन्दन अपनोंको भूला नहीं करता। गन्धर्व-कन्याओंको पता नहीं लगा, किन्नरियोंको भी पता नहीं लगा कि कब उनके नृत्य करते पद रुके और वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं।

वाद्य लिये गन्धर्वगण मूर्छित पड़े थे। उनके कर जैसे थे वैसे ही रह गये थे और किन्नरोंके मुख आलाप लेते खुले रह गये थे।

भुवन-मोहिनी मुरली बजती है तो कहीं कोई सावधान रह पाता है? लेकिन उस अमृतनादने सुभद्रको सावधान कर दिया। उसकी मूर्छा भंग हुई और वह ताली बजाकर हँस पड़ा—'भला अपना कन्हाई भी कहीं भूला करता है।'

'कलाकार भावुक होते हैं। ये सब केवल टिन्-पिन् ही नहीं करते, झटपट थककर सो भी जाते हैं।' उसने मूर्छिता गन्धर्व-कन्याओं और किन्नरियोंको भी देखा—'ये छुई-मुई-सी लड़कियाँ—बहुत उछली-कूदीं, अब इन्हें सोना चाहिये।'

सुभद्र चुपचाप धीरेसे खिसक चला। मूर्छा टूटनेपर सब स्वतः समझ लेंगे कि अतिथि भाग गया।

वायु लोक—

अनारोपिताकार प्रवहमान वायुका कोई लोक नहीं हो सकता; किन्तु वायु लोकपाल हैं। उनकी दिशा है। पश्चिम-उत्तरके मध्यकोणको आप वायव्य कोणके नामसे जानते हैं। इसका अर्थ ही है कि वायु देवता हैं और साकार देवता हैं। इसलिए वायुका लोक है।

जैसे दीखनेवाले चन्द्र और सूर्य केवल पार्थिव पिण्ड हैं, पृथ्वी पिण्ड है, लेकिन इनके अधिदेवता हैं। आप भूमिपर रहते हो, किन्तु साकार भूदेवीको जानते हो ? ऐसे ही चन्द्रदेव या सूर्यनारायण भी आपसे अपरिचित हैं। अपरिचित ही हैं वायुदेव भी। आप तो केवल स्थूल उस वायुको जानते हो जिसकी तन्मात्रा स्पर्श है, जिसका गुण स्पर्श है, जिसके द्वारा आप कोमल-कठिन, शीत-उष्णका ज्ञान प्राप्त करते हो।

यहाँ इस प्रवहमान वायुतत्त्वकी चर्चा नहीं। चर्चा इस वायुके अधिदेवताकी और उनके लोककी। सुभद्र अचानक चल पड़ा था गन्धर्व-लोकसे और अनिच्छापूर्वक संयोगवश ही वायु लोक पहुँच गया।

इन्द्रकी कृपा और माता द्वारा श्रीहरिकी आराधनाने दिति-पुत्र होनेपर भी जिन्हें देवत्व दे दिया वे उनचास वायु सशरीरी मिले सुभद्रको।

वायु लोक और उसके शरीर जैसे दीखकर भी न दीखते हों। वे पारदर्शी हैं अथवा सुचिक्कण, कोमल हैं या केवल कोमल लगते हैं – कुछ निश्चयपूर्वक उनके सम्बन्धमें कहा नहीं जा सकता।

अपने ढंगसे उस वायु लोकमें सुभद्रका स्वागत हुआ। उसे लगा कि अत्यन्त सुखद स्पर्श उसे प्राप्त हो रहा है। ऐसा तो नहीं जैसा तब प्राप्त होता है जब कन्हाई कण्ठमें भुजाएँ डालकर लिपट जाता है। उसकी तो समता नहीं' वह तो प्राणोंमें बसा है। लेकिन इतना सुखद स्पर्श जिसकी सृष्टिमें समता नहीं। कोई वस्तु छूती नहीं लगती थी; किन्तु स्पर्शका सीमाहीन सुख मिल रहा था।

'आप सब इतने हैं ?' सुभद्र ही था कि वहाँ बोल सका। दूसरा कोई होता तो उस सुख-स्पर्शमें डूब जाता।

'तुमने हमको एक ही समझा होगा।' प्राण वायुने ही सबका नेतृत्व किया।

'आप सब इतने दीखकर भी एक दीखते हो।' सुभद्रने अपने आश्चर्यका कारण स्पष्ट किया।

'हम एक ही माताके उदरसे एक साथ उत्पन्न एक शरीरके ही इतने भाग हैं।' प्राणने कहा—'इन्द्रने हमारे इतने भाग कर दिये माताके उदरमें ही; किन्तु हमको कृपा करके भाई बना लिया।'

'इसीसे कहीं कोई समझ नहीं पाता कि आपमें-से कौन कहाँ सक्रिय है।' सुभद्रने सहज कहा।

'प्राण, अपान, उदान, व्यान और समानका भेद मानव-शरीरके विशेषज्ञ समझ गये हैं।' प्राणने ही कहा—'योगीगण नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जयकी स्थिति शरीरमें और इनका कार्य भी जानते हैं।'

'आंधी, झञ्झा और सामान्य वायुका अन्तर भी समझना सरल है।' सुभद्रने कहा।

'आप हमारे और भी कई भेद सरलतासे समझ सकते हैं।' प्राणवायुने बतलाया—'सागरमें लहरें उठती हैं, ग्रहोंमें गति है और पदार्थोंमें परिवर्तन होता रहता है। इस सबका कारण भी हमको ही रहना पड़ता है।'

'मैं चलता हूँ इसके कारण भी ?' सुभद्रने हँसकर पूछा।

'जहाँ भी गति है' वह अणुकी हो या प्राणीकी, गतिका वहन तो हमारा कार्य है।' प्राणने समझाया—'सृष्टिकर्ताने यह सेवा हमें दे रखी है। विभिन्न रूपोंमें हम इसे सम्पन्न करते हैं।'

'साथ ही अदृश्य रहते हैं और सबमें प्रविष्ट भी रहते हैं।' सुभद्रने सोचकर कहा—'आप सब सदा सक्रिय रहते थकते नहीं ?'

'हम सब सदा सक्रिय नहीं रहते। हममें-से कुछकी सक्रियता केवल प्रलयके निमित्त जागती है।'

'यहाँ वे सोते रहते हैं ?' सुभद्रको कुतूहल हुआ।

'हमारा यह लोक तो केन्द्र है। प्रत्येक शक्तिका केन्द्र शिथिल-शान्त ही दीखता है।' वायुको भी समझानेके लिए शब्द नहीं मिल रहे थे—'लेकिन हमारा यह भ्रम कि हम स्वयं अनन्त शक्ति, सर्व समर्थ हैं, उस दिन

मिट गया जब सर्वेश्वर यक्ष रूपमें प्रकट हुए। उनके सम्मुख हम सब मिलकर भी एक तृणको उड़ा नहीं सके थे। शक्ति तो उनका प्रसाद है।'

'कन्हाईने आप लोगोंके साथ भी नटखटपना दिखाया लगता है।' सुभद्र हँसा —'वह है ही ऐसा।'

'वे अतिशय उदार तथा कृपामय हैं।' वायुने विनम्रतापूर्वक कहा— 'उन गर्वहारीने उचित समयपर हमें समझा दिया कि वही शक्ति-स्वरूप हैं। हमको भले शक्रने देवत्व दे दिया; किन्तु हैं तो हम इन्द्रके किंकर ही। हमारा अभिमान उचित नहीं था।'

'आपका लोक....।' सुभद्र वायु लोकके लगभग द्वारपर ही है—यह उसने अनुभव किया। वहाँके लिए देखनेका प्रयोग नहीं किया जा सकता, लेकिन बालक सुभद्र सोचता था कि वह इस लोकको भी देखेगा।

'शक्तिका केन्द्र अप्रवेश्य होता है। वहाँ कोई भी अन्य व्यक्ति या तत्त्व प्रवेश करे तो क्षोभ उत्पन्न होता है।' वायुदेवने कहा—'आप हमें क्षमा करें। आप भी नहीं चाहेंगे कि सम्पूर्ण सृष्टिमें व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाय।'

'मैं किसी व्यवस्थामें व्याघात नहीं बनना चाहूँगा।' सुभद्र समझ गया कि वायुके लोकको भी दृश्य नहीं बनाया जा सकता। अतः इन उनचास वायु देवताओंसे ही पूछकर उनके सम्बन्धकी जानकारी पानी पड़ेगी—'आप सब सम्पूर्ण वस्तुओंमें व्याप्त रहते हैं।'

'आप ऐसा कह सकते हैं।' प्राण वायुने ही कहा—'हमारी दृष्टिसे तो कोई वस्तु है ही नहीं। हमारा ही घनीभाव सृष्टि है।*

'हमारा यह लोक गतिका केन्द्र है।' सुभद्रको सोचते देखकर वायु-प्राण वायुने ही कहा—'इस केन्द्रमें हममें-से कुछ शान्त स्थिर रहते हैं। वे भी सक्रिय हो जायँ तो सृष्टिमें गति इतनी उग्र-प्रचण्ड हो उठती है कि प्रलय हो जाती है। कुछ हममें-से सदा सक्रिय रहते हैं और कुछ विशेष अवसरों-पर शक्रके संकेतसे सक्रिय होते हैं।'

---

* इसीलिए सब पदार्थोंका वाष्पीकरण सम्भव है। भारतीय दर्शनके अनुसार वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। अतः ठोस पदार्थोंको तरल और तरलको वाष्प बना दिया जा सकता है।

'सृष्टिमें अकस्मात् उपद्रव शक्र क्यों कराता है ?' सुभद्रको इन्द्र अच्छा नहीं लगा था। यहाँका विवरण सुनकर फिर झुंझलाहट जागी—'यह इसीलिए सुरपति है ?'

'शासकको कभी कठोर भी होना पड़ता है।' प्राण वायुको लगा कि किसी प्रकार इस बालकको सन्तुष्ट करना चाहिये। इसका क्षोभ यदि शक्रके लिए कोई अपशकुन बने, वायुगणको भी बुरे दिन देखने पड़ सकते हैं। अतः उन्होंने प्रसंग परिवर्तित किया—'आपने सुना होगा कि समस्त सिद्धियाँ प्राणायामका प्रसाद हैं। प्राणायामका अर्थ ही है हमारी गतिका नियन्त्रण।'

'मुझे नासिकोत्पीड़न अच्छा नहीं लगता।' सुभद्र हँस पड़ा— 'कन्हाई किसी जटाधारीके साथ कभी परिहास करना चाहता है तो तुम्हारी ये सिद्धियाँ दे देता है। बेचारा कभी चिड़ियोंकी भाँति उड़ता है और कभी छोटा या बड़ा बनता है। कभी भारी या हल्का होता है। यह कान पकड़कर उठने-बैठनेके समान व्यायाम—आज पता लगा कि आप लोग ही इन जटा-जूटवाले लोगोंको बहकाकर इन्हें उलझा देते हो।'

यह अच्छी रही। वायु देवताने तो सिद्धिका वरदान देना चाहा था। उलटे उन्हें चिन्ता हुई कि कहीं शाप न प्राप्त हो जाय। झटपट बोले— 'हमारा कोई अपराध नहीं है। हम तो किसीको भी सिद्धि न दें; किन्तु स्वयं प्राणी प्रलुब्ध होकर श्रम करता है, तब उसका अभीष्ट उसे न देना क्या उचित होगा ?'

'अनिच्छुकको आप सिद्धि नहीं देते ?' सुभद्रके स्वरमें झिड़की थी। वह स्वयं कहाँ कोई सिद्धि चाहता है कि उसके सम्मुख यह प्रस्तावना प्रारम्भ की गयी।

'हम अपनी शक्तिके अनुसार सेवाको प्रस्तुत हैं, केवल इतनी सूचना देना था मुझे।' प्राण वायुको अपनी भूल समझमें आ गयी थी—'वैसे अनिच्छुक साधककी सेवामें भगवती माया जब सिद्धियाँ भेजना चाहती हैं, हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हममें इतनी क्षमता ही नहीं है।'

'यह छोटी बहिन भी कन्हाईके समान ही नटखट है।' सुभद्र हँस पड़ा। 'इसे भी कुछ खटपट करते रहनेको चाहिये। यह भी शान्त नहीं बैठ सकती।'

'वत्स ! तुम किसे शान्त बैठा रहे हो ?' सहसा एक ओरसे शब्द आया। 'सृष्टिमें जीवन कहते ही गतिको हैं और यह कभी निर्णय नहीं हो पावेगा कि वायुसे मेरा भेद कहाँ है। वैसे मैं गतिके स्थानपर उष्णताको जीवन कहता हूँ।'

'सुभद्रने देखा कि द्विमूर्धा, सप्तजिह्वा अग्निदेव अपने बकरेसे उतर रहे हैं तो उसने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

'इन वायु देवताओंने बता दिया होगा कि शक्तिका केन्द्र अप्रवेश्य होता है।' अग्निदेवने आशीर्वाद देकर कहा—'इसलिए मैं तुम्हें अपने लोककी स्थिति समझा देने यहीं आगया।'

अग्नि लोक—

'अग्नि और वायु अभिन्न हैं।' अग्निदेव ही कह रहे थे— 'वायुसे हमारी उत्पत्ति हुई, केवल इस अर्थमें ही नहीं* और इस अर्थमें भी नहीं कि हम नित्य सहचर हैं। इस अर्थमें भी कि हम एक-दूसरेका रूप, कार्य भी सम्पादन करते हैं। गतिका ही दूसरा रूप ऊष्मा है।'

'जैसे हम उनचास हैं, अग्नि भी उनचास हैं।' प्राण वायुने बतलाया— 'लेकिन हम जैसे सब सगे भाई हैं, वैसे नहीं। इन अग्निदेवका परिवार तो पुत्र-पौत्र सहित पूरा होता है।'

'अग्निदेव स्वयं धर्मके पुत्र हैं। उनके तीन पुत्र हुए—पावक, पवमान और शुचि। इन तीनोंके पन्द्रह-पन्द्रह पुत्र हुए। इस प्रकार यह परिवार उनचासका हो गया।

'केवल वैदिक यज्ञमें हमारे पूरे परिवारको स्मरण करके आहुति दी जाती है। अन्यथा तो उनका स्मरण कोई करता नहीं। प्रलयमें ही सब अग्नि सक्रिय होते हैं।' अग्निदेवने समझाया—'संसारका काम हमारे त्रिविध रूपोंसे चल जाता है। तुम भौम (काष्ठादिसे जलनेवाले), दिव्य (विद्युत) और जाठर (पाचन क्रिया करनेवाले) हमारे रूपोंसे परिचित हो।'

सुभद्र बालक था। कर्मकाण्डके विद्वान ही गार्हस्पत्य, आवहनीय, सभ्याग्नि और दक्षिणाग्निका भेद जानते हैं। वैसे वैदिक विद्वान तो आवसथ्य तथा औषस अग्निसे भी परिचय रखते हैं।

साधारणतः हम-आप साधारण अग्नि जानते हैं जो हमारे-आपके काम आते हैं। अब तो दिव्य अग्नि—विद्युतके रूपमें हमारे अधिक उपयोगी हो गये हैं। समुद्रमें वाड़वाग्नि है और ज्वालामुखी कहीं फूटता है तो पृथ्वीके पेटमें रहनेवाले अग्नि प्रकट होते हैं। ऐसे ही आहारके पाचनकी क्रिया जिस उष्णतासे होती है, उसे जठराग्नि कहा जाता है।

---

* आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेराषः, आपात् पृथिवी।—सांख्य

केवल वन्य जातियाँ और बहुत निपुण वन-विभागके कर्मचारी ही सामान्य अग्नि और दावाग्निका भेद पहिचान पाते हैं। विज्ञान तो अभी इस विषयमें कुछ जानता नहीं।*

अभी किसीने वर्गीकरणका प्रयत्न नहीं किया। कोई करे तो अनेक अग्नियोंके भेद मिल जायँगे। आयुर्वेद स्वर्ण और पारदको अग्नि ही मानता है। एसिड (तेजाब) अग्नि ही है, यह आप जानते हैं और बारूदको अग्नि माननेमें कोई आपत्ति करेगा ?

'वत्स ! संग-दोष बहुत बलवान होता है।' वायुदेवने कुछ व्यंगके साथ कहा—'सर्वभक्षी होनेका शाप तो अग्निदेवको प्राप्त हुआ; किन्तु इनके संगके कारण मैं भी सर्वग्राही हो गया।'

'यह अनिवार्य नियम मत मान लेना।' अग्निने प्रतिवाद किया—'मेरा लोक वायु लोकसे सर्वथा विपरीत दिशामें है। पूर्व-दक्षिणका कोण मेरा। इतनी दूर वायु लोक, और मेरी अपनी पत्नी स्वाहा परम पवित्र है। वह केवल सुरोंकी आहुतियोंका वहन करती है। उसके पातिव्रतने उसे संग-दोषसे असंपृष्ट रखा। समर्थ पुरुष संगको अपने समान बना लेते हैं। उससे स्वयं दूषित नहीं हुआ करते।'

'आपका लोक ?' सुभद्रने पूछा।

'वह तुम सुकुमारके देखने योग्य नहीं है।' कहकर भी अग्निदेव सावधान हो गये—'मैं जानता हूँ कि तुम सूर्यमण्डल हो आये हो। मेरा लोक उतना ही दाहक; किन्तु वहाँ हम सब ज्वालामूर्ति हैं। एक ही रंग तो वहाँ नहीं है; परन्तु है सब उष्ण और जानते ही हो कि अग्नि मनमें हो तो क्रोध बनता है और पदार्थ बने तो विष बनेगा यदि स्वर्ण न बन सका।'

'भगवन् ! विष और स्वर्णमें कोई समन्वय है ?' सुभद्रको कुतूहल हुआ।

'तुम भिषक् बनोगे ?' अग्निदेवने सहज पूछा—'पारद अग्नि है और विष भी है। वह शोधित होकर अमरत्व दे देता है। स्वर्ण बना देता है धातुओंको। तुमको रस-सिद्धिके लिए श्रम नहीं करना पड़ेगा।'

* किसीके द्वारा लगायी या लगी अग्नि वनमें एक ओरसे बढ़ती है। लेकिन दावाग्निका स्वभाव दोनों किनारोंसे घेरा बनाते बढ़ना और मध्यके क्षेत्रको छोटा करते जाना है। वनवासी दावाग्नि पहिचानकर घिर जानेसे पहिले भाग पड़ते हैं।

'मुझे कोई सिद्धि नहीं चाहिये।' सुभद्रने अस्वीकार कर दिया— 'लेकिन मनमें आया आपका रूप क्रोध—उसका भी पारदके समान परिपाक होता होगा ?'

'वैराग्य वही तो बनता है।' अग्निदेवका स्वर शिथिल हो गया— 'यहाँ वरदान देनेकी स्थितिमें मैं नहीं हूँ। ओज-तेज, विवेक-वैराग्य, ज्ञान-भक्तिके एकमात्र आश्रय श्रीकृष्ण। उनके स्वजनोंका क्रोध भी कल्याण करता है। अग्नि केवल तुम्हारी कृपाकी कामना करता है।'

'मेरे इन अभिन्न मित्रका मूल निवास भगवान् प्रलयङ्करके तृतीय नेत्रमें है।' वायु देवने अग्निकी प्रशंसा की—'विराट् पुरुषके ये तृतीय नेत्र हैं और वाक् इन्द्रिय इनसे अधिष्ठित है। तुम इनके वरदानकी अवमानना मत करो।'

'मैं कहाँ अवमानना करता हूँ।' सुभद्रने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'आप दोनों वरदान दें कि मेरी गति, वाणी, शक्ति, सब कन्हाईको छोड़कर कहीं भटकें नहीं। किसी अन्यको सन्तुष्ट करनेका साधन न बनें।'

'एवमस्तु !' दोनों देवताओंने एक साथ कह दिया—'हम अपनी सामर्थ्यके अनुसार सदा इस सम्बन्धमें सावधान रहेंगे।'

'वत्स ! अभी तुम संसारमें जा रहे हो।' अग्निदेवने स्नेहशिक्त स्वरमें कहा—'तुमने रससिद्धि अस्वीकार कर दी, इससे समझ गया कि तुम वहाँ कल्पान्त अमर होकर रहना नहीं चाहते; किन्तु अग्निकी तन्मात्रा रूप है और इसकी इन्द्रिय नेत्र है। तुमको सौन्दर्य तो अभीष्ट होगा ?

'कन्हाईका रूप तो मुझे सदा आकृष्ट करता है।' सुभद्रने प्रसन्न होकर कहा—'उससे सुन्दर कोई है ? सृष्टिमें आपने किसीको इतना रूप दे दिया····।'

'उन सौन्दर्य-सिन्धुके सीकरसे सृष्टि सुन्दर बनती है।' अग्निदेवने हाथ जोड़ा—'मेरा तात्पर्य था कि संसारमें तुम एकाकी तो नहीं रहोगे। तुम्हें सुन्दर लड़कियोंकी····।'

'मैं एकाकी क्यों रहूँगा ? कन्हाईको मेरे साथ रहे बिना कल पड़ेगा ?' सुभद्र सुप्रसन्न कह रहा था—'लेकिन उसे विवाह करनेका चाव

चढ़ा ही रहता है। सृष्टिकी सब सुन्दर लड़कियाँ मुझे मिलें तो मैं सबका कन्हाईसे विवाह कर दूँगा। केवल एक कठिनाई मुझे लगती है।'

'वह क्या ?' वायुदेवको लगा कि सम्भव है सेवाका कोई अवसर मिल जाय। ऐसे अवसरमें वे अपने अभिन्न मित्र अग्निको भी सम्मिलित करनेको प्रस्तुत नहीं थे।

'सब लड़कियाँ झट रूठती हैं और रोने लगती हैं।' सुभद्रने कहा—'इनके संगसे कहीं कन्हाई रूठनेवाला बन गया तो ? उसका रुदन तो सहा ही नहीं जा सकता।'

'तुम्हारे सखाके योग्य लड़कियाँ सृष्टिमें कहाँसे होंगी।' अग्निदेवने कह दिया—'वे तो केवल तुम्हारे अपने लोकमें हैं। सृष्टिमें तो उनके प्रतिबिम्ब भी विकृत हो जाते हैं।'

वायु और अग्नि दोनों देवता हैं। देवताओंको भला क्यों अनुभव होगा कि पृथ्वीपर मनुष्योंको स्वेद भी आता है और जब स्वेद आवेगा तो तनिकसे प्रमाद या संग-दोषसे सुदीर्घ केशोंको स्वेदज जूँ अपना विहार-वन अवश्य बना लेंगी। सुभद्रको कोई कह देता कि लड़कियोंके लम्बे केशोंमें जुएँ भी हो सकते हैं तो कम-से-कम पृथ्वीपर तो वह अपने सखाके विवाहकी बात भूल ही जाता। उसके कन्हाईकी कोमल, घुंघराली, घनी अलकें—पर किसी देवताने सुभद्रके मनमें केशोंमें जूँकी बात नहीं कही, यह अच्छा ही हुआ। वह पृथ्वीपर भी जब आया, उसके मनमें यह वितृष्णा नहीं थी।

'दो कोण दिशाएँ और भी तो हैं ?' सुभद्रने देख लिया कि वायु और अग्निके लोकोंको अप्रवेश्य कह दिया गया है तो पता नहीं शेष दोनों कोणोंकी क्या स्थिति हो। वह यहीं पूछकर जान लेना चाहता था।

'दिशाएँ तो दस हैं और उनमें-से अधिक तुम देख चुके हो।' वायुदेव विवरण देने लगे—'पूर्व दिशाके दिक्पाल देवराज इन्द्र हैं। तुम उनके स्वर्ग हो आये हो।'

'स्वर्ग कोई अच्छा स्थान नहीं है।' सुभद्रके मनमें अब तक वितृष्णा बनी है—'उससे उत्तम तो धर्मराजकी पुरी संयमिनी है।'

'वह दक्षिणमें है। यमराज दक्षिणके दिक्पाल हैं। पूर्व और मध्य इन अग्निदेवका लोक है।' वायुदेव कहते गये—'दक्षिण-पश्चिमके मध्यके कोणका नाम नैऋत्य है। निऋति देवता नरकोंके संरक्षक हैं।'

'धर्मराजने मेरे लिए उसे अदृश्य बतला दिया।' सुभद्रने कहा।

'ठीक ही कहा उन्होंने।' वायुदेव सुभद्रको इस विषयमें उदासीन ही रखना चाहते थे। अतः विवरण देते गये—'पश्चिम-उत्तरके वायव्य कोणमें मेरी पुरीके द्वारपर आप उपस्थित ही हैं। उत्तरके दिकपाल कुबेर और पश्चिमके वरुणदेव। लेकिन वरुणकी पुरी विभावरी समुद्रके भीतर है।'

'तुम उत्तर-पूर्वके मध्य कोण ईशानके अधिदेवता भगवान शिवसे परिचित हो।' अग्निदेवने इस परिचयको पूरा कर दिया—'कुबेरकी अलकापुरी शिवके कैलाशके समीप ही है। ऊर्ध्वके अधिष्ठाता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और अधःके भगवान् शेष।'

'मैं सृष्टिकर्ता और भगवान शेषके भी समीप हो आया हूँ।' सुभद्रने स्वतः कह दिया—'लेकिन आप दोनोंने पार्थिव जगतमें कहाँसे उतरना सुगम है, यह कुछ नहीं बतलाया।'

'नैऋत्य कोणमें ही पितृलोक है अन्तरिक्षमें।' वायुदेवने कहा—'वैसे चन्द्रलोकका अन्तराल है वह। अर्यमा उसके अधिष्ठाता हैं। परन्तु आपको वह बहुत नीरस लगेगा। उससे बहुत उत्तम है प्रचेता (वरुण) की पुरी।'



वरुणकी व्यथा–

अगाध अनन्त उच्छलित उदधि अपनी गहराईमें ऐसा शान्त था, जैसे वहाँ कभी कोई हलचल होती ही न हो। समुद्रके मध्यकी वह विभावरी पुरी; किन्तु इस वर्णनके आधारपर कोई पनडुब्बी पानीमें उसे पानेका प्रयत्न करेगी तो मूर्खता करेगी। दूसरे दिक्पालोंकी पुरियोंके समान प्रचेताकी पुरी भी सूक्ष्म जगतमें ही है। वरुण कोई पार्थिव प्राणी नहीं हैं। वे जलाधिदेवता हैं।

सुभद्रके पहुँचते ही अनेक रंगोंकी छोटी चपल मछलियोंने उसका शरीर मुखसे स्पर्श किया। वे लाल, नीली, सुनहली या रजत-श्वेत चमकीली मछलियाँ जैसे जलपरी हों। उनके स्पर्शसे एक गुदगुदी उठती थी।

'वत्स ! हमारे जल-जन्तुओंकी यह स्वागत पद्धति है। लेकिन इनमें सब दन्तहीन हैं। भयका कारण नहीं है।' अचानक श्वेत सुगठित प्रलम्ब शरीर, अत्यल्प केश, पाशहस्त जलाधिदेवता स्वयं द्वारके समीप आ गये। उनके वस्त्र जैसे लहरोंसे ही निर्मित हों।

सुभद्र अब तक चकित उस पुरीको देख रहा था। उसका सम्पूर्ण निर्माण शङ्ख, मुक्ताशुक्ति और घोंघोंसे हुआ था। मुक्ताकी झालरें ऐसी लगती थीं जैसे जलबिन्दु स्थिर हो गये हों।

वरुणके आगमनके साथ छोटी मछलियाँ भाग गयीं। सुभद्रने प्रणाम किया। जलके देवताने एक सेवककी ओर संकेत किया—'यह तुमको पुरी दिखला देगा। जो जानना चाहोगे, बतला देगा। हम तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगे।'

वरुणका वह चर—सुभद्रने ऐसा कोई प्राणी अब तक नहीं देखा था। वह दैत्य था; किन्तु सींगवाला जलचर दैत्य। आकृतिमें बड़े घोंघेके भीतर होनेवाले प्राणीके समान; किन्तु बहुत विशाल। था तो पादचारी, परन्तु मछलियोंके समान तैर सकता था।

'हम उपदेवता कामरूप होते हैं। मैं तुम्हारे समान आकार अभी बना ले सकता हूँ।' उस विचित्र प्राणीने कहा—'किन्तु हमारे सागरके

सब जीव सौम्य ही नहीं हैं। वे सब सानुकूल रहेंगे यदि मैं अपने इसी आकारमें रहूँ।'

'मुझे तुम्हारे आकारका प्रयोजन भी क्या है।' सुभद्रने उसे उसी रूपमें साथ रहनेकी स्वीकृति दे दी।

'आप यहींसे एक दृष्टि उदधि देख लें।' उसने पता नहीं अपनी किसी सिद्धिका प्रयोग किया या कुछ और—सुभद्रको लगा कि समुद्रका बहुत बड़ा भाग पारदर्शी जैसा हो गया है।

सचमुच सागरमें योजन-विशाल प्राणी थे। महामत्स्य तिमि, तिमिंगल, महासर्प ही नहीं, उसे जलघोटक, जलगज और उनसे भी भयानक प्राणी दीखे। अष्टपद तो बहुत छोटा लगता था। असंख्य प्रकारके मत्स्य और उनमें-से भी अनेकोंके शरीरमें जोंकके समान चिपटे भारी सर्पाकार प्राणी।

बहुत सुन्दर जलजीव भी थे और वे भी असंख्य थे। समुद्र सचमुच रत्नाकर है। उसमें केवल मूंगेके पर्वत और मुक्ताके अम्बार ही नहीं हैं, दूसरे रत्न, धातुएँ भी इतनी हैं कि पृथ्वीपर उनकी कल्पना नहीं। समुद्री जीवोंके मरनेपर उनका जो खोल बचता है—शङ्ख, शुक्ति, घोंघा जैसे कुछ नाम ही हम उनके जानते हैं। लेकिन उनके भेद और संख्याका ठिकाना नहीं।

समुद्र गर्भके अद्‌भुत उद्यानको देखकर सुभद्र प्रसन्न हो गया। उसे बरुणके चरने बतलाया—'हमारा यह उद्यान कठोर-स्पर्श है और सागर-गर्भमें सूर्यकी किरणें न पहुँचनेसे इसमें केवल श्वेत रंग है। वस्तुतः यह भी जलजीवोंके शरीरोंका खोल ही है। वैसे इसमें कोमल स्पर्श भी बहुत हैं।'

'अनेक धाराएँ-सी देखता हूँ।' सुभद्रने जिज्ञासा की—'कुछ धाराएँ तो प्राणिहीन प्रतीत होती हैं।'

'सागरमें इतनी सरिताएँ हैं कि पृथ्वीपर सम्भव नहीं।' वरुण-चरने बतलाया—'इन्हें धारा कहा जाता है। इनमें अनेक अत्यन्त उत्तप्त हैं। आपने सुना ही है कि उदधिके अन्तरालमें बड़वाग्नि है। ये अपनी चौड़ाईमें सरिताओंसे कई गुनी अधिक हैं।'

'ये गायें !' अचानक समुद्र तलमें घूमती कुछ गायोंको देखकर सुभद्र प्रसन्न हुआ—'ये जलमें घूमती हैं ?'

'सृष्टिकर्ताने इनका निर्माण किया।' चरने बतलाया—'ये पृथ्वीपर और जलमें समान रूपसे चल सकती है। इतनी दिव्य हैं कि इनके लोभने महर्षि कश्यप और देवमाताको भी शाप दिलवा दिया। लेकिन ये सन्तान नहीं देतीं। इनका दूध अमृत है और ये अमर हैं।'*

गायोंको सुभद्रने प्रणाम किया। वे दूर न होतीं तो उन्हें सहलाता; किन्तु गो-दर्शनके पश्चात् समुद्र देखनेमें उसकी रुचि नहीं रह गयी। वह प्रचेताके पास लौट आया।

'मेरा स्थान अमरावतीमें ही था। मैं वर्षाका भी नियन्त्रक था; किन्तु इन्द्रने मुझे निकाल दिया। केवल पृथ्वी तथा सागरके जलका अधिकार रहा मेरे पास।' सुभद्रका सत्कार करके वरुण उससे अपनी व्यथा बतलाने लगे—'मुझे असुर कहा जाने लगा। इसमें मेरा क्या अपराध है कि मुझे जलीय असुर ही अनुचर मिले और राजसूय यज्ञ करके दैत्य, दानव प्रभृतिको पराजय करनेमें तो सुरकार्य ही किया था।'

'इन्द्र ईर्षालु है।' सुभद्रको सुरपतिसे कोई सहानुभूति नहीं—'वह विलासी है, अत: अल्पप्राण भी होगा।'

'लोकपालोंमें इन्द्र ही सृष्टिकर्ताके एक दिनमें चौदह बदलते हैं।' वरुणने बतलाया—'शेष हम सबको कल्पान्त आयु मिली है। असुर भी केवल अमरावतीको आक्रान्त करते हैं। उन्हें पता होता है कि दूसरे लोकपालोंको कितना दायित्व वहन करना पड़ता है। लेकिन मुझे अमरावतीसे निर्वासनका दुःख नहीं है और न देवेन्द्रकी दुष्टताकी व्यथा है। मेरी व्यथा तो मनुष्य बढ़ा रहे हैं और बढ़ाते ही जायँगे। प्रलयसे पूर्व मुझे भी परित्राणका कोई पथ नहीं सूझता।'

'मरणधर्मा मनुष्य आप जलाधिदेवको व्यथित बनाता है?' सुभद्रने आश्चर्यपूर्वक पूछा। उसे वरुणसे सहानुभूति हो आयी।

'अभी तो सृष्टिका प्रारम्भ है। मनुष्य और पशुओंका भी दोष नहीं है, यदि उनके मल-मूत्रसे क्षरित लवण सरिताओंके माध्यमसे समुद्रमें पहुँचता है।' वरुणने कहा—'भगवान सूर्य जलका वाष्पीकरण करके वर्षा करते ही रहेंगे। सागरीय जल उत्तरोत्तर लवणोदधि बनता जायगा। लेकिन मनुष्यको इस लवणकी आवश्यकता पड़ेगी। वह पुनः ले जायगा समुद्रसे प्राप्त लवण।'

---

* इनका वर्णन 'श्रीद्वारिकाधीश' में पूरा आया है।

'तब तो सन्तुलन बना रहेगा।' सुभद्रने समझा कि वरुणकी चिन्ता अकारण है।

'वत्स! तुम अभी धराके मरणधर्मा इस मनुष्यको जानते नहीं हो। इसे सृष्टिकर्ताने बुद्धि दे दी है और इसकी बुद्धिकी बहिर्मुखताके लक्षण मैं अभीसे देख रहा हूँ।' वरुणके स्वरमें रोष नहीं, बहुत व्यथा थी - 'यह अभीसे मत्स्य भक्षी होने लगा है। आगे जाकर इसके वाहन दौड़ेंगे मेरे वक्षपर और मल-मूत्र ही नहीं, विषसे भर देगा यह उदधिका जल। यह ऐसे कृत्रिम पदार्थ बनावेगा और उन्हें जलमें उत्सर्ग करेगा कि उन्हें सड़ाकर आत्मसात् करना सागरके लिए भी सम्भव नहीं होगा। जलके वाष्पीकरणमें भी बाधा पड़ेगी और यह जब समुद्रके जलके उपयोगपर उतरेगा, सागरीय द्रव्योंको निकालनेके दैत्याकार साधन अपनावेगा—वरुणको दरिद्र बना देगा।'

'मुझे अपने कंगाल होनेका कोई दुःख नहीं।' वरुणदेव बहुत दुःखी थे—'तुम जानते ही हो कि सरिताएँ मेरी पत्नियाँ हैं। कोई उनका सम्पूर्ण जल मल-मूत्र तथा विषसे दूषित करदे—यह भी सह लेता मैं यदि इससे सृष्टिकर्ताकी सर्वोत्तम कृति मानव सुखी होता। वह तो इस सबसे अपने लिए असंख्य रोगों, कष्टों और अपमृत्युका सर्जन करेगा।'

'आप पूजा प्राप्त करते हैं मनुष्योंसे।' सुभद्रने कहा—'उनसे आपकी सहानुभूति उचित है।'

'अभी पूजा प्राप्त कर रहा हूँ; किन्तु' वरुणको वर्तमान नहीं, उनका भविष्य ज्ञान ही बहुत व्यथित कर रहा था—'पूजा तो मनुष्य परमात्माकी भी त्याग देनेवाला है। अपने अधःपतनके दिनोंमें वह हम देवताओंको कहाँ पूछने चला है।'

'तब वह अपना संहार स्वयं आमन्त्रित करेगा।' सुभद्र चिन्ता करना नहीं जानता—'कन्हाईको कोई क्रीड़ा सूझती होगी।'

'मानव तो जलकी सत्ता ही समाप्त करनेके साधन जुटावेगा।' वरुणको आश्वासन नहीं मिल रहा था—'वह वृक्षोन्मूलन करके प्राणवायु-की प्राप्तिके लिए जलपर निर्भर करेगा और जलीय तत्त्वका भी विभाजन करने लगेगा।'

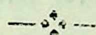
'मेरी अपनी पहुँच तुम्हारे सखा तक नहीं है।' कुछ क्षण रुककर

स्वयं वरुणने कहा—'अधिक-से-अधिक मैं उदधिमें शेष-शय्यापर शयन करते अपने जामातासे प्रार्थना कर सकता हूँ ।'

'आपको उनसे निराशा क्यों है ?' सुभद्रने अब पूछा । भगवान शेषशायी उसे अत्यन्त कृपामय ही प्रतीत हुए थे ।

'मैं उनकी कोई सेवा नहीं कर पाता ।' वरुण बोले—'मेरी पुत्री अतिशय करुणामयी है । उसे सब अपने ही पुत्र लगते हैं । वैसे वह अजात-पुत्रा—मैं तरस ही गया कि मुझे मातामह कहनेवाला कोई दौहित्र होता !'

'आप उन श्रीहरिसे प्रार्थना करें !' सुभद्रके पास ही वरुणको आश्वासन देनेका दूसरा क्या उपाय था ? उसने जलाधिदेवतासे विदा ली । उसे अब अन्तिम लोकपालके भी दर्शन कर लेने थे ।



कातर कुबेर–

'अच्छा, आप निधिपति कुबेर हैं।' सुभद्र अन्ततः बालक है। अलका आकर जब उसने राजाधिराज वैश्रवणको देखा, कुछ पीठ झुकाकर, सिर उठाकर विनोदपूर्वक चिढ़ा देनेके ढंगसे बोल पड़ा।

'हाँ वत्स! यह कुरूप* काना, कुबड़ा, काला मोटा तुन्दिल व्यक्ति कुबेर कहा जाता है।' वैश्रवणने स्वयं अपनी कुरूपताका वर्णन करके अपनेको चिढ़ाये जानेसे बचा लिया—'जिसका एकमात्र शेष नेत्र पीला, गोल, दो नेत्रों जितना बड़ा है और जिसके पैर ठिगने, टेढ़ेप्राय हैं। इसीसे यह नरवाहन है। दूसरेके कन्धेपर चलनेको विवश।'

'लेकिन आप इतनी भारी गदा रखते हैं।' सुभद्रने अब निधिपतिके शस्त्रकी ओर देखा।

'सृष्टिकर्ता क्रूर नहीं हैं। वे किसीसे एक या अधिक इन्द्रिय छीनते हैं तो उसके दूसरे अंगको सशक्त बना देते हैं।' वैश्रवणने बतलाया—'मैं यक्षोंका अधिपति हूँ। यक्ष राक्षसोंके ही भाई हैं और सदा भूख-भूख करते रहनेके कारण ही तो यक्ष+ कहलाते हैं। इनको आतंकित न रखा जाय तो ये उत्पात ही करते रहें।'

'आप ऐसे उपद्रवियोंको क्यों पालते हैं?' सीधी बात कि जो स्वभावसे उत्पाती हैं, उनको पास ही क्यों रखा जाय।

'इसलिए कि निधिपति हूँ।' कुबेर गम्भीर हो गये—'संसारमें सब मेरी सम्पत्तिको छीनने, चुरा लेनेको सदा उत्सुक रहते हैं। शान्त, सौम्य लोग तो उसकी रक्षा कर नहीं सकते। सशक्त, उग्र रक्षक ही रक्षा-सक्षम होते हैं।'

'आपकी कोई निधि मैं कभी नहीं लूँगा।' सुभद्रने कुबेरको आश्वासन दिया। वह अपनी ओरसे ही नहीं, अपने सखाओंकी ओरसे भी आश्वस्त करना चाहता था—'मेरा कोई सखा नहीं लेगा और कन्हाई तो केवल गुञ्जा, कर्णिकार या कदम्बके कुसुमोंसे सुसज्ज हो जाता है।'

---

* बेरका अर्थ है शरीर। कु+बेर=कुरूप शरीर।

+ यक्ष का अर्थ है—खा लो!

'आपमें-से कोई स्वीकार कर सकता तो सार्थक हो जातीं सम्पूर्ण निधियाँ।' वैश्रवणका स्वर भर आया—'आपके सखाके सानुकूल होनेसे ही भगवती श्रीकी कृपासे कुबेर निधिपति है।'

'क्या हैं आपकी निधियाँ !' सुभद्रने भोलेपनसे फिर आश्वासन दिया—'आप केवल नाम बतला दो। मैं उन्हें देखना भी नहीं चाहता। किसीका कोष देखना अच्छी बात नहीं।'

'निधि केवल नौ हैं—१. पद्म, २. महापद्म, ३. शंक, ४. मकर, ५. कच्छप, ६. मुकुन्द, ७. कुन्द, ८. नील, ९. वर्चा।' कुबेरको स्वयं लगा कि नाम गिना देना पर्याप्त नहीं है। अत: उन्होंने व्याख्या कर दी।

१. स्वर्ण, रजत, ताम्रादि समस्त बहुमूल्य खनिजोंका पता एवं प्राप्ति पद्मपर निर्भर है। यह एक प्रकार की शक्ति है जो शरीरके भ्रूमध्य चक्रमें स्थित है।

२. महापद्म भी शक्ति ही है; किन्तु सहस्रारमें रहती है। इससे मुक्ता, प्रवालादि सागर गर्भीय रत्नोंका पता लगता तथा प्राप्ति होती है।

३. शंख सागरके दक्षिणावर्त शंखको केवल प्रतीक सूचित करता है। वस्तुत: यह अमंगल-वारिणी शक्ति कण्ठचक्रमें निवास करती है।

४. मकर—यह हृदय चक्रमें रहनेवाली ऐसी शक्ति है, जिससे दिव्यौषधियाँ पहिचान ली जाती हैं।

५. कच्छप—यह नाभिचक्रकी शक्ति है। इसीके जागरणके फलस्वरूप योगी रससिद्धिका रहस्य पाकर अमरत्व पा लेता है।

६. मुकुन्दका निवास द्वितीय चक्रमें है। इसको पाकर अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ मिल जाती है।

७. कुन्द मूलाधार निवासिनी निधि है। यही कुल कुण्डलिनी कही जाती है। कवित्त्व शक्ति इसके जागरणका प्रसाद है। इसके द्वारा कपिला गौ*, श्याम कर्ण अश्व, ऐरावत कुलोद्भव श्वेत गजादि मिल सकते हैं।

८. नील—गड़े धनका पता देनेवाली शक्ति है।

९. वर्चा अर्थात् वर्चस्विता—यह तुममें स्वभावसे है।

'आप धनाधिप भी तो हैं।' सुभद्रने पूछा।

---

* जिस गायके खुर, थन, पूँछ, नेत्र, जिह्वा, सींग सब श्वेत हो। शरीरमें कहीं दूसरा रंग न हो, वह कपिला कही जाती है।

'क्योंकि संसारका सम्पूर्ण धन निधियोंके ही अन्तर्गत आ जाता है, मुझे लोग धनेश कहते हैं।' वैश्रवणने विनयपूर्वक कहा—'भगवान रुद्रके पड़ोसमें बसनेका यह प्रसाद मिला मुझे कि वे पुरारि इस कुबड़ेको सखा स्वीकार करते हैं। उनके गणोंका भय अधिकांश लोलुपोंको मुझसे दूर रखता है। वैसे भगवती सिन्धुसुता ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं सम्पत्तिकी स्वामिनी हैं। उन्होंने इस जनको कृपाकरके यह धनाधीश पद दे दिया है।'

'यक्ष और भूतप्रेत—संग तो आपने बहुत सुन्दर चुना है।' सुभद्र ताली बजाकर हँसा। उसने कहा नहीं कि 'आपके रूपके ही अनुरूप यह संगति है।'

'बहुत सशंक रहना पड़ता है निधिपतिको।' कुबेरने कहा—'सम्पत्तिको कोई कभी छीन ले सकता है। सृष्टिकर्ताने तपस्या, मन्त्र तथा एकाग्रता—समाधिमें सिद्धियाँ पानेकी शक्ति तो रखी ही, अतः योगमें रहती ही है; किन्तु अनेकोंको जन्मसे सिद्ध बना देते हैं। यह सब उतनी आशंकाका कारण न होता यदि औषधिमें यह शक्ति न होती। औषधिकी शक्तिका अन्वेषण कोई कभी कर ले सकता है।'

'आप संरक्षणके लिए सदा सचिन्त रहते हैं।' सुभद्रको दया आयी। जिसे लेकर केवल चिन्ता मिले, वह सम्पत्ति क्या कामकी।

'मेरे यक्षोंको भूत-प्रेतोंका सहयोग सरलतासे मिल जाता है।' कुबेरने कहा—'अनधिकारीके प्रयत्नमें ही वे बाधक नहीं बनते, अनधिकारीके द्वारा अधिकृत सम्पत्तिको भी वे सुरक्षित कर देते हैं। वह उसके उपभोगसे वञ्चित कर दिया जाता है और केवल उपार्जक तथा रक्षक रह जाता है। ऐसे वित्तप्राण प्रायः मरणोपरान्त सर्प या प्रेत बनकर यक्षोंके सेवक हो जाते हैं।'

'आपको इससे क्या लाभ?' सुभद्रने सीधा प्रश्न किया।

'वत्स! तुम बालक हो। तुम्हें सम्पत्तिके संग्रहीत होने और उसका स्वामी अनुभव करनेके सुखका पता नहीं है।' कुबेरने कुछ अहंकारपूर्वक ही कहा—'इसी स्वामित्वके कारण वैश्रवण ब्राह्मणोंके यज्ञोंमें राजाधिराज कहकर स्तुत होता है। सब सकाम व्यक्ति अपनी कामना-पूर्तिके लिए कुबेरकी कृपा-याचना करते हैं।'

'कन्हाई भी अद्भुत है।' सुभद्रको कुबेरके अहंकारने रुष्ट कर दिया—'एक कुबड़ेको उसने इतना अज्ञ बना दिया कि वह यह भी नहीं समझता कि सृष्टिमें स्तुति करने तथा शरण लेने योग्य केवल श्रीब्रजेन्द्रनन्दन है।

'लेकिन ठहर, मैं बतलाता हूँ तुझे। तेरी अलकाके पास ही कैलास है। मैं अम्बासे कहता हूँ कि उन्होंने यह क्या पड़ोसमें काना-कुबड़ा पाला है।'

'मैं आपकी शरण हूँ।' गदा फेंककर वैश्रवण अपने वाहन बने मनुष्य (यक्ष)के कन्धेसे उतरे और उन्होंने सुभद्रके चरण पकड़ लिये—'बड़ी कठिनाईसे भगवान शिवके समझानेपर वे शैलसुता मुझसे सन्तुष्ट हुई थीं। उनकी ओर देखनेसे ही मेरा एक नेत्र जाता रहा।* उनका रोष मुझे इस बार मार ही देगा।'

'तू विश्रवा मुनिका पुत्र हो गया तो समझता है कि वैश्रवण तेरा ही नाम है?' अपने चरणोंमें लुढ़के तुन्दिल निधिपतिको सुभद्रने डाँटा—'निश्चयपूर्वक जो एकमात्र श्रवणीय है वह श्यामसुन्दर ही वैश्रवण—उसके अतिरिक्त अन्य कोई राजाधिराज हो कैसे सकता है। श्रुति और श्रौत ब्राह्मण उसके अतिरिक्त किसीकी स्तुति करेंगे? कोई काण विप्रोंका वन्दनीय बन सकता है?'

'आप जानते ही हैं कि भगवती सिन्धुसुता उलूकवाहिनी हैं। कुबेर हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाये—'उनके इस आश्रितपर आप दया कीजिये। मैं अबसे आपकी व्याख्याको कभी नहीं भूलूँगा। वचन देता हूँ कि वैश्रवणकी स्तुतिमें जिनको आपके सखाका स्मरण आवेगा, कुबेर उनकी सेवा अपना सदा सौभाग्य मानता रहेगा।'

'अच्छा, अम्बाको उपालम्भ नहीं दूँगा।' सुभद्र सन्तुष्ट हो गया।

'आपका इसी समय कैलास जाना आवश्यक है?' कुबेर अत्यन्त भय-कातर हो रहे थे। उन्हें लगता था कि इन्होंने उमा-महेश्वरसे कुछ चर्चा भी कर दी तो अलकाके छिन जानेमें कोई सन्देह नहीं रहेगा। उनका लोकपाल पद भले बना रहे; किन्तु भगवान व्योमकेश भी उन्हें पड़ोसमें रखनेको प्रस्तुत नहीं होंगे।

'मैं तुम्हारे भयको समझता हूँ।' सुभद्रने कुबेरको निश्चिन्त कर दिया—'केवल अम्बाके समीप जाकर उन्हें कह देना कि उनका यह शिशु संसारमें जा रहा है—इसका उन्हें ही स्मरण रखना है।'

'भगवान पुरारिसे आपको कुछ नहीं कहना।' कुबेरने पूछा।

'मुझे किसी की मध्यस्थता प्रिय नहीं।' सुभद्र चलते-चलते कह गया—'बाबाके पदोंमें यहींसे प्रणाम!'

---

* 'शिवचरित' में यह पूरी कथा गयी है।

असहाय अर्यमा—

'अकेले रहते हैं आप यहाँ ?' पितृलोक पहुँचकर सुभद्र चौंक गया। चन्द्रलोकके इस स्थानपर तो अर्यमाजीके अतिरिक्त कोई जान ही नहीं पड़ता। न सेवक, न सहचर। भला ये अकेले क्या करते होंगे ?

चन्द्रलोक पितृलोक है; किन्तु आपके सम्बन्धी शरीर त्यागकर जाते हैं, तब यहीं आपको नहीं दीखते, चन्द्रमापर पहुँचकर आप उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी आशा कैसे कर सकते हैं ? वे इसमें समर्थ होते तो जाते-जाते अपने पुत्र, भाई आदिसे मिलकर जाते। उनके पास पाञ्चभौतिक देह तो है नहीं। उनके आतिवाहिक शरीरका मानव-शरीरके सम्मुख प्रकट हो जाना भी अपवाद रूपसे—जब उन्हें किन्हीं कारणोंसे विशेष शक्ति, सुविधा मिल जाय तभी सम्भव है। यह भी अल्पकालिक होती है।

'अकेला और उपोषित भी।' अर्यमाने हँसकर हो कहा—'पितृलोक तो पान्थशाला अथवा प्रतीक्षालय है। अभी सृष्टिकर्ताके प्रथम कल्पका सतयुग ही आरम्भ हुआ है। अत: अभी तो प्रतीक्षालयको भी पथिकोंकी प्रतीक्षा ही करनी है।'

'आप उपोषित क्यों हैं ?' सुभद्रको आश्चर्यके साथ दया भी आयी।

'पान्थशालाके प्रहरीका निर्वाह तो वहाँ पधारे पथिकोंकी सेवासे होता है। यहाँ पितृगण आने लगेंगे तो उनकी सेवा करके उनके स्वधा भाग-का अल्पांश अर्यमाको भी मिलेगा।' उस लोकके एकाकी वे स्वामी असन्तुष्ट नहीं थे—'अभी तो अग्निष्वात्तादिगण भी नहीं आये हैं। पृथ्वीसे जब पथिक आने लगेंगे, मेरी सहायताको ये गण सृष्टिकर्ता भेज देंगे। लेकिन अर्यमाको तपस्याका यह अवसर पुन: नहीं मिलेगा। अत: अल्पकालिक व्रत मेरे आनन्दका ही निमित्त है।'

'आपका लोक पान्थशाला ?' सुभद्रको लगा कि अर्यमासे उसे बहुत कुछ सीखना है।

'कर्मयोनि केवल मनुष्य योनि है। उसे सृष्टिकर्ताने बड़ी सीमातक कर्म करनेमें स्वतन्त्र कर दिया है। अपने कर्मोंके अनुसार ही उसे आगे जन्म

तथा परिस्थिति प्राप्त होती है।' अर्यमाकी इस बातमें तो कोई आपत्ति होनी नहीं है।

'जीवका जन्म भी उसके कर्म-सम्बन्धसे होता है। अब यह तो आवश्यक नहीं कि कोई मनुष्य मरे, तब जिसे उसका पिता या माता होना हो, वह भी उसी योनिमें जन्मकर वह अवस्था प्राप्त कर चुका हो कि सन्तान उत्पन्न कर सके। सबके कर्म तो पृथक-पृथक हैं। अतः मरनेवाले मनुष्यको जन्म लेनेके लिए तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब तक उसके पिता-माता होनेवाले जन्म लेकर उपयुक्त अवस्थाके न हो जायँ। केवल माता-पिताका ही तो सम्बन्ध नहीं बनता; भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्रादि सहस्रों सम्बन्ध एक जन्मसे जुड़े हैं।' अर्यमाने कहा—'जीव अनेकोंका कर्म-ऋण चुकाने अथवा दूसरोंको दिया ऋण पाने उत्पन्न होता है।'

हम-आप सरलतासे समझ सकते हैं कि जब रेलगाड़ियोंको अनेक मार्गोंपर चलना है तो जङ्क्शन भी रहेंगे और वहाँ प्रतीक्षालयके बिना काम नहीं चलेगा। प्रत्येक यात्रीको जंकशनपर गाड़ी बदलनेके लिए रुकना न पड़े, अभीष्ट ट्रेन तत्काल मिल जाया करे, ऐसी व्यवस्था सब जंकशनोंपर सम्भव नहीं है। कर्मके फलसे जब विविध योनियोंमें जन्म होना है और कर्मक्षेत्रमें हमारा सैकड़ों लोगोंसे—प्राणियोंसे भी सम्बन्ध है, तब शरीर-त्यागके तत्काल पश्चात् जन्म मिलनेकी बात बन नहीं सकती। तब प्रतीक्षालय चाहिये ही। वही पितृलोक है।

'आप उपोषित हैं, तब यहाँ आनेवालोंको ही अपेक्षित सुविधाएँ कैसे मिलती होंगी?' सुभद्र ठीक ही सोच रहा था कि जब लोकपति ही को कुछ उपलब्ध नहीं तो यहाँ आनेवाला क्या पावेगा।

'यहाँ किसीके कर्मका फलोदय नहीं होता; किन्तु अन्तःकरण उसके साथ रहता है। अतः तृप्ति-अतृप्तिका अनुभव होता है।' अर्यमा समझा रहे थे—'उसके उत्तराधिकारी उसके निमित्त जो श्राद्ध करते हैं, उससे उसकी तृप्ति होती है। उस श्राद्धांशमें ही मेरा भाग रहता है; क्योंकि स्वधाके कव्यको उचित अधिकारी तक पहुँचा देनेकी सेवा मुझे प्राप्त है।'

'दूसरोंके द्वारा किये कर्मका फल दूसरेको मिलता है?' सुभद्रने पूछा।

'अनेक अवस्थाओंमें मिलता है।'* अर्यमाने सूत्र ही समझाया—'जो प्राणी यहाँ आता है, अपना उपार्जन छोड़ आया है। उसीके घनका उपयोग उसके निमित्त किया गया तो उसे उसका फल क्यों नहीं प्राप्त होगा। उसकी सम्पत्ति न भी हो तो भी पुत्र, पत्नी आदिका कर्मफल पिता, पतिको मिलता ही है। श्रद्धा एवं संकल्पपूर्वक पुण्यकर्मोंका दान वैसे ही सम्भव है जैसे अर्जित धन या पदार्थका। पुण्य भी तो अर्जन ही है।'

'यदि उत्तराधिकारी श्राद्ध न करें।' सुभद्रने यह समझकर पूछा कि जब कर्ता दूसरे हैं, तब करना-न करना उनकी इच्छापर है।

'किसी पान्थशालामें कोई आ पड़े, उसके समीप कुछ हो नहीं और उपार्जनका अवसर भी न हो, ऐसी ही अवस्था इस लोककी है। मैं भी उसकी सहायता करनेकी स्थितिमें नहीं।' अर्यमाने खेदपूर्वक कहा—'उत्तराधिकारी पिण्ड न दें ऐसा होना सम्भव तो है। कलियुगमें ऐसा होगा। तब क्षुत्-पिपासासे पीड़ित पितर यहाँ रहकर भी नर्कमें पड़ेके समान कष्ट पाते हैं।'

'क्षुत्-पिपासा ?' सुभद्र चौंका। इन लोकोंमें भी भूख-प्यास लगती है, इसका अब तक इसने अनुभव ही नहीं किया था।

'पृथ्वीका अन्तःकरण यहाँ वैसा ही आता है।' अर्यमाने बतलाया—'पृथ्वीपर मनुष्यको जो मानसिक अतृप्ति होती है, वह यहाँ साथ आती है। यहाँ उसे तृप्ति-अतृप्तिका अनुभव होता है। लेकिन पदार्थोंके माध्यमसे ही तृप्तिका अनुभव करनेका अभ्यासी होनेके कारण श्राद्धमें पदार्थोत्सर्ग हुए बिना यहाँ वह तृप्तिका अनुभव नहीं कर पाता।'

'आपके समीप पितृगण कब आने लगेंगे ?' सुभद्रकी दया कह रही थी कि अर्यमाका उपवास उनके आनेपर ही टूटना है तो शीघ्र आवें वे।

'सतयुगमें तो कोई आता नहीं। पृथ्वीपर मनुष्य इस युगमें स्वभावसे तप-ध्यानमें तन्मय है। अतः वह मुक्त न भी हुआ तो स्वर्ग या अन्य उत्तम लोकोंको सीधे जाता है।' अर्यमा कह गये—'जैसे आपके माता-पिता देह त्यागकर परमधाम पधारे। अतः सतयुगमें श्रुतिका श्राद्धांश सक्रिय ही नहीं होता। त्रेतामें जब मनुष्यकी प्रवृत्तिमें रजोगुण भी आ जाता है, उसे पृथ्वीपर

* श्राद्ध तथा कर्म-विनिमयका पूरा रहस्य 'कर्म-रहस्य' में दिया गया है।

पुनर्जन्म प्राप्त होने लगता है। तभी उसे पितृलोक आकर प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है और श्राद्ध भी पृथ्वीपर सम्पन्न होने लगता है। लेकिन हमारे पितृलोकका दिन भी देवताओंके समान ही है। अतः मनुष्योंके एक वर्षमें हमारा एक दिन ही होता है। मुझे अल्पकाल ही उपवास करना पड़ेगा।'

'मैं यहाँसे मर्त्यधरापर जाना चाहता हूँ।' सुभद्रने अब अपनी बात कही—'वहाँ जन्म लेनेके पूर्व मुझे कितनी प्रतीक्षा आपके यहाँ करनी है ?'

'आप मुझे लज्जित करते हैं।' अर्यमाने हाथ जोड़ा—'आपका कोई आतिथ्य मैं नहीं कर सका। अपनी असमर्थतापर मुझे वैसे ही लज्जा है। मेरे लोकमें बालक कोई नहीं आते। यह तो आप इस दिव्य देहसे आ गये। आपका कोई संचित प्रारब्ध तो है नहीं कि उसके उदयकाल तक आपको प्रतीक्षा करनी पड़े।'

'आपके यहाँ सब वृद्ध ही आते हैं ?' सुभद्रको कुतूहल हुआ।

'प्रायः कम ही युवक या तरुण आते हैं। केवल मनुष्य आते हैं।' अर्यमाने बतलाया—'यद्यपि धरापर शिशु भी मरते हैं; किन्तु जिनको नवीन कर्मका अवसर ही नहीं मिलता, वे तो मनुष्य जन्म पाकर भी भोगयोनिके प्राणी जैसे ही होते हैं, कर्मभोग पाने उत्पन्न हुए। उनका अगला जन्म पूर्वसे निश्चित रहता है।'

'आप मेरे धरापर जन्म धारणकी व्यवस्था ।' सुभद्रने संकोच तथा आग्रहके साथ कहा; किन्तु उसकी बात पूरी नहीं हुई।

'मैं जैसे असहाय हूँ आपका स्वागत करनेमें' अर्यमाने कहा—'किसीको इस लोकमें प्रविष्ट करने और यहाँसे भेजनेमें भी वैसे ही असहाय हूँ। मैं तो श्राद्ध-विवर्जित असहाय पितरोंको तृप्ति भी नहीं दे पाता। केवल आगत कव्यको उचित पितरतक पहुँचा देनेका कार्य मैं करता हूँ।'

सुभद्र सोचने लगा कि अब वह कहाँ जाय अथवा क्या करे। क्योंकि मर्त्यधराकी महिमा सुन रखी है इसने। अपने कन्हाई तक इन दिव्यलोकोंके माध्यमसे पहुँचना सम्भव नहीं दीखता। तब धरापर जाना ही है।

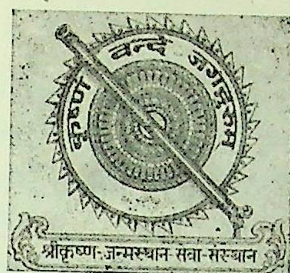
'मेरे यहांसे कर्म-नियन्ता ही प्राणीको पृथ्वीपर पहुँचाते हैं।' अर्यमाने कहा—'लेकिन आपके कोई पूर्व कर्म ही नहीं तो आपका नियन्त्रण वे भी कैसे करेंगे ?'

'आपका यह दिव्य देह तो ऐच्छिक है।' अन्ततः अर्यमा देवता हैं, लोकपाल हैं। उन्होंने अपनेको एकाग्र किया और तब हँसकर बोले— 'आपका पार्थिव शरीर कहीं गया तो है नहीं। वह प्रकृतिके सूक्ष्म स्तरमें सुरक्षित आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप इच्छा करते ही पुनः उसी शरीरको प्राप्त करके पृथ्वीपर जीवनका प्रारम्भ क्यों नहीं करते ? अन्य देह आपको अभी प्राप्त हो, ऐसा तो कोई नियम मुझे दीखता नहीं है।'

'वही देह प्राप्त हो जायगा।' सुभद्रने सोल्लास कहा और इच्छा करते ही वह पितृलोकसे वैसे ही अदृश्य हो गया, जैसे पहिले पृथ्वीसे हुआ था।

॥ पूर्व खण्ड परिपूर्ण ॥





श्रीकृष्ण-सन्देश

[आध्यात्मिक मासिक-पत्र]

श्रीकृष्ण-सन्देशका वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ होता है। 'श्रीकृष्ण-सन्देश' प्रतिमास लगभग ६८ पृष्ठ पाठ्य-सामग्री देता है।

वार्षिक शुल्क	१० रुपये।
आजीवन शुल्क	१५१ रुपये।

सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें।

व्यवस्थापक—**श्रीकृष्ण-सन्देश**
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान
मथुरा–२८१००१

प्रत्यावर्तन---

अभी किसी पशुके पीछे-से निकल आया हो, इस प्रकार सुभद्र पशु-पक्षियोंके मध्य प्रकट होगया। सुभद्रको लगा कि अभी तो उसने सरितामें माता-पिताकी चितासे एक अञ्जलि भस्म विसर्जित करके स्नान किया है। अलकें अभी सूखी नहीं हैं।

पशु-पक्षियोंका समूह प्रसन्न हो गया। सब और समीप सिमट आये।

महाराज रेवत अपनी कन्या रेवतीके लिए योग्य वर पूछने ब्रह्मलोक-गये। कुछ क्षण वहाँ रुकना पड़ा। इतनेमें पृथ्वीपर सतयुगके स्थानपर द्वापरान्त आगया था।* इससे ठीक उलटा हुआ यहाँ। सुभद्र ब्रह्मलोक सहित दूसरे प्रायः सब लोकोंमें भटक आया और पृथ्वीका केवल एक क्षण बीता था। पुराणोंके विद्वानोंको बहुत अद्‌भुत लगेगा।

सुभद्र नहीं—भद्रसेनका मयूर-मुकुटी सखा क्या कम अद्‌भुत है? अपने सखाको जब उसने शिशु बनाकर भेजा भगवती त्रिपुराके समीप, उसे लगा होगा कि सखा कहीं अटक गया तो उसका वियोग असह्य होगा। अतः उसने एक नवीन ही काल लगा दिया उसके साथ। काल उस नटखटकी कल्पनाके अतिरिक्त तो कुछ है नहीं। सुभद्रके साथ वह काल ऐसा लगा कि उसके सम्मुख ब्रह्मलोक ही नहीं, सूर्यलोक, वैकुण्ठ, क्षीरोदधि, श्वेतद्वीपके काल भी छोटे पड़ते, पिछड़ते गये।

यह ऐसा ही होगया, जैसे कोई पृथ्वीकी गतिसे तीव्र गतिके यानमें बैठकर पृथ्वीकी परिक्रमा करने चल पड़े। अब पृथ्वीके स्थानोंका काल पिछड़ेगा या नहीं?

सुभद्र जब पृथ्वीपर आ गया, उसे अनजानमें ही अपना पार्थिव शरीर प्राप्त होगया, तब कहीं पृथ्वीका देश-काल उसका अपना बना। यहाँका देश-काल इतना क्षुद्र कि ब्रह्मलोकमें ही इसकी चतुर्युगी नगण्य हो जाती है। अतः कन्हाई क्यों यहाँके कालकी गणना करे।

सुभद्र एकाकी चार वर्षका बालक और उसे अब वनमें रहना था; किन्तु सतयुगका समय था। पशु-पक्षियोंका प्रेम प्राप्त था उसे। उस युगमें

*पूरी कथा 'श्रीद्वारिकाधीश' में श्रीबलराम-विवाह-प्रसंगमें दी गयी है।

तो 'भिक्षां देहि'—कहकर कोई ब्राह्मणकुमार वृक्षके आगे भी हाथ फैलाता था तो उसके करपर या झोलीमें सुपक्व फल टपक पड़ता था।

सुभद्रमें अपने माता-पिताकी गुफामें जानेकी इच्छा फिर नहीं हुई। उसे दूसरी गुफा भी ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं थी। वर्षोंमें कोई सघन वृक्ष समीप न भी हो तो अवश्य गजयूथ आ पहुँचता था वृष्टि प्रारम्भ होते ही। किसी महागजके पेटके नीचे सुभद्र बैठकर वर्षा व्यतीत कर देता था। वृष्टि थमते ही उसे बहते जलको देखने तथा उसमें छपाछप करते दौड़नेमें आनन्द आता था।

शीतकालमें रात्रिको कोई भल्लूक उसे अङ्कमें शयन कराने न पहुँचे तो वह गायोंके समूहमें उनसे सटकर सो जाता था। ग्रीष्म तो परिव्राजकोंका प्रियः काल है। वह सम्पन्नोंको भी शरीरसे वस्त्र उतार देनेकी प्रेरणा देता है। उसमें दिनमें तो छाया चाहिये; किन्तु रात्रिमें चाहे जहाँ पड़ रहो।

सुभद्र अपने माता-पिताके आश्रमसे बहुत दूर तो नहीं गया; किन्तु आस-पास घूमता अवश्य रहा। कभी कोई गज उसे उठाकर पीठपर धर लेता था, कभी केहरी या भल्लूक उसे अपनी पीठपर बैठानेके लिए सामने अड़ जाते थे। इन वाहनोंने उसे वनमें घुमाया। लेकिन सलिलका सामीप्य तो पशुओंको भी आवश्यक लगता है, अतः सुभद्रको वे सरितासे दूर नहीं ले गये। वह उनके साथ वहीं बना रहा। पलता-बढ़ता रहा।

दिन, मास, वर्षादिकी गणना न आवश्यक थी, न सुभद्रको आती थी। उसका शरीर बड़ा हो रहा है, यह भी उसे पता नहीं लगा। अचानक एक दिन श्वेत श्मश्रु-केश तेजस्वी वृद्ध पुरुष वहाँ पधारे। सुभद्रने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया।

'आयुष्मन्! मैं तुम्हारा मातामह हूँ।' उन्होंने सुभद्रको गोदमें उठाकर उसका सिर सूँघा। स्नेहपूर्वक बोले–'तुम्हारे पितासे मिलने चला आया।'

'पिताश्रीने तो शरीर-त्याग दिया।' सुभद्रने सहजभावसे सूचना दे दी।

'इसका अर्थ है कि मेरी सुता उनके साथ सती हो गयी।' सतयुगमें दूसरी कोई सम्भावना ही नहीं थी—विशेषकर ब्राह्मण-कन्याके सम्बन्धमें। वृद्धका स्वर गीला हो गया था।

उस सात्विकयुगमें शोक-मोह क्षणस्थायी ही होते थे। वृद्धने अपनेको शान्त बना लिया। उसने सुभद्रकी ओर अब ध्यान देकर देखा—'तुम्हारा उपनयन होना चाहिये। तुम ब्राह्मण-कुमार हो।'

'कर दीजिये !' सुभद्रको कोई आपत्ति नहीं थी।

वे वृद्ध ऋषि थे। सतयुगमें कर्मकाण्डका विस्तार हुआ नहीं था और न मनुष्यकी प्रवृत्ति रजोगुणसे मलिन हुई थी। वृद्धको वनसे शुष्क काष्ठ लेकर अरणि-मन्थनका केवल आरम्भ करना पड़ा। अग्निदेव तो उनके आह्वानपर वैसे भी प्रकट हो जाते; किन्तु विधि-निर्वाह करना था।

उन ऋषिने वहीं पशुओंसे ऊर्णा-संग्रह करके, उसे कातकर यज्ञोपवीत बनाया। अग्न्याधान—अत्यल्प-पूजन और गायत्री उपदेशके साथ सुभद्रको यज्ञोपवीत पहिना दिया। पहिले दिन उस बालकने मौंजी-मेखला पहिनी और उसमें भूर्जपत्रकी कौपीन लगायी। पलाश-दण्ड मिला उसे। तब-तक अजिन (पशुचर्म) अनावश्यक माना जाता था।

वैदिक अनुष्ठान, पाठादि भी तबतक प्रणव तथा गायत्रीतक परिमित थे। जब विशुद्ध चित्त कोई विप्र-बालक कभी भी समाहित होकर श्रुतिका साक्षात्कार करनेमें समर्थ था और इच्छा करते ही सुर सेवामें साकार उपस्थित हो सकते थे, अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा केवल अत्यल्प शिष्टाचार सिखलानेतक सीमित थी, जो उसी उपनयनके दिन समाप्त हो जाती थी।

संग्रहकी प्रवृत्ति पैदा ही नहीं हुई थी। शरीर-निर्वाहकी चिन्ता मनुष्यने सीखी नहीं थी। पशु-पक्षी, वृक्ष-लता भी उस समय मनुष्यका आतिथ्य करके संतोषानुभव करते थे। अतः उपनीत बालकको सूर्योपस्थान सिखलाकर शिक्षा समाप्त।

'आयुष्मन् ! यदि अपरिचित आते ही सावधान कहे तो उसे अभिवादन करना। वह ब्राह्मण होगा। तुम स्वयं किसीसे मिलो तो सावधान कहना।' मातामहने सुभद्रको शिक्षा दी—'अपरिचित अतिथि अन्य वर्णका हुआ तो स्वयं अपना परिचय देकर प्रणाम करेगा। सावधान सुनकर जो अपरिचित स्वयं परिचय न दे, समझ लो कि वह ब्राह्मण है। उसका अभिवादन करो।

'वृद्ध अपरिचितको मैं आते ही अभिवादन करूँ?' सुभद्रको कुछ अद्भुत लगा।

'नहीं', अपनेसे अल्पका अभिवादन करनेपर उसकी आयु, यश, पुण्यका नाश होता है।' वृद्धने बतलाया—'ब्राह्मणका बालक अल्पायु भी हो तो अन्य वर्णसे ज्येष्ठ है।' लेकिन त्याग और विद्यामें, तपमें अन्य वर्णके भी बड़े होनेपर तुमसे ज्येष्ठ हो जाते हैं। वे बन्दनीय हैं; किन्तु तुम बालक हो। तुम निर्णय कैसे करोगे ? उन्हें स्वयं निर्णय करके ज्येष्ठ हों तो सावधान करना चाहिये तुम्हें।'

उस समयतक ऐसा तारतम्य भी बना नहीं था। जब त्याग, तपमें सबकी रुचि सहज थी, तब वर्णके पश्चात् वय ही बड़प्पनका सूचक बन सकता था।

"अभिवादन जो करे, उसे तुम 'कल्याणमस्तु' कहकर आशीर्वाद दो। प्राणीका परम कल्याण हो, यही ब्राह्मणका काम्य है।" मातामहने आगे कहा—'इसके अनन्तर कुशल पूछो। ब्राह्मणको अभिवादन करनेवालेसे कुशल पूछना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणमें आशीर्वाद देकर अमंगल-निवारण-की क्षमता होती है।'

'क्षत्रिय-वैश्यादि भी कुशल-प्रश्न पूछते होंगे ?' सुभद्रने पूछा।

'वत्स ! अभी वैश्य एवं शूद्र वर्ण विकसित ही नहीं हुए हैं। क्योंकि व्यापार—वस्तु-विनिमय अत्यल्प होता है और सेवककी आवश्यकता केवल शासक या व्यापारीको होती है।' वृद्ध पुरुषने कहा—'तुम कभी उत्तानपादके पास उनकी राजधानी गये तो इन वर्णोंसे मिल सकते हो। इस समय तो वही शासक हैं। मनुपुत्र प्रियव्रत तो अभी विरक्त-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें देवर्षि नारदके साथका सुयोग प्राप्त होगया है।

'क्षत्रिय निरुपद्रवता पूछता है। वह भौतिक-दैविक—दोनों उपद्रव दूरकर सकता है, अतः पूछता है—"आप और आपके आश्रितोंको किसीसे उपद्रुत तो नहीं होना पड़ता'।"

'आप सुखी-समृद्ध तो हैं ?' यह वैश्यका कुशल प्रश्न है।

'इसलिये कि वह पदार्थ-प्रदान कर सकता है।' सुभद्रने स्वयं व्याख्या कर ली—'लेकिन शूद्र क्या पूछता होगा ?'

'आप सपरिवार स्वस्थ तो हैं ?' वैसे उसका प्रश्न अकारण होता है; क्योंकि इस युगमें अस्वस्थ पुरुष सुना ही नहीं जाता। अस्वास्थ्य तो असंयमसे आता है और असंयमका मूल राजस-तामस प्रवृत्ति है, जो त्रेताके पश्चात् जन्म लेगी। लेकिन शूद्र सेवा ही तो कर सकता है। स्वस्थ

व्यक्तिको सेवाकी आवश्यकता तब होती है, जब उसे शासनमें व्यस्त रहना हो या व्यापार करना हो।'

सतयुगमें मानव-मनको विलासिताने स्पर्श ही नहीं किया था। अतः वैयक्तिक सेवा भी आवश्यक है, यह कोई सोच भी नहीं सकता था। अपना दैनिक कार्य तो साधना समझा जाता था। साधना तो दूसरेसे करायी नहीं जा सकती।

संग्रहके विस्तारके साथ सेवाकी आवश्यकता बढ़ता है, यह आज भी सत्य है। एक छोटी झोंपड़ीका निवासी स्वयं झाड़ू लगा लेगा; किन्तु कोई बहुत बड़ा भवन हो तो? केवल कोपीन या अल्पवस्त्रधारी तो अपने वस्त्र धो लेगा; किन्तु जहाँ वस्त्रोंसे आलमारियाँ भरी हों, वहाँ धोबीके बिना कैसे काम चलेगा।

'स्वास्थ्य क्या ?' सुभद्रने ही नहीं, समूचे सतयुगके पुरुषोंने रोगका नाम नहीं सुना। अतः सुभद्रको स्वस्थ-अस्वस्थ शब्दका अर्थ ही पता नहीं।

'स्वमें स्थित स्वस्थ।' वृद्ध पुरुषने सतयुगकी परिभाषा बतला दी—'अपनी आत्माको छोड़कर अन्यका चिन्तन चित्तमें आया तो अस्वस्थ। शरीर-संसारका चिन्तन ही अस्वस्थ होना है।'

समवायु समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नकायेन्द्रियमनः स्वस्थो इत्यभिधीयते॥

'वायु, जठराग्नि, कफ-पित्तादि धातुएँ और मल-मूत्र-स्वेदादिकी क्रिया समान रहे। न इनमें वृद्धि हो, न ये अवरुद्ध या कम हों। शरीर, इन्द्रिय, मन निर्मल हो तो व्यक्ति स्वस्थ कहा जाता है', यह महर्षि चरककी परिभाषा है।

'शरीरकी ओर ध्यान न जाय तो अपनेको स्वस्थ समझो।' यह परिभाषा एक संतने सुनायी थी। यह परिभाषा आजकी। शरीर या शरीरके किसी अंगकी ओर ध्यान जाता है तो वहाँ कुछ गड़बड़ है।

सतयुगमें परिभाषाकी सीमा बढ़ गयी थी। शरीर या संसार—किसीकी ओर ध्यान गया तो स्वमें कहाँ रहे ?

'कन्हाई स्मरण आवे तो ?' सुभद्रने पूछा। उसे लगा कि उसके मातामहकी परिभाषामें कहीं त्रुटि है। कन्हाईका स्मरण न आवे तो मनुष्य स्वस्थ कैसे कहा जायगा ?

'मैं भूल गया आयुष्मन् !' वृद्धने अब सुभद्रकी ओर बहुत ध्यानसे देखा। उन्होंने तो सुभद्रको कभी देखा नहीं था। अब दो क्षण नेत्र वन्द किये रहे। अचानक उनका शरीर कम्पित होने लगा, रोमाञ्च हुआ, स्वेद-धारा चलने लगी और नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल पड़ा। सुभद्र चकित देखता रह गया उनकी ओर।

'मैं धन्य होगया। मेरा कुल धन्य होगया। मेरी कन्याने मुझे कृतार्थ कर दिया।' कुछ समय लगा वृद्धको सावधान होनेमें। सुभद्रको वे इतने समय हृदयसे लगाये रहे। सावधान होनेपर बोले—'वत्स ! तुमको साथ ले जाकर मैं तप तथा ध्यानमें लगानेकी बात सोच रहा था; किन्तु तुम तो तप-ध्यानके परमाभीष्टको पहिले-से प्राणार्पण कर चुके हो।'

'मैंने तो किसीको कुछ नहीं दिया।' सुभद्रने भोलेपनसे कहा—'माता-पिताके पश्चात् प्रथम व्यक्ति आप ही मुझे मिले। आप आहार-ग्रहण करेंगे ?'

'आयुष्मन् ! मैं तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकता। तुम मेरे दौहित्र हो और आहारका अभाव तो यहाँ वनमें है नहीं।' मातामहने कहा—'मैं तुम्हारे सखाकी बात कह रहा था। तुम्हारा कन्हाई तो आत्माकी भी आत्मा है। उसका चिन्तन ही सच्चा स्वस्थ होना है।'

'अब तुम उपनीत हो गये हो, अतः जलपात्र रखा करो।' सुभद्रको उन वृद्धने शौचाचारका कुछ नियम समझाकर कहा—'मैं तुम्हारे लिये नारिकेल-पात्र ला देता हूँ।'

'वह तो पिताश्रीकी गुफामें पड़ा है।' सुभद्रने बतलाया—'उसे स्वीकार करनेमें कोई दोष है ?'

'वह सब जो उस गुफामें है, तुम्हारा स्वत्व है।' वृद्धने आग्रह नहीं किया कि उनका लाया पात्र सुभद्र स्वीकार करे। वे भी सतयुगके अपरिग्रही विप्र थे और मोहका कलुष उनके मनमें भी नहीं था। उन्हें संतोष था कि उनका दौहित्र अपने पिताका उचित कुलंधर है।

सुभद्रका सिर सूँघकर, उसे आशीर्वाद देकर वे बिदा हुए। उन्होंने सुभद्रको साथ ले जाना अनावश्यक माना और सुभद्रकी भी साथ जानेमें रुचि नहीं थी। वह एकान्तप्रिय था।

● ●

भूत भी--भविष्य भी-

अनेक वर्ष पीछेकी बात--सुभद्र युवा होगया। उसके मनमें पर्यटनकी बात आयी। उसे मातामहसे सुनी उत्तानपादकी पुरी देखनेकी इच्छा हुई। उसे कहीं कोई बाधा तो थी नहीं। बाधा होती है—संग्रह-परिग्रह होनेपर। जिसे कदली-वल्कलकी कोपीन लगानी है और वनके कन्द, मूल-फल ही खाने हैं, वह कहाँ रहे, यह तो सोचनेकी बात नहीं थी।

वह एक दिन चल पड़ा और चलता रहा। उसे केवल इतना पता था कि पर्वतीय क्षेत्रसे नीचे कहीं उत्तानपादकी पुरी है और सब सरिताएँ सीधी या किसी अन्यमें मिलनेके क्रमसे नीचेके समतल क्षेत्रमें ही जाती हैं। वह अपनी परिचित सरिताका तट पकड़कर नीचेकी ओर, उसके प्रवाहकी ओर चल पड़ा था।

थोड़े स्थानोंपर उसे सरिताका तट छोड़कर पर्वतपर चढ़ना पड़ा; क्योंकि सरिता-तटका कगार इतना सीधा-सपाट बन गया था कटावके कारण कि वहाँ पैदल भी चलना सम्भव नहीं था।

अनेक स्थान मिले, जहाँ मार्गमें नाले थे। उसे तो वहाँ भी कठिनाई नहीं हुई, जहाँ वह छोटी सरिता दूसरीमें मिल गयी। ऐसा कई स्थानोंपर हुआ। कभी वह सरिता अन्यमें मिली, कभी अन्य उसमें। ऐसे सब स्थानोंपर वह सम्मुख पड़नेवाली सरिताके तटको पकड़कर ऊपरकी ओर चल पड़ता था। जहाँ संतरणकी सुविधा होती, वह तैर लेता। उसने पशुओंको संतरण करते देखकर शैशवमें ही यह कला सीख ली थी; किन्तु संतरण योग्य स्थल बहुत कम मिलते थे। उसे प्रायः सरिता-किनारे किसी बाढ़में गिरे वृक्ष मिल जाते थे। जहाँ वह प्रयत्न करके उन्हें पानीमें पहुँचा पाता था, श्रम करके, ठेलकर प्रवाहमें पहुँचा देता और उसपर बैठ जाता। इस प्रकार सरिता पार करना सुगम हो जाता था।

'तुम मुझे उस तटपर पहुँचा दोगे?' वह तो मिलनेवाले किसी वनपशुसे कह सकता था; किन्तु उसे अनुभव हो गया था कि केवल वन्य महिष, वाराह और गज उसकी सहायता कर सकते हैं। वे भी सब स्थानोंपर साहस नहीं कर पाते। केशरी और भल्लूक जलमें उतरना ही नहीं चाहते और कपि पर्वतीय सरिताओंके प्रवाहमें बहने लगते हैं।

उसकी यात्रा टूटे वृक्षों या पशुओंकी सहायतासे चलती रही। वह जब चला था, वर्षा बीत चुकी थी। शीतके प्रारम्भमें नीचे आनेमें उसे प्रकृतिने सहायता ही दी। उसे सुखद वातावरण मिला।

वनमें वृक्ष थे, कन्द थे, सरितामें स्वच्छ जल था। अनेक बार कपि या भल्लूक बिना माँगे उसे कोई फल या मधुछत्रक दे जाते थे। अनेक स्थानोंपर वन्य गजोंने उठाकर उसे पीठपर बैठा लिया और अपनी इच्छानुसार ले गये।

उसे न मार्गका पता था, न यात्राका निश्चित लक्ष्य किधर है, इसका। जब क्षुधा लगती, आहारके लिए फल-कन्द मिल जाते थे। रात्रिमें किसी समतल स्थानपर, शिलापर अथवा सरितातटके किसी मोड़पर छोटा पुलिन मिला तो वहाँ सो गया।

सुभद्रको कहीं पहुँचनेकी शीघ्रता नहीं थी। वह तो चलनेके लिए चल रहा था। अन्ततः उसकी यात्रा पर्वतीय क्षेत्रोंसे बाहर पहुँच गयी। पहिलेसे ही वन सघन मिलने लगे थे। वृक्षोंमें सुस्वादु फलके वृक्ष बहुलतासे मिलने लगे। कपिगज प्रभृति भी बहुत थे इन वनोंमें। साथ ही वृश्चिक, सर्प भी थे और कण्टक भी। स्पर्शसे पीड़ा देनेवाली वनस्पति भी।

जब एक कपिने एक दिन उसके करसे छीनकर एक फल सूँघकर फेंक दिया, वह समझ गया कि अब फलोंको कपियोंको दिखाकर आहार बनाना है। इसी प्रकार भल्लूकने कन्दोंके सम्बन्धमें सावधान कर दिया। सच तो यह है कि अब वन-पशु ही उसे आहार देने लगे। वह स्वयं अब फलादि नहीं उठाता था। स्पर्श-कातर करनेवाले क्षुप्रोंको उसने पहचान लिया था और रात्रिमें शयनके लिए कोई प्रशस्त शिला या तृण-लताओंसे रहित स्थान ढूँढ़ता था।

जैसे-जैसे समतल क्षेत्र समीप आता गया, वनकी सघनता बढ़ती ही गयी। वनगज कम ही स्थानोंमें पर्वतमें मिले थे; किन्तु अब तो वे उसका प्रतिदिन आतिथ्य करने लगे। अवश्य ही कपि और भल्लूकोंका समुदाय उसे प्रायः प्रतिदिन मिला था।

यात्राके इसी क्रममें एक सायंकाल वह एक टीलेपर बैठ गया। अब वह पर्वतीय क्षेत्र पीछे छोड़ आया था। यहाँ सरिता-तटपर पुलिन नहीं था। वन सघन था और कण्टक-वृक्षोंसे भरा था। केवल यह टीला ऐसा था कि उसपर कोई तृण नहीं उगा था। यह स्थान वृक्ष अथवा तृणसे हीन क्यों है,

यह सुभद्र क्यों सोचे। उसे रात्रि-शयनके योग्य स्थान प्रतीत हुआ, अतः वहाँ बैठ गया।

पता नहीं, क्यों कपियोंने बहुत विरोध किया। अनेकने पहली बार दाँत दिखाकर डराना चाहा उसे। सुभद्र हँस पड़ा। दो-एकने उसका हाथ पकड़कर उठ जानेका संकेत किया। एक मोटा भल्लूक बार-बार सामने बैठ जाता था कि सुभद्र उसकी पीठपर बैठ जाय।

उस दिन सुभद्र बहुत चला था। श्रान्त हो गया था। उसे कहीं पहुँचना नहीं था; किन्तु चलनेकी धुन चढ़ी तो चलता ही गया। अब दिनान्तमें यह तृणहीन स्वच्छ टीला मिला तो इसपर-से उठनेको उसका चित्त नहीं हुआ। कपियों और भल्लूकके आग्रहको उसने टाल दिया।

'यहाँ क्या है ? क्यों ये सब मुझे यहाँसे हट जानेका आग्रह करते हैं ?' सुभद्र सहानुभूतिपूर्ण वन-पशुओंका संकेत समझता था। पशुओंमें ही पला था; किन्तु भय क्या होता है, यह तो वह जानता ही नहीं था। उसे अटपटा लगा कि अन्धकार होते ही कपि-भल्लूक-सब उस टीलेसे दूर भाग गये।

'यहाँ भूमि दृढ़ है, स्वच्छ है।' कपियोंके संकेतको देखकर सूर्यास्तके समय ही सुभद्रने देख लिया था कि वहाँ कोई बिल नहीं है। 'वृश्चिक सम्भव नहीं हैं और सर्पका बिल नहीं। वनमें-से क्या करने आवेगा सर्प यहाँ ? तब यहाँ रात्रिमें व्याघ्र या केहरी बैठता है ?'

सुभद्रको सर्प, व्याघ्र, केहरी सब खेलनेयोग्य सखा लगते हैं। इनसे वह बहुत परिचित है। कपि और भल्लूक रात्रिमें वृक्षहीन स्थानपर नहीं रहेंगे, यह भी स्वाभाविक था। अतः अन्धकार होनेपर वह लेट गया। श्रान्त तो था ही, प्रगाढ़ निद्रा उसे वैसे भी सदा आती है।

'गुड़म्, गुड़म्, गुड़म्' जैसे किसी धातुका बना कोई बहुत भारी घड़ा लुढ़काया जा रहा हो ऐसा शब्द--विचित्र-सी झनकार, खनखनाहटभरा शब्द गूँजने लगा। सुभद्रकी निद्रा टूट गयी उस शब्दसे। वह उठकर बैठ गया।

आकाश निर्मल था। चन्द्रमा ऊपर आ गया था। स्वच्छ ज्योत्स्नामें सुभद्रने एक बहुत भारी अत्यन्त काले घड़े-जैसे आकारको देखा। उसमें प्रज्वलित उल्काके समान दो नेत्र चमक रहे थे।

'कौन है तू ?' उस आकारने बड़े रुक्ष, गड़गड़ाहट-जैसे स्वरमें डाँटा।

'तू कौन है ?' सुभद्र झल्ला उठा। इस प्रकार उससे बोलनेवाला यह कौन आ गया ?

'मैं भूत हूँ।' उस आकारने गुर्राहटसे कहा—'तुझे भक्षण कर लूँगा।

'झूँठा कहींका।' सुभद्र तो हँसने लगा—'साक्षात् वर्तमान है और अपनेको भूत कहता है। मैं कोई पक्व फल हूँ कि मुझे भक्षण करेगा ?'

स्मरण करा दूँ आपको कि वह प्रथम सतयुग था। सिंह-व्याघ्र भी हिंसा नहीं करते थे। स्वतःमृत्युप्राप्त प्राणी ही उनके भक्ष्य थे। अतः सृष्टिमें ये पशु अत्यल्प थे।

'तू हँसता है ? मैं प्रेत हूँ।' वह आकार कटकटाया। वह झल्ला रहा था। उसकी गति अवरुद्ध हो गयी थी। वह चाहकर भी सुभद्रकी ओर बढ़ नहीं पा रहा था। मुझे जानता नहीं।'

'तू परेत है तो बोलता क्यों है ?' अब सुभद्र खड़ा हो गया। उसने समीप पड़ा पलाशदण्ड उठाया—'तुझे मैं नहींजानता ? नटखट, मुझे सोने नहीं देता। क्यों जगाया तूने मुझे ?'

'यह मेरा घर है। भाग जा यहाँसे।' वह आकार अब गर्जना कर रहा था—'मैं कूष्माण्ड हूँ। पिशाच हूँ।'

'हाँ, तेरा घर तो है।' सुभद्र शान्त कह गया—'तूने मिट्टी बनायी, वृक्ष बनाये, ये आकाश और चन्द्र बनाये। घर तो तेरा ही है सब; किन्तु कनूँ ! अब तू पिटेगा। अन्यथा मुझे सो जाने दे।'

भड़ामका भयानक शब्द हुआ। ऐसा शब्द जैसे आजकल कुछ-सौ बम एक साथ फूटनेपर होगा। पूरा वन गूँज उठा। पशु-पक्षी चीत्कार करके भागने लगे। फट गया था वह भारी कूष्माण्ड। उसमें-से स्निग्ध सहस्र-सहस्र ज्योत्स्ना फूट निकली। मयूर-मुकुटी, पीताम्बरधारी, सजल-जलद-नील व्रजराजकुमार हँसता प्रकट हुआ।

'तू इस काले कूष्माण्डमें घुसा बैठा था ?' सुभद्रने भुजाएँ फैलाकर अङ्कमाल दी। 'मैं तभी जान गया, जब वह अपनेको भूत कहने लगा। ऐसा अटपटा झूठ तो केवल तू ही बोल सकता है।'

'वह झूठा नहीं था।' कन्हाईने कहा।

'वह कौन ? तू अब भी मुझे भुलावेमें डालना चाहता है ?' सुभद्र फिर झल्लाया—'लेकिन तू उतना भोंडा काला मटका क्यों बना था ?'

---

० संस्कृतमें 'परेत' शब्दका अर्थ शव-मुर्दा भी होता है। इसीसे 'प्रेत' बना है।

'कूष्माण्ड भूतवर्गकी ही एक जाति है।' श्यामने समझाना चाहा—'यहाँ भूमिमें स्वर्ण-रत्न हैं। अतः यह उसका संरक्षक बना यहाँ रहने लगा था।'

'तू अब बातें बनावेगा ? तू ही यह वन, पर्वत, भूमि-सरिता नहीं है ?' सुभद्रने कहा—'लेकिन तू भूत या भविष्य कबसे बनने लगा ? तू तो नित्य वर्तमान है।'

'इस कूष्माण्डको तू जानता है।' कन्हाईने परिचय देनेका प्रयत्न किया—'इसीके शापसे तू यहाँ संसारमें है।'

'मैं तेरे अतिरिक्त किसीको नहीं जानता, न जानना ही चाहता।' सुभद्रका स्वर स्वस्थ था—'मैं कहीं हूँ या रहूँ तो इसमें तेरी इच्छाके अतिरिक्त दूसरा कारण हो नहीं सकता।'

'तू मुझसे रूठ रहा है ?' श्यामने सखाके कन्धेपर भुजा रखी।

'रूठूँगा नहीं, तू मुझे सोने नहीं देता और भूत बनता है।' सुभद्र बोला—'मेरा तो तू ही भूत भी है, भविष्य भी; किन्तु तू भूत नहीं बन सकता। तू तो नित्य वर्तमान है।'

सुभद्रका वह सखा अदृश्य होगया और सुभद्र लेटा तो तब उठा जब प्रातःकालीन प्रकाश हो चला था।



सुरुचि ठीक है—

अतिथि भारतमें सदा अभ्यर्चनीय माना जाता रहा है। सुभद्रका आतिथ्य करनेमें राजा उत्तानपादने अपनेको धन्य माना। एक स्वच्छ कुटीर उसे दे दी गयी।

ब्रह्मावर्ततक पहुँचनेमें सुभद्रको कोई कठिनाई नहीं हुई थी। जैसे ही समतल क्षेत्रमें वह एक गृहस्थका अतिथि हुआ, उसे पता लग गया कि वह अनजानमें ही सरिताओंका अनुसरण करता सुरसरिके (तब अलकनन्दाके क्योंकि तब भागीरथीकी धारा थी ही नहीं) तटपर पहुँच गया है और अब; उसे सरिताके साथ ही चलकर उत्तानपादकी पुरी पहुँच जाना है।

उस समय न नगर थे, न ग्राम; किन्तु अलकनन्दाके तटपर स्थान-स्थानपर तपस्वी अवश्य उसे मिलते गये। गृहस्थ भी तपस्वी ही थे उस समय। कदाचित् ही कहीं दो या तीन कुटीरें समीप मिली होंगी। लोग एकान्त-प्रिय थे। अल्पमें संतोष करनेवाले, अपरिग्रही थे। तितिक्षु थे। अन्तर्मुख होना ही प्रिय था उस समय सबको।

दो या तीन कुटीरें समीप मिलनेका अर्थ होता था कि वहाँ वैश्य बसते हैं। वस्तु-विनिमय भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। गोपालन और कृषि; किन्तु कृषिका अर्थ इतना ही कि बिना जोते गीली भूमिमें समयपर बीज बिखेर दिये और पकनेपर उनका संग्रह कर लिया। यह अन्न-संग्रह तथा गोरस आगत अतिथिके सत्कारके लिए। कम ही सौभाग्य मिलता था कि आस-पास बसा गृहस्थ ब्राह्मण उसका कोई भाग स्वीकार कर ले। तबतक प्रतिग्रहसे विप्रोंको सहज अरुचि थी।

आप कह सकते हो कि उस समयका समाज अविकसित था। अरण्य-वासी लोग थे और तृण कुटीरोंमें यत्र-तत्र बिखरे रहते थे। नाम-मात्रका वस्त्र धारण था। लेकिन यह आरोप अज्ञान होगा आपका कि वे अनजान थे अथवा असमर्थ थे। तबतक मनुष्यने जाना ही नहीं था कि रोग क्या होता है। भोगोन्मुख प्रवृत्ति नहीं थी। तप एवं ध्यान प्रिय था। संकल्पबल इतना शक्तिशाली था कि इच्छा होते ही ब्रह्मलोकतक पहुँचना सरल था।

उस समयतक धरा सुरोंके लिए अपने उद्यानके समान थी। देवताओं तथा उपदेवता (गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, नाग, वानर, रीछ, दैत्य, दानव) में इतना ही अन्तर था कि मानवमें जन्मजात सिद्धियाँ नहीं थीं। अन्यथा इनके परस्पर वैवाहिक सम्बन्धतक होते थे। मनुष्यके लिए दिव्यलोक भी सहज गम्य थे।

अवश्य भौतिक उन्नति तब प्रिय नहीं थी। तब सेना-सेवकोंका आडम्बर उत्पन्न ही नहीं हुआ था। पुराणका विद्यार्थी भी जानता है कि प्रथम मनु स्वायम्भुव अपनी पुत्रीके लिए वर ढूँढ़ने निकले तो पत्नी और पुत्रीके अतिरिक्त केवल सारथी उनके साथ था और यात्रा करनी थी उन्हें ब्रह्मावर्त (कानपुरके समीप) से कर्दमाश्रम—सिद्धपुर (गुजरात) तककी।

ध्रुवका जब यक्षोंसे आगे युद्ध हुआ, ध्रुवके साथ भी कोई सेना नहीं थी। वे एकाकी ही यक्षपुरी अलका पहुँचे थे। सेना तो थी लोकपाल कुवेरके पास यक्षों (उपदेवताओं) की। लेकिन जो एकाकी भी जन्मसिद्ध यक्षोंकी बलवती सेनापर विजय पा सके, उसके अस्त्रज्ञानको अविकसित कहते समय सोचना आवश्यक है।

सुभद्रको मार्गमें जहाँ भी कोई कुटीर मिली, आतिथ्य प्राप्त हुआ। राजा उत्तानपाद तो चाहते थे कि वह उनके समीप ही रहे। वह रहा भी वहाँ पर्याप्त समय; किन्तु स्थायी कहीं बस जाना तो तबतक बहुत कम मनुष्योंने सीखा था। सुभद्र तो स्वभावसे परिव्राज़क था।

बहुत थोड़े उटज थे आस-पास। राजा उत्तानपाद अवश्य चक्रवर्ती कहे जा सकते हैं; क्योंकि इतने भी लोग उनके समीप बस गये थे। शासनतन्त्र तो तब ठीक उत्पन्न ही नहीं हुआ था। आजके ग्राम-चौधरी-जैसी ही स्थिति उत्तानपादकी थी। अवश्य उनका सदन मिट्टी-खपरैलका बना था। उनके समीप कुछ गज, अश्व और रथ थे। कुछ सेवक भी थे उनके जो परिवारके सदस्योंके समान ही व्यवहार पाते थे।

ध्रुव युवराज हो चुके थे। तप करके भगवान् नारायणका दर्शन किया था उन्होंने। अतः उनका सुयश व्यापक था। सब उनका सम्मान करते थे। सुनिश्चित था कि उत्तानपाद उन्हें निकट-भविष्यमें राज्यभार सौंपकर वनमें तप करने चले जायँगे।

इसका एक परिणाम और हुआ था। छोटी रानी सुरुचि उपेक्षिता हो गयी थीं। उनका पुत्र उत्तम अधिक समय आखेटमें व्यतीत करता था।

वह दूर-दूर निकल जाता था और महीनोंमें लौटता था। अब पिताके पास उसका मन नहीं लगता था। यद्यपि ध्रुवसे उत्तमका सौहार्द था और दोनों भाइयोंमें प्रीति थी।

ध्रुवकी माता सुनीति उत्तानपादकी प्रिया हो गयी थीं। वे निकटमें ही राजमाता होनेवाली थीं। उत्तानपाद उनकी बात टालते नहीं थे। वैसे सुनीति अत्यन्त विनम्र, संयमी और उपासनामें लगी रहनेवाली थीं। सुरुचिको उन्होंने सगी अनुजाका स्नेह ही दिया; किन्तु साज-सज्जा या गृह-व्यवहारमें उनकी रुचि नहीं थी। उनके स्वयंके केशतक, कम ही होता जब बिखरे न हों। शरीर तथा सामग्रीकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। पति-पुत्रकी सेवामें भी कम समय देती थीं वे।

सुरुचि वैसे अब भी गृह-स्वामिनी थीं। वही सेवकों और अतिथियोंको सँभालती थीं। ध्रुव उनका सम्मान करते थे। केवल पतिने उनकी उपेक्षा करदी थी।

सुभद्रका आतिथ्य कभी देवी सुनीति करतीं और कभी सुरुचि। दोनों रानियोंके सदन पृथक्-पृथक् थे। लेकिन सुभद्रका प्रवेश दोनोंके यहाँ अबाध था। दोनोंको वह 'अम्ब' कहता था। यद्यपि ब्राह्मणकुमार होनेसे उत्तानपाद भी उसको अभ्युत्थान देते थे और उसका सदा सम्मान करते थे।

सुभद्र स्वभावसे अरण्यानी था। उसे यह छोटा गाँव भी काटता लगता था। उटजकी फूसकी भित्तियोंमें वह बन्धनका अनुभव करता था। फलतः वह प्रायः रात्रिमें भी सरिताके पुलिनपर ही शयन करता था। दिनमें तो आहारके समय उसे ढूँढ़ना पड़ता था। वह वृक्षोंके नीचे बैठा मिलता या उद्यानमें।

'अम्ब सुरुचि ठीक हैं। उनकी सुव्यवस्था आवश्यक है। सीखनी चाहिये सबको। उनके करोंमें कला है।'—अनेक बार सुभद्रने ध्रुवसे यह बात कही।

'भगवान् मनुकी सन्तानको सुव्यवस्थित रहना है तो उसे छोटी अम्बासे सीखना पड़ेगा।' ध्रुवको भी यह बात मान्य थी। लेकिन ध्रुव स्वयं अपनी माताके समान आराधना-प्रिय थे। यह तो कुशल थी कि उस समयतक मनुष्यमें ईर्ष्या-द्वेष आया नहीं था और वह स्वावलम्बी था। अपने आस-पास स्वच्छता करनेको उसे कहना नहीं पड़ता था।

सतयुगका ब्राह्मणकुमार सुभद्र; किन्तु विचित्र प्रकृति मिली थी उसे। न तप, न ध्यान—केवल अलमस्त बैठा रहता या सरिता-तटपर सिर झुकाये घूमता। कुछ करनेमें प्रवृत्ति नहीं; किन्तु कुछ करना ही हो तो उपेक्षापूर्वक या अधूरा करना उसे अत्यन्त अरुचिकर है। जो करो, पूरा करो—पूरी निपुणता और सावधानीसे करो।

सुरुचिदेवी सचमुच सुरुचि थीं। उन्हें एक तृण भी अस्त-व्यस्त रहे, यह सहन नहीं था। उनका शरीर, सदन, सामग्री सब सुव्यवस्थित-सुसज्ज। रात्रिके अन्धकारमें भी कुछ पानेको उन्हें प्रकाशकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। प्रत्येक वस्तुका स्थान सुनिश्चित था। व्यवहारमें लानेके पश्चात् उसे वहीं रखा जाना चाहिये।

सुभद्र अधिकांश देवी सुरुचिका ही अतिथि होता था। वही आहारके समय सचिन्त होकर किसी-न-किसीको उसका अन्वेषण करने भेजती थीं। उनके यहाँ भी आहार प्रायः वही, जो देवी सुनीतिके यहाँ; किन्तु कर-पाद-प्रक्षालन कराने, उनका प्रोंक्षण, आसन और आहारको पात्रमें सज्जित करनेमें देवी सुरुचिकी कला प्रसन्न कर देती थी सुभद्रको।

'आप-कर प्रोक्षण-कर लें!' सुभद्र तो यहाँ आकर सीख सका कि आहारके पश्चात् प्रक्षालित कर-मुखको पोंछना भी चाहिये। वह तो स्नान करके शरीरको भी सुखानेका दायित्व वायुदेवपर छोड़ देता है। केवल कोपीन पहिननेवाला दूसरा कर भी क्या सकता था। लेकिन देवी सुरुचि नम्रतापूर्वक भी सूचना ऐसे देती हैं कि उनकी आज्ञा मानकर पालन करना पड़ता है।

'इसमें सौष्ठव ही नहीं है, सुविधा भी है।' सुभद्रने शीघ्र अनुभव कर लिया कि देवी सुरुचिको आवश्यक होनेपर वस्त्र-खण्ड अथवा आसन ढूँढ़नेके लिए कितनी अकुलाहट होती है और कैसे अस्त-व्यस्त हो जाती हैं वे। इस घबराहटमें अनेक बार आवश्यक करणीय भी विस्मृत हो जाता है।

'गृहमें रहना हो तो अम्ब सुरुचिके समान सुव्यवस्थित रहना उचित है।' सुभद्र सुरुचिकी सुव्यवस्थासे संतुष्ट होकर वहाँ रुक गया था, यह भी कहा जा सकता था। उसे माताका स्नेह मिला नहीं था। अब यहाँ सुरुचिकी सावधानीमें वह उसी स्नेहकी झलक पा लेता था।

'उनका जीवन जैसे समयके साथ जुड़ा है।' ध्रुवने बतलाया—'प्रत्येक समयका कार्य निश्चित है। उस ठीक समय वे वही कार्य करती मिलेंगी। सम्भवतः निद्रा भी उनके निर्दिष्ट समयपर आती और चली जाती है।'

'अम्ब सुरुचि ठीक है।' सुभद्र अनेक बार यह बात दुहराता है—'प्रकृतिमें ऋतु-परिवर्तन समयपर होता है। वृक्ष समयपर पुष्प-फल देते हैं। पशु-पक्षी समयपर सोते-जागते हैं। मनुष्यका शरीर भी समष्टिका अङ्ग है। समयके साथ इसकी चर्या जुड़ी रहेगी तो इसे सुविधा होगी।' शान्ति मिलेगी।'

सुभद्रका जीवन भी कम नियन्त्रित नहीं है। शैशवमें माता उसे प्रभातसे पूर्व उठा देती थी। कुछ ही बड़ा हुआ तो ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेका अभ्यासी हो गया। स्नान प्रायः सूर्योदयसे पूर्व तो सभी कर लेते हैं; किन्तु रात्रिके प्रथम प्रहरके बीतते-न-बीतते सुभद्र सो जायगा ही।

उत्तानपादकी पुरीमें आकर सुभद्रने देखा कि रात्रि-जागरणके अनुष्ठान, उपासना भी हैं। सम्पूर्ण रात्रि ध्यान करते बैठे रहनेवाले लोग भी उसे मिले थे; किन्तु वह कह देता है—'सृष्टिकर्ता जब मनुष्य बनाते हैं तो इस कर्मयोनिके प्राणीमें दूसरे सब प्राणियोंके स्वभावका किंचित् सम्मिश्रण कर देते हैं। मेरे निर्माणके समय वे रात्रिचरोंके स्वभावका सम्मिश्रण विस्मृत हो गये।'

'अम्ब ! रात्रि-जागरण एवं विचरण आवश्यक है ?' उसने सुरुचिसे एक दिन पूछा।

'तुम्हारे लिए कुछ आवश्यक नहीं है।' सुरुचिने सस्मित कह दिया—'किन्तु तुम हम-सबके लिए ऐसा कोई विधान करने मत बैठना। हम स्त्रियोंको उपोषित रहने और रात्रि-जागरणकी शक्ति सहज न मिले तो हम शिशुओंका संरक्षण-पोषण कैसे कर सकेंगी।'

सुभद्र गम्भीर हो गया—'अम्ब सुरुचि कितनी सावधान हैं ! कितना पूर्ण निर्णय है इनका।'

सुरुचिमें कभी अहंकार जागा था, यह सुभद्रने सुना था; किन्तु उसे उसका हृदय कभी महत्त्व नहीं दे सका।

मनु और सप्तर्षि—

अचानक एक दिन सप्तर्षि पधारे—(इस वैवस्वत मन्वन्तरके नहीं, उस स्वायम्भुव मन्वन्तरके)। सबके सब सृष्टिकर्ताके पुत्र। सब महर्षि—१. मरीचि, २. भृगु, ३. अङ्गिरा, ४. पुलस्त्य, ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. कर्दम।* ब्रह्मपुत्रोंमें-से अत्रि और वसिष्ठको पीछे सप्तर्षि पद प्राप्त हुआ। सम्भवतः इसलिये कि अत्रिने पृथुतक सूर्यवंशका पौराहित्य स्वीकार कर लिया था और पीछे वैवस्वतमन्वन्तरमें यह पद वसिष्ठने प्राप्त कर लिया।

सुभद्रके सम्मुख ही वे आ खड़े हुए थे, अतः उसने उन सबके चरणोंमें प्रणाम किया। आशीर्वाद देनेके अनन्तर उनमें-से महर्षि मरीचिने कहा—'वत्स! अभी सृष्टि प्रारम्भ ही हुई है। स्वयं सृष्टिकर्ता इसकी वृद्धिके लिए सचिन्त हैं। इस आदियुगमें ही यदि तुम-जैसे युवक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अपनालेंगे तो प्रजाकी वृद्धिमें बाधा पड़ेगी।'

'कन्हाईको तो विवाह करनेका व्यसन है।' सुभद्रने अपने ढंगसे उत्तर दिया—'आप सब उसे बुला लीजिये! आपकी सृष्टि वह बहुत बढ़ा देगा।'

'हम इस मन्वन्तरके सप्तर्षियोंका कर्तव्य तो कर्म-परम्पराको बनाये रखना है।' अब कर्दमजीने कहा—'तुम्हारे सखाको बुलाना हमारे वशमें नहीं है। वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं और तुमको भी हम कोई आज्ञा नहीं दे सकते। तुमसे हम अनुरोध ही कर सकते हैं।'

'व्यायाम कभी मेरे मनके अनुकूल नहीं पड़ा।' सुभद्रने कहा—'कर्मका नियमितपना मुझे व्यायाम ही लगता है। मैं समझ नहीं पाता कि प्राणी बहुतसे प्रपञ्चोंमें पड़कर क्या लाभ पाता है? चुपचाप कन्हाईके स्मरणमें जो परमानन्द है, उससे पराङ्मुख क्यों होता है?'

---

* श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण—दोनोंमें आया है कि प्रत्येक मन्वन्तरके मनु, सप्तर्षि तथा इन्द्र पृथक्-पृथक् होते हैं; किन्तु प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके मनुओंका पूरा नाम दोनों पुराणोंने नहीं दिया। पद्मपुराण, सृष्टिखण्डमें तथा भागवतमें भी वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके मनुओंके नाम हैं—१. अत्रि, २. वसिष्ठ, ३. कश्यप, ४. गौतम, ५. भरद्वाज, ६. विश्वामित्र, ७. जमदग्नि। पद्मपुराणमें वहीं स्वारोचिष मन्वन्तरके मनुओंके नाम हैं—१. अत्रि, २. दत्त, ३. च्यवन, ४. स्तम्ब, ५. प्राण, ६. कश्यप, ७. बृहस्पत्ति। महाभारतमें सप्तर्षियोंके नाम हैं—१. मरीचि, २. अत्रि, ३. अङ्गिरा, ४. पुलस्त्य, ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. वसिष्ठ। इन सबमें अत्रि और वसिष्ठके नामोंकी आवृत्ति हुई है—पता नहीं किस भूलसे।

सप्तर्षिगणोंके लिए इतना पर्याप्त था। वे कैसे कह सकते थे कि सुभद्र जो कह रहा है, वही परम सत्य नहीं है। जो प्रेमको प्रिय नहीं मानता, उसे प्रवृत्तिमें लगाया कैसे जा सकता है। श्रेय तो श्रीकृष्णका स्मरण ही है; इसमें मतभेद सम्भव नहीं। अतः वे ऋषि अदृश्य हो गये।

'मैंने इन ऋषियोंका लोक नहीं देखा।' सुभद्रको अधिक सोचना नहीं पड़ा। उसे एक दिन देवर्षि मिल गये। ऐसे ही अचानक मिल गये, जैसे सप्तर्षि आ गये थे। सुभद्रने उनसे पूछा—'सप्तर्षिके लोकमें मैं जा सकता हूँ?'

'तुम वहाँ तपस्या करोगे?' देवर्षि हँस पड़े—'यहींसे रात्रिमें, जब गगन निर्मल हो, उनके दर्शन कर लिया करो! वे कोई ऐसे लोक नहीं हैं, जहाँ तुम दो दिन भी रहो! एक-एक नक्षत्र-जैसे हैं वे और उनमें एक-एक ऋषि सपरिवार रहते हैं। सो भी केवल एक मन्वन्तरकाल।'

'वे वहाँ स्थायी नहीं रहते?' सुभद्रको कुतूहल हुआ।

'स्थायी तो सृष्टिमें कुछ नहीं है।' देवर्षिने बतलाया—'ऋषिगणोंके निवासलोक तो महर्लोक, जनलोक और ब्रह्मलोक (सत्यलोक) हैं। सप्तर्षि भी ब्रह्मलोकमें ही रहते हैं। उनके ये अपने लोक तो उनके कार्यालय-जैसे हैं। यहाँसे वे मर्त्यलोककी कर्मधाराका निरीक्षण-नियन्त्रण करते हैं। उचित अधिकारीको विद्या-प्राप्तिकी व्यवस्था प्रकट या अप्रकट रूपमें करते हैं।'

'केवल एक मन्वन्तरकाल?'

'दूसरे मन्वन्तरमें दूसरे सप्तर्षि स्थान-ग्रहण कर लेते हैं।' देवर्षिने स्पष्ट किया—'एक मन्वन्तर तक जो आधिकारिक पदपर रह चुके, उन्हें अपने तप, समाधिका—मुक्त होनेका अथवा विश्रामका अवसर मिलना चाहिये।'

सुभद्रको यह सब अच्छा नहीं लगा; किन्तु सृष्टिका नियम ही है कि सर्वोत्तम अधिकारीका भी सेवाकाल होता है। उसे भी सेवा-निवृत्त होना पड़ता है।

देवर्षिने सुभद्रको सकारण रोक दिया था। कहना यह चाहिये कि लोकोंको देखते समय सप्तर्षि-मण्डलको देखनेकी प्रवृत्ति उसमें सर्वेश्वरकी इच्छासे ही उत्पन्न नहीं हुई थी। जो नियम-अनुशासनमें नहीं रह सकता—जिसे विवश करना भी सुगम नहीं है, उसे किसी भी कार्यालयमें क्यों जाना चाहिये?

सप्तर्षि कारकपदपर होते हैं। इन्द्र, लोकपाल, सप्तर्षि, मनु, मनु-पुत्र प्रभृति सब कारक हैं; किन्तु मनु और सप्तर्षि तो असाधारण कारक हैं। मनुको मानव-संतानकी परम्परा बनाये रखनेका दायित्व है और सप्तर्षियों-को श्रौत-स्मार्त कर्म-परम्परा बनी रहे विश्वमें, इसके लिए सावधान रहना है।

'वत्स ! विश्वेश्वरका विधान विचित्र है।' एक दूसरे अवसरपर सप्तर्षि उत्तानपाद राजाके पास पधारे तो अवसर पाकर सुभद्रका समाधान किया महर्षि अङ्गिराने—'सृष्टिमें सदा न सात्विकता रह पाती, न राजसिकता या तामसिकता। हम लोग अभी सचिन्त हैं कि मनुष्य कुछ बहिर्मुख भी रहे। वह प्रवृत्तिको स्वीकृति दे, प्रजाकी सृष्टि करे; कर्म-प्रवृत्तिकी परम्परा ही सत्वगुणके उद्रेकमें लुप्त न हो जाय।'

सुभद्रने पूछा था—'आप सबको व्यस्तता या चिन्ता क्या है ? मानवकी संतान तो सहज सात्विक है। अधिकांशजन अन्तर्मुख हैं।'

'सतयुगमें हमको अन्तर्मुखता चिन्तित करती है और कलियुगमें मनुष्यकी बहिर्मुखता।' महर्षि अङ्गिराने कहा—'कठिनाई यह है कि ये युग बहुत शीघ्र परिवर्तित होते हैं। हमारे कार्यकालमें ही इकहत्तरवार चारों युग परिवर्तित होते हैं। कुशल यही है कि कलियुग अल्पायु है। उसकी आयु सतयुगकी केवल चतुर्थांश है। हमें त्रेता निश्चिन्त रखता है। द्वापरमें अल्प प्रयत्न करना पड़ता है।'

'कलिमें मनुष्य बहिर्मुख बनता है ?' सुभद्रको इसका अनुमान भी नहीं था। वह पहली बार चिन्तित हुआ—'कन्हाई भी विस्मृत कर देता है उसे।'

'तुम अपने सखाका स्वभाव जानते हो।' अङ्गिराने कहा—'मनुष्य उन्हें विस्मृत कर देता है और जो उन्हें भूल जाता है, उसके भाग्यमें भटकना ही रह जाता है। लेकिन वे अपनोंको कभी भूला नहीं करते।'

'हमें तो श्रुति-श्रौत कर्म-परम्पराकी चिन्ता रहती है।' महर्षि मरीचिने कहा—'कलिमें मनुष्य उसे त्याग ही नहीं देता, स्वयं उसे नष्ट करता है। कठिनाईसे हम बीन बजा पाते हैं परम्पराका।'

सुभद्रको इसकी चिन्ता नहीं थी। 'कोई परम्परा बचानी होगी तो कन्हाई कुछ कर लेगा। उसे बहुत युक्तियाँ आती हैं। लेकिन कलियुग क्या कन्हाईको विस्मृत बना देता है ? कन्हाई-से बलवान् है ?' सुभद्रको एक चतुर्युगी रहना है पृथ्वीपर और उसमें अन्तिम तो कलियुग ही है। वह अपनी चिन्तामें ऐसा डूबा कि सप्तर्षि कब चले गये, यह भी नहीं जान सका।

सुभद्रको निश्चिन्त किया मनुने। एक दिन मनु आ गये अपने पुत्र उत्तानपादसे मिलने। पुत्रका सत्कार स्वीकार करनेके अनन्तर जब वे बैठे, सुभद्र पहुँच गया। मनुने उठकर उसे प्रणाम किया कहकर—'मैं स्वायम्भुव मनु अभिवादन करता हूँ।'

'कल्याणमस्तु !' आशीर्वाद देकर सुभद्रने पूछा—'मैंने प्रथम आपका यहाँ दर्शन किया है।'

''मैं सृष्टिकर्ताके ही लोकमें रहता हूँ। वैसे उसके एक भागमें मेरा कार्य-स्थान है। उसे 'मनुलोक' कहते हैं।'' मनुने पूरा ही परिचय दिया—'मानवकी संतान परम्परा सुरक्षित रहे, यह दायित्व मुझे सृष्टिकर्ताने-दिया है।'

'आपके ये पुत्र प्रमाद नहीं करते।' सुभद्रने उत्तानपादकी ओर देखा—'इन्होंने सृष्टिको दो पुत्र प्रदान किये हैं और उनमें आपके पुत्र ध्रुव·······।'

'ध्रुव-सा पौत्र पाकर मैं धन्य हुआ।' मनुने प्रसन्न होकर कहा—'मैं सचिन्त था कि मेरा छोटा पुत्र प्रियव्रत देवर्षिका कृपापात्र होकर सृष्टिसे ही विमुख हो गया था। आज तो मैं उत्तानपादको सूचना देने आया हूँ कि भगवान् पद्मसम्भवने स्वयं कृपा करके प्रियव्रतको मेरु-शिखरपर दर्शन दिया। प्रियव्रतने उनका आदेश स्वीकार कर लिया है। अब वह कुछ विलम्बसे भी विवाह् करेगा तो मुझे चिन्ता नहीं है।'

'आप सर्वज्ञ हैं। मानवधर्मके प्रथमोपदेष्टा हैं।' सुभद्रने लगभग स्तुति करके पूछा—'क्या कलियुग कन्हाईका विस्मरण करा देता है ?'

'केवल उनको, जो आपके सखाके अनादिकालसे कलिके प्रारम्भतक बन नहीं जाते।' मनुने स्पष्ट कहा—'जो उनके हो जाते हैं या जिनके वे हैं, कलि उनका कुछ कर सकेगा, इसकी सम्भावना ही नहीं है। कलि हो या काल, रोग हो या मृत्यु, देवता हों या दैत्य, सबका पराक्रम कायातक ही चलता है।'

'भगवन् ! धन्य हैं आप।' सुभद्र प्रसन्न हो गया—'कुत्सित कायाकी क्या चिन्ता। इसे काक-गृद्ध खा लें या कलि भक्षण करे।'

'मनुको तो कायाकी ही चिन्ता करनी पड़ती है। मानव-संतान परम्परा बनी रहे, यह मनुका दायित्व है।' मनुने कहा।

'इसकी भी चिन्ता ?' सुभद्रकी समझमें बात नहीं आयी।

'आप देखते ही हैं कि मेरा पुत्र प्रियव्रत ही सृष्टिसे विमुख हो बैठा था। मैं जानता हूँ कि मेरा इस विषयका अनुरोध आप स्वीकार नहीं करेंगे। सतयुगमें ऐसे ही व्यक्ति अधिक हैं।' मनुने कहा—'आगे तो कलियुग आनेवाला है।'

'सप्तर्षियोंने तो कहा कि कलियुगमें लोग बहिर्मुख होंगे।' सुभद्र बोल उठा—'बहिर्मुख लोग भोग-परायण होंगे। वे अधिक संतान नहीं उत्पन्न करेंगे?'

'उनकी बहिर्मुखता ही विपत्ति बनती है।' मनुने कहा—'उनकी सुखेच्छा स्पर्धा तथा संघर्षको जन्म देती है; क्योंकि पदार्थ तो सभी परिमित हैं और कलिमें मनुष्य न संतानोत्पादनमें संयम रखता, न संग्रहमें। उसे अपनी बुद्धि संहारक अस्त्रोंके आविष्कारमें लगाना गौरव जान पड़ता है। बार-बार वह प्रकृतिका संतुलन नष्ट करता है। अतः सृष्टिमें असामयिक प्रलय उपस्थित हुआ करती है। मुझे अपनी संतानोंका बीज भी बचानेके लिए सर्वेश्वरकी कृपापर ही अवलम्बित होना पड़ता है।'

'कन्हाई बहुत क्रीड़ाप्रिय है और नटखट है।' सुभद्र हँसा—'कोई तो इसके कान नहीं पकड़ता।'

'वही कृपा करके कुअवसरमें मेरी सहायता करते हैं। मनुका स्वर श्रद्धा-भरित हो गया।

'आपके पुत्र प्रियव्रत कहाँ हैं?' सुभद्रने सहसा दूसरा प्रश्न कर लिया।

'वह मेरु-शिखरपर ही था।' मनुने कहा—'लेकिन शीघ्र उतर आवेगा। भारतभूमिको ही राजधानी बनावेगा। आप अवश्य उसे दर्शन दें। आपका सान्निध्य उसे प्रिय लगेगा और आप भी प्रसन्न होंगे उसके पास पहुँचकर।'

मनुको सम्भव है अपने पुत्रसे एकान्तमें कुछ कहना हो, यह सोचकर सुभद्रने उनसे विदा माँग ली। उत्तानपादके पाससे वह सुरसरितटपर आया तो एक ओर चल पड़ा। ब्रह्मावर्तमें पुनः उसे देखा नहीं गया। वह नित्य पथिक उसे कहाँ सूचना देने या विदा माँगनेकी औपचारिकता आती है। देवी सुरुचिके सेवक मध्याह्नमें उसे नहीं पा सके।



प्रियव्रतके पास—

'अन्धकार क्यों ?' प्रियव्रत प्रकाशकी पूजा करनेवाले, उन्हें अन्धकार अत्यन्त अप्रिय था।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

—यह प्रार्थना करनेवाला समर्थ होगा तो अन्धकार रहने देगा ? सृष्टि-कर्ताके पौत्र थे प्रियव्रत और समर्थ थे। अतः रात्रिमें अन्धकार हो जाय, यह उन्हें असह्य लगता था।

शेषशायी भी तो सम्बन्धमें उनके प्रपितामह ही होते हैं। अनेक बार बड़े-बूढ़े बालककी अनुचित हठ भी पूरी कर देते हैं, जिससे बालक स्वयं सीखे। भगवान् विष्णुने प्रियव्रतकी प्रार्थना मान ली। अन्ततः प्रियव्रत एक ज्योतिर्मय रथ ही तो चाहते थे।

आप भ्रममें न पड़ें। उस समय विमानमात्रको रथ ही कहा जाता था। प्रियव्रतको कैसा विमान प्राप्त हुआ, यह आप उसके कार्यसे अनुमान करें; क्योंकि उसका वर्णन करनेका उपाय नहीं है।

अन्तरिक्षमें—पृथ्वीके वायुमण्डलसे बाहर प्रियव्रत अपने विमानमें बैठकर उसी गतिसे चलने लगे, जिस गतिसे पृथ्वी अपनी धुरीपर घूमती है। जहाँ सूर्यास्त होता था, उस स्थानमें उसी समय अरुणोदय हो जाता था और दिन आने लगता था; क्योंकि प्रियव्रतका विमान सूर्यसे ठीक विपरीत दिशामें पृथ्वीके दूसरी ओर रहता था।

सूर्यके समान प्रकाश और उष्णता देनेवाला वह दिव्य विमान। उसमें एक ही चक्र था और उस चक्रसे अन्तरिक्षमें भी परिवर्तन होता था। सूर्यसे लेकर पृथ्वीतकके अन्तरिक्षमें उसके दबावने सात दिनके सात चक्करमें सात स्तर बना दिये। पुराण उनको 'सात समुद्र' और उनके अन्तरालको 'सात द्वीप' कहते हैं।

अन्तरिक्षमें इतना बड़ा अहर्निश सात दिन-रात चलनेवाला यह रथ और उसका प्रलयंकर परिवर्तन—पृथ्वीपर असंख्य परिवर्तन हो रहे थे। प्राणी संत्रस्त हो गये। वनस्पति सूखने लगी। रात्रि, जो विश्राम देती है, दुर्लभ हो गयी।

'आप यह अनर्थ कबतक करते रहेंगे ?' सुभद्र इसी समय पहुँचा और प्रियव्रतके रथपर ही पहुँच गया। उसे उस समय सम्भवतः सृष्टिकर्ताकी

इच्छासे अव्याहतगति मिल गयी थी। सृष्टिकर्ता भी अपने पौत्रके हठसे सात ही दिनमें संत्रस्त हो उठे थे।

'सावधान!' सुभद्रने विमानके सम्मुख पहुँचकर कहा तो स्वतः विमानका वेग रुक गया। प्रियव्रत समझ गये कि उन्हें ब्राह्मण अतिथि प्राप्त हुआ है। उन्होंने विमानमें ही उनकी सविधि पूजा की।

'सृष्टिकर्ता पितामहने मुझे संतान-वृद्धिकी आज्ञा दी है।' पूजाके पश्चात् सुभद्रने पूछा तो प्रियव्रतने कहा—'अन्धकार तो मृत्यु है। उसे मिटानेसे पूर्व जो सृष्टि होगी, वह किस कामकी होगी।'

'इसीलिये आप संहारमें संलग्न हैं? सुभद्रने झिड़क दिया।

'संहार?' प्रियव्रत चौंके—'अन्धकारको ही मैं मिटा रहा हूँ।'

'भगवान् विराट्का ही पृष्ठदेश अधर्म है तो क्या उसे आप नष्ट कर देना चाहेंगे?' सुभद्रने समझाया—'प्रकाश और अन्धकार परस्पर पूरक हैं। आदित्य-मण्डलमें नित्य प्रकाश है तो क्या वहाँ प्राणि-सृष्टि है या पनपेगी? आप इस अनर्थको अभी त्याग दें। अन्ततः आप अनन्तकालतक अपना रथ ही दौड़ाते रहेंगे तो सृष्टिकर्ताके आदेशका कब पालन करेंगे?'

'आपकी आज्ञाका अनादर मैं नहीं कर सकता।' प्रियव्रतमें आवेश था; किन्तु प्रमाद नहीं था। वे सुभद्रके साथ रथसे पृथ्वीपर उतरे तो रथ अदृश्य हो गया।

'आप नहीं जानते कि कन्हाई कितना नटखट है।' सुभद्र पृथ्वीपर आते ही सहज हो गया। उसने प्रियव्रतसे कहा—'आपने हठ किया तो उसने आपको एक खिलौना पकड़ा दिया। आपने भी नहीं सोचा कि इस विमानसे आप सदा इस प्रकार परिक्रमा ही तो नहीं करते रह सकते और अनवरत प्रकाशका बना रहना प्राणियोंके लिए बहुत प्रिय स्थिति भी नहीं है।'

'मुझसे प्रमाद हुआ।' प्रबुद्ध प्रज्ञा पुरुषमें मूढ़ाग्रह नहीं रहने देती। प्रियव्रतको अपनी भूल समझमें आ गयी—'मुझे सृष्टिकर्ताने भी नहीं रोका और श्रीहरिने भी विमान देते समय समझाया नहीं।'

'कन्हाई नटखट है, मेरी यह बात आप क्यों भूल जाते हैं?' सुभद्र हँसा—'उसे अभीष्ट होगा यह परिवर्तन जो आपके रथने किया है। अतः उसने आपको अपना माध्यम बना लिया।'

'उन्होंने यदि इस तुच्छ जनको इस योग्य माना तो उनका अहैतुक अनुग्रह ।' प्रियव्रतके नेत्रोंमें अश्रु छलक आये ।—'उनकी सेवा कर सके, इतनी शक्ति और साधन जीवके समीप कहाँ । देवर्षिने दया की मुझपर, उनके नाते परमप्रभुने यदि सेवा ली हो तो मेरा सौभाग्य ।'

'अब आप सृष्टिकर्ताको सहयोग देनेमें लगें ।' सुभद्रको पता नहीं क्यों परिवार-पालनके प्रपञ्चसे चिढ़ है । वह कहता है कि 'कन्हाईने इतने विवाह कर लिये, और बहुत-से कर लेगा । दूसरोंको प्रपञ्चमें पड़नेकी आवश्यकता क्या है ? सृष्टि बढ़ानेके लिए श्याम ही बहुत है; किन्तु ब्रह्माजी बूढ़े होनेपर भी लोगोंको बहका देनेमें निपुण हैं । उन्हें सबको सृष्टिकर्ममें जोत देनेकी धुन है । अब जो पशु हैं, जुतेंगे ही ।'

'आप अपनी सेवाका कुछ अवसर नहीं देंगे ?' प्रियव्रतने बहुत विनम्र होकर, बड़े आग्रहपूर्वक कहा—'आपकी इच्छामें मैं कोई प्रतिघात नहीं उपस्थित करूँगा ।'

'मेरी सेवामें तो कन्हाई कभी प्रमाद नहीं करता और आप जानते हैं कि श्याम सावधान हो तो अन्य किसीकी सहायता सुयोग नहीं पा सकती ।' सुभद्रने प्रियव्रतको इतनेपर भी निराश नहीं किया—'मैं आपके पास कुछ काल रहूँगा; किन्तु मुझे गृह-कुटीर कारागार लगते हैं । अतः आप मुझे स्वच्छन्द रहने दें ।'

प्रियव्रतके पास इसे स्वीकार करनेके अतिरिक्त उपाय नहीं था । दूसरे उन्हें अभी अपनी राजधानी व्यवस्थित करनी थी । शीघ्र ही उन्होंने विश्वकर्माकी प्रार्थनापर उनकी कन्या वर्हिष्मतीका पाणि-ग्रहण कर लिया ।

अपने ज्येष्ठ भ्राता उत्तानपादके समान ही प्रियव्रतने भी सुरसरिके तटपर ही राजधानी स्थापित की । उत्तानपाद ब्रह्मावर्तमें बसे थे । प्रियव्रतने अपनी पुरीका नाम पत्नीके नामपर वर्हिष्मती रखा । (यह वर्तमान कासगंज है या सोरों) ।

सुभद्रको भी प्रियव्रतका सामीप्य उत्तम लगा । यहाँ उसे प्रति-दिन आहारके लिए भी ढूंढ़ने कोई नहीं आता था । उत्तानपादकी पुरीमें यह व्यवस्था उसे बन्धन प्रतीत होती थी । यहाँ तो जब उसकी इच्छा होती थी, आ जाता था । आनेपर अवश्य राजमहिषी वर्हिष्मती उसे आग्रह करके आहार करा देती थीं; किन्तु कभी कोई नहीं पूछता था कि वह कहाँ रहता

है। वह सुरसरिके तटपर, पुलिनमें या वृक्षोंके नीचे चाहे जहाँ बैठा रहता। कहीं सो जाता और आहार तो वृक्ष भी दे देते थे।

एक सुविधा और थी यहाँ। इस ओर बहुत अधिक गायें थीं। इतनी अधिक गायें उसे अभी कहीं नहीं मिली थीं। सुभद्र स्वभावसे गायोंसे स्नेह करता था। गोवत्सोंसे उसका सख्य था। वह गायों या बछड़ोंसे अपने कन्हाईकी बातें करना भूल ही जाता था कि ये पशु उसकी बात समझते भी हैं या नहीं। वह पुलिनपर बछड़ोंके साथ दौड़ता या गायोंको सहलाता रहता था।

'अम्ब ! मैं दूध पिऊँगा।' वह चाहे जिस सवत्सा गायके स्तनमें मुख लगाकर भरपेट दूध पी लेता था। वह मुख लगाना चाहे तो गौ पैर फैलाकर खड़ी हो जाती थी। अनेक बार गायें इस प्रकार उसके आगे आकर खड़ी हो जाती थीं, जैसे उससे दूध पी लेनेका आग्रह करती हों। छोटे बछड़ेतक उसे सिरसे ठेलकर, अपनी माँके स्तनमें मुख लगाकर संकेत करते थे कि वह उनकी माँका दूध उनके साथ पीये। इस सुविधा एवं गायोंके मध्य रहनेके सुखने भी उसे बहुत कालतक वहाँ रोक रखा।

प्रियव्रतके दस पुत्र हुए और सबसे पीछे एक कन्या हुई। प्रियव्रतने कन्या—ऊर्जस्वतीका विवाह तो शुक्राचार्यजीसे कर दिया। इसी ऊर्जस्वतीकी पुत्री देवयानी हुई। अपने रथ (विमान)के चक्रसे विभक्त सात द्वीपोंमें-से एक-एक द्वीप प्रियव्रतने अपने एक-एक पुत्रको दे दिया। उस समय उन दिव्य-लोक प्रायद्वीपोंको भी बसाना ही था। वहाँके शासनका अर्थ ही था कि प्रजाकी स्थापना भी वहाँ की जाय।

कवि, महावीर और सवन—ये तीन पुत्र प्रियव्रतके सुभद्रके अनुयायी बन गये। इन तीनोंको शैशवसे सुभद्रके ही आस-पास खेलना प्रिय था। सुभद्र भी इनसे स्नेह करता था। इन तीनोंने बड़े होकर भी विवाह करना स्वीकार नहीं किया। ये भी पिताके पास तबतक रहे, जबतक सुभद्र वहाँ रहा। उसके वहाँसे जानेके पश्चात् तो ये तीनों परिव्राजक हो गये।

प्रियव्रत स्वयं जन्मसे वीतराग भगवद्भक्त थे। उन्हें देवर्षि नारदका सत्सङ्ग प्राप्त हो गया था प्रारम्भमें ही। पितामह सृष्टिकर्ताकी आज्ञा स्वीकार करके वे गृहस्थ हुए थे; किन्तु उनके चित्तमें वैराग्यका सम्मान था। अतः तीनों पुत्रोंको सुभद्रका सामीप्य मिलते देखकर वे प्रसन्न हुए थे। उन्होंने पुत्रोंको प्रोत्साहित किया था।

राजमहिषी बर्हिष्मती विश्वकर्माकी पुत्री थीं। अत्यन्त व्यवहार-कुशल और निर्माण-निपुणा। वस्तुतः प्रियव्रतकी राजधानी तो उन्होंने बसायी। विवाह होकर आनेके पश्चात् उन्होंने पुरीकी कल्पना की। ठीक अर्थोंमें पहला नगर पृथ्वीपर 'वर्हिष्मतीपुरी' बसा। विश्वकर्माने अपनी पुत्रीके लिए उसकी परिकल्पना की। उसमें पक्के, अत्यन्त सुन्दर भवन बनाये उन्होंने और नगर-परिखा निर्मित की। नगरके समीप उद्यान बनाये। सरोवर निर्मित किये।

सुभद्र चला गया होता इस नगर-निर्माणके साथ वहाँसे; किन्तु प्रियव्रतके तीनों पुत्रोंसे उसे स्नेह हो गया था। वे कुमार भी उसके समीप ही रहते थे। उन्होंने भी नगरमें जाना प्रायः छोड़ रखा था। सुभद्र कभी-कभी उनको पिता-माताका सानिध्य सुलभ करानेके लिए उनके साथ नगरमें जाता था। अन्यथा वे कुमार तो गायोंका दूध पीकर और भूमि-शयनसे सन्तुष्ट थे।

राजमहिषी वर्हिष्मती पतिव्रता थीं—क्योंकि प्रियव्रत अपने तीन पुत्रोंका विरक्त-जीवन महत्तम मानते थे, राजमहिषीने उसमें कभी वाधा नहीं दी। वैसे अपने शासकपुत्र उन्हें प्रिय थे। इसीलिये जब अन्तमें प्रियव्रत वनमें तप करने जाने लगे, देवी बर्हिष्मती पुत्रोंके समीप ही रहीं। सुभद्र तो उससे बहुत पूर्व वहाँसे जा चुका था। राजकुमारोंका स्नेह भी उसे बहुत कालतक नहीं रोक सका।



शुचिका सौन्दर्य बोध—

'अद्भुत है यह कन्या। सब कुसुम-संग्रह करते हैं और यह जाने कहाँ-कहाँसे कण्टक उठा लाती है।' माँ झल्ला रही थीं। स्वच्छता करते समय उनकी अँगुलीमें एक काँटा चुभ गया था। कोई कहाँतक स्मरण रखे कि काँटोंकी टहनियाँ कहाँ-कहाँ रखी हैं। कण्टक भी कोई गृह-सज्जाकी वस्तु हैं।

'माँ! कुसुम तो सदा एक जैसे नहीं रहेंगे और म्लान हो जायँगे।' जैसे, तन्त्रीने मधुर झंकारकी हो, ऐसे कोमल स्वरमें वह बालिका बोली—'इन कण्टकोंको मैं मनके अनुरूप सजा लेती हूँ और ये म्लान नहीं होते।'

बबूलके बड़े-बड़े काँटोंकी सूखी टहनियोंमें रंग-विरंगी रुईसे अनेक प्रकारके पुष्प बनाये थे उस बालिकाने। यह उसका व्यसन था।

'तुझे कभी पुष्प प्रिय भी लगे हैं!' पता नहीं कैसी है यह कन्या। अनेक व्यसन हैं इसके। उसमें भी प्रधान व्यसन है चित्राङ्कन; किन्तु कभी तो इसने किसी सुन्दर वस्तुको चित्रित किया होता! इसे निष्पत्र तरु जराजीर्ण वृषभ, जलविरहित सरोवरके शुष्क सरोज मिलते हैं चित्रित करनेको। यह कभी अन्धड़-भग्न तरु बनायेगी और कभी तप्त ग्रीष्ममें किसी शिलातलसे चिपका भुनगा।

'माँ! मैं आज मनुष्यका चित्रण करूँ?' बालिकाने पीछेसे माताके गलेमें दोनों हाथ डाल दिये। मातासे ही तो स्नेह पाना सम्भव है। पितामें श्रद्धा की जा सकती है; किन्तु वे तो कदाचित ही कभी पूरे दिन सुलभ होते हैं। उन्हें ध्यान-तपसे कहाँ अवकाश है।

'तू मनुष्यमें मेरा चित्रण करेगी या अपने पितृचरणका?' माताने सस्नेह पूछा।

'तुम तो सम्मुख हो और पितृचरण ध्यानस्थ प्रतिमा जैसे लगेंगे।' बालिकाने मुख बनाया—'सरिताके समीप जो जरहा हैं....।'

'उनका धमनि-संतत शरीर तुझे चित्रित करनेयोग्य लगता है?' माता हँस पड़ी—'तू किसी सुन्दर युवाको चित्रित करनेयोग्य माने तो मैं

तेरे पितृचरणसे प्रार्थना करूँ कि वे उसीको तुझे प्रदान कर दें !' माताने कुछ हँसकर कहा; किन्तु सचमुच यह उनकी चिन्ता है। उनकी यह अल्हड़ शुचि सयानी हो गयी है और सचमुच युवा सरलतासे मिलते नहीं। कोई ऋषिकुमार इसके मनको आकृष्ट करे तो उनसे प्रार्थना भी की जाय; किन्तु यह तो अपनी तूलिकाके साथ तल्लीन रहती है और चित्राङ्कनके लिए भी कैसे-कैसे विचित्र विषय चुनती है।

'माँ !' बालिकाने माताका मुख अपनी हथेलीसे ढक दिया। उसके स्वरमें रोष था। उसका मुख अरुण हो उठा था।

'नारायण !' सहज उटज-द्वारसे मेघ-गम्भीर स्वर आया। गृहस्वामिनी हड़बड़ा उठीं। शीघ्र वे द्वारपर पहुँचीं और जब अतिथिने देखते ही 'सावधान' कहा, उन्होंने भूमिपर मस्तक रखकर अभिवादन किया।

'भगवन् ! यह भी ब्राह्मणका ही आवास है।' गृहस्वामिनीने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'मैं धन्य हुई। श्रीहरिकी असीम कृपाने आज अतिथिकी सेवाका सौभाग्य दिया।'

'शुचि ! अर्घ्य उपस्थित कर !' तनिक मुख पीछे उटजकी ओर करके उन्होंने अपनी पुत्रीको पुकारा। उनको पता नहीं था कि पुत्री तो उनकी पीठसे लगभग सटी, सिकुड़ी खड़ी है।

'लाई अम्ब !' वह उटजमें भाग गयी। अतिथि उस पाटलवर्णी सुकुमार बालिकाको देखता रह गया।

'अम्ब ! मैं सुभद्र।' अतिथि किञ्चित् हतप्रभ बोला—'अत्यन्त अल्पायुमें पिताने शरीर त्यागा। मातामहसे सुना है कि मैं मरीचिगोत्रीय हूँ।'

'वत्स ! ब्राह्मणकुमारका तेज ही उसका पर्याप्त परिचय है।' अम्ब सम्बोधनने गृहस्वामिनीको उल्लसित कर दिया था—'गृहपति सरिताके समीप शिलातलपर समाहित आसीन हैं। तुम अर्चा-ग्रहण करके विश्राम करो। मैं उनको उत्थित करनेका प्रयत्न करूँगी।

'इसकी आवश्यकता नहीं होगी।' सुभद्रने सहज कहा—'मैं उनके स्वयं दर्शन करूँगा और मैंने अनुभव किया है कि मेरी प्रणति ऋषिगणोंको समाधिसे जाग्रत् कर देती हैं। इसीलिये मैं बहुधा दूरसे प्रणाम करके प्रस्थान कर देता हूँ। साधककी समाधिमें विघ्न बनना तो उत्तम बात नहीं है।'

'अथितिकी अर्चना करो !' शुचिको उसकी माताने आदेश दे दिया। उटज-द्वारपर उन्होंने अर्घ्य देकर अतिथिको अन्दर लाकर आसन दिया था; किन्तु उनके करोंसे पाद्य स्वीकार करनेमें सुभद्र संकुचित हो रहा था । अत: यह भार माताने शुचि पर डाला और स्वयं अतिथिके आहारकी व्यवस्थामें लग गयीं ।

'आप !' शुचिने बड़ी कठिनाईसे कहा । पाद्यार्पणके पश्चात् अतिथिके भालको चन्दन-चर्चित करते उसके कर कम्पित हो रहे थे । उसका शरीर स्वेद-स्नात होरहा था ।

'स्वर्णा, तुम यहाँ शुचि हो; किन्तु अभी सतयुग है और सुभद्रको चतुर्युगी पृथ्वीपर पूरी करनी है ।' संकोचहीन होकर उसने स्पष्ट कहा— 'कन्हाईके समीप तुम—सबको समेटते ही जाना है; पर अभी बन्धन मत बनो ! मेरे और भी प्रतिबिम्ब पृथ्वीपर पड़े हैं ।'

'कम-से-कम इस जीवनमें मैं अपनी कलाको ही अर्पिता बनी रहूँ, यह आज्ञा दे दीजिये ।' शुचिने मस्तक झुका लिया । उसके दीर्घ दृगोंसे अश्रु झरने लगे थे ।

'तुमने स्वयं शाप स्वीकार कर लिया था ।' सुभद्र धीमे स्वरमें ही बोला—'उसे सार्थक होना चाहिये; किन्तु इस जन्ममें तुम स्वतन्त्र हो ।'

शुचिको वरदान देकर सुभद्रको लगा कि वह स्वयं किसी अज्ञात दायित्वसे मुक्त हुआ है ।

'यह मेरी एकमात्र संतति है ।' सुभद्र जब आहार-ग्रहण कर चुका, गृहस्वामिनीने अपनी कन्याका परिचय देना प्रारम्भ किया । 'इसमें केवल एक दोष है—चित्राङ्कन ।'

'यह तो कोई दोष नहीं है ।' सुभद्र इस चर्चामें कोई रुचि नहीं ले रहा है, यह शुचिने तो लक्षित कर लिया; किन्तु उसकी माँ उत्साहमें थीं । शुचि अब किञ्चित् मुखर बन चुकी थी । उसका संकोच समाप्त होगया था । अत: उसीने माताका प्रतिवाद किया ।

'तू अतिथिको अपने चित्र दिखलानेका साहस करेगी ?' माता चाहती थीं कि उनकी कन्या स्वयं चित्र दिखलावे । यह भी आशङ्का थी कि माता यह प्रयत्न करें तो पुत्री रूठेगी, प्रतिरोध करेगी ।

'लो' देख लो आप।' शुचि लगभग अपना पूरा संग्रह ही उठा लायी। उस समय न कागज था, न ब्रुश थे और न आजके रंग थे। शुचिने बाँसकी टहनियाँ कूटकर ब्रुश बनाये थे, कुछ ब्रुश उसने कहींसे अश्वकी पूँछके बाल प्राप्त करके बनाये थे। उसके रंग भी विचित्र थे। हल्दी, गेरू, पके नागफनीके फल, कुछ पुष्पोंके रस। भूर्जपत्रपर अथवा सूखे ताड़पत्रपर बने थे वे चित्र।

'साधु!' देरतक चित्रोंको तन्मय देखता रहा सुभद्र। अन्तमें जब उसने सिर उठाया और प्रशंसाकी दृष्टिसे शुचिकी ओर देखा, उस बालिकाने अपना लज्जारुण मुख झुका लिया। 'कोई नहीं कह सकता कि यह किसी रजतश्मश्रु जरठकी कृति नहीं है।'

'यह ऐसे ही अटपटे अङ्कन करती है।' माताने कहा—'पता नहीं क्यों, इसे दूसरोंको प्रिय लगते हैं वे पदार्थ और दृश्य अङ्कनके योग्य ही नहीं लगते।'

'अन्तरमें इतनी उदासीनता और असहाय व्यथा तुम्हारे क्यों है?' सुभद्रने शुचिसे कह तो दिया; किन्तु समझता था कि यह प्रश्न उसे नहीं पूछना चाहिये।

'कहाँ? आप माँसे पूछ लीजिये, मैं तो प्रसन्न ही रहती हूँ।' शुचिने प्रतिवाद किया।

सुभद्र कैसे कहे कि संसारमें अपनेको सुप्रसन्न दिखलाना एक बात है और अन्तरमें उल्लसित रहना उससे सर्वथा भिन्न बात है। व्यक्ति वह नहीं है, जो अपनेको दिखलाता है। व्यक्ति वह भी नहीं है, जो दूसरे उसे जानते हैं। व्यक्ति वह है, जो एकांतमें अपने अन्तरमें है।

'तुम कन्हाईका स्मरण करो! वह आनन्दघन है।' माँ तनिक उठ गयीं तो सुभद्रको शुचिसे कहनेका अवसर मिला। 'उसे प्रेम करो तो....'

'अब ऐसी बात तो मत कहो।' शुचिने अत्यन्त स्नेह एवं आत्मीयताके स्वरमें अनुरोध किया—'देवरको स्मरण नहीं करना पड़ता। वे हैं ही ऐसे कि उन्हें कोई एक बार स्मरण करके फिर भूल नहीं सकता और स्नेह तो उनका स्वत्व है। आपको स्मरण किया जाय और वे साथ स्मृतिमें न आवें, यह बनेगा?'

'केवल उसीका स्मरण करो!' सुभद्रने कहा—'मुझे विस्मृत करके सुखी होगी। पथिक एक दिनको आया, रात्रिसे पूर्व चला जायगा।'

'वत्स ! तुम आज अभीसे जानेकी बात क्यों करते हो ?' शुचिकी माँने सुभद्रकी बातका अन्तिम अंश सुन लिया था—'अभी सायं इसके पितृचरणको उत्थित करके उनका आशीर्वाद लो और उनदी इस कन्याको····।'

'अम्ब ! मैं अपने पिताकी एकमात्र संतान हूँ।' सुभद्र कहकर संकुचित होगया। जिस कन्याके कोई भाई भाई न हो, उसका पुत्र अपने पिताके गोत्रका न होकर मातामहके गोत्रका हो जाता है, यह मर्यादा तो ठीक है; किन्तु इस सत्यको सम्मुख रखकर शुचिको अस्वीकार करनेका जो बहाना बनाया गया, बहुत अप्रिय पद्धति लगी सुभद्रको। वह स्वयं संकुचित होकर मौन रह गया।

'वत्स ! हम आग्रह नहीं करेंगे !' शुचिकी माताने कोई क्षोभ प्रकट नहीं किया। उन्होंने शालीनतापूर्वक ही कहा—'तुम्हारा सोचना उचित है। जन्मदाताके गोत्रका संरक्षण प्रथम कर्तव्य होना चाहिये।'

'अम्ब ! उसकी भी आशा मुझसे नहीं है।' अब सुभद्र अपने अप्रिय कह गये सत्यको सँभालने लगा—'मेरी रुचि न ध्यानमें है, न तपमें और न मैंने अध्ययन किया। उटजकी भित्तियाँ भी मुझे बन्धन प्रतीत होती हैं। कहीं एक स्थानमें रुके रहना मुझे स्वीकार नहीं है। अतः प्रायः यात्रामें रहता हूँ।'

'जन्मजात अवधूत होते हैं, ऐसा सुना तो है।' श्रद्धासहित उस विप्रपत्नीने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'हमारा सौभाग्य कि तुमने हमें आतिथ्यका अवसर दिया। यदि गृहपतिको भी दर्शन दे जाते।'

उनकी समाधिमें व्याघात बनना उचित नहीं होगा।' सुभद्रने कहा—'उसका कोई प्रयोजन नहीं है अम्ब !'

'यदि इस ओरसे कभी पुनः आगमन हो····।' शुचिकी माताका स्वर भर आया। उन्हें इस युवा अतिथिसे स्नेह हो गया है। लेकिन ऐसे अनुरोधकी कोई सार्थकता नहीं, यह वे समझ रही थीं।

सुभद्र बिदा हुआ। जबतक दीखता रहा, माताके साथ खड़ी शुचि साश्रुनेत्र देखती रही। अब क्या वह अपने ढंगके चित्राङ्कन फिर कर पावेगी ?

पृथुका प्रयत्न—

अवर्षणने सतयुगके समाजको अस्त-व्यस्त कर दिया। धर्मका सम्पूर्ण पालन हो तो प्रकृतिका संतुलन बना रहता है; किन्तु किञ्चित् भी व्यत्तिक्रम होनेपर वह संतुलन बिगड़ता है और जब प्रकृतिका संतुलन बिगड़ेगा, कहीं-न-कहीं विपत्ति भी आवेगी।

राजर्षि अङ्गका पुत्र वेन अत्याचारी बन गया। उसने यज्ञादि बंद करा दिये त्रेताके प्रारम्भमें ही। घोषणा कर दी कि केवल उसीकी अर्चा की जाय, उसीको उपहार अर्पित हों। ऋषियोंके क्रोधने वेनको तो नष्ट कर दिया; किन्तु दस्यु बढ़ गये। जब शासक स्वार्थी बना तो प्रजामें स्वार्थ कैसे नहीं जागता।

वेनके शरीरके मन्थनद्वारा ऋषियोंने पृथुको प्रकट किया और उन्हें राजा बनाया; किन्तु तबतक प्रकृतिका संतुलन बिगड़ चुका था। अवर्षण-से अकाल पड़ा और प्रजा संत्रस्त हो गयी।

तबतक मनुष्यने संग्रह नहीं सीखा था। विपत्तिके लिए बचाना आया नहीं था उसे। लोग स्वच्छ चाहे जहाँ रहते थे। बीज पृथ्वीमें बिना जोते डाले और समयपर एकत्र कर लिया। अब अवर्षणसे बीजोंके अंकुर ही सूख गये। वृष्टि नहीं हुई तो कन्द, फल भी कम हुए। प्रजा आहारके अभावमें व्याकुल हो उठी। पृथुके पास पुकार करे प्रजा, दूसरा उपाय नहीं था।

पृथुके प्रचण्ड पराक्रमने पृथ्वी देवीको भी भयभीत कर दिया। वे स्वयं प्रकट होकर अपने दोहनकी विधि निर्दिष्ट कर गयीं। पृथु भू-दोहनमें लग गये। उन्होंने पूरी प्रजाको उद्योगमें लगा दिया।

अथक उद्योग चलने लगा पृथुका। सबसे बड़ा उद्योग पृथ्वीको समतल करनेका। अबतक तो पृथ्वी कदाचित् ही कहीं थोड़ी समतल थी; किन्तु पृथुने कृषिकी पद्धति प्रचलित की तो समतल क्षेत्र आवश्यक हुए।

अनेक पर्वतोंको, जो मैदान क्षेत्रमें थे, पृथुने समाप्त ही कर दिया। अपने दिव्यास्त्रोंका उपयोग करनेमें हिचके नहीं। इस उद्योगमें वनका बड़ा भाग अवश्य नष्ट हुआ; किन्तु अधिक अतिवन (कण्टकवन) ही काटे गये।

सिंचाईकी व्यवस्था तब भी बनी नहीं थी। केवल यह ध्यान रखा गया कि वर्षाका जल वह ही न जाय, खेतोंको सींचता भी जाय। ऊँचे स्थल समतल हुए और नाले कम किये गये। उस समय इतना भी बहुत अधिक था।

कृषिके लिए सहयोग आवश्यक है। पृथुको लगा कि अकालके समय प्रजाकी रक्षाके लिए राजाके समीप संग्रह चाहिये। यह संग्रह प्रजासे ही प्राप्त करना था। अतः करकी व्यवस्था बनी और यह भी आवश्यक हुआ कि लोग एकत्र बसें।

पृथुके सम्मुख प्रियव्रतकी पुरी बर्हिष्मतीका आदर्श था। उन्होंने नगर, ग्राम बसाने प्रारम्भ किये। उस समयके शब्दोंमें नगर, पुर (कस्बे), ग्राम, खेट (बहुत छोटे ग्राम), खर्वट (फूसकी कुछ झोंपड़ियाँ), वाटी (पशु-पालकोंके स्थायी निवास) बसाये गये।

द्वापरान्ततक राजकीय करकी व्यवस्था बहुत सीधी थी। उत्पादनका षष्ठमांश समीपके जलाशयके तटपर रख दिया जाता था। राजसेवक स्वयं उठा ले जाते थे।

पृथु सच्चे अर्थमें प्रथम राजा थे। उन्होंने राजधानी बनायी ब्रह्मावर्तमें। जब बस्तियाँ बनीं, वर्ण-व्यवस्था सुदृढ़ हो गयी। कृषिजीवी होनेके साथ वैश्योंने वस्तु-विनिमय प्रारम्भ किया। सेवकोंकी आवश्यकता पड़ी। पृथुने सेना बनायी। नगरोंके बालकोंके शिक्षणके लिए ब्राह्मणोंने समीपके वनोंमें ऋषिकुल चलाना प्रारम्भ किया।

सुभद्रने पहुँचकर 'सावधान' कहा तो सम्राट पृथु सिंहासनसे उठ खड़े हुए। उन्होंने अत्यन्त आदरपूर्वक अर्चनाकी सुभद्रकी।

'आपने तो पृथ्वीको ही परिवर्तित कर दिया।' सुभद्र अपने अनुभवकी बात कह रहा था। उसने इधर यात्रामें बसे नगर, ग्राम देखे थे। बहुत अधिक धरातल समतल हो चुका था।

सुभद्रको लगा था कि अब यात्रा अधिक सुविधापूर्वक तो हो गयी है; किंतु सुगम नहीं है। वन कम हो गये हैं और यदि खेत न भी हों तो उद्यान बढ़ गये हैं। उद्यानके वृक्षोंपर तो किसी-न-किसीका स्वामित्व होता है। उनके फल उनके स्वामीकी अनुमतिके बिना ग्रहण करना चौर्यकर्म होगा। दूसरी ओर नगर, ग्राम ही नहीं, खर्वट या वाटी भी पथमें पड़ती हो तो वहाँके लोग आतिथ्यका बहुत अधिक आग्रह करते हैं। इस प्रकार यात्रामें अवरोध बहुत हो गया है।

"धराको मैंने पुत्री स्वीकार कर लिया है।' पृथुकी पुत्री होनेसे ही तो इसका नाम 'पृथिवी' पड़ा। 'अब पुत्रीको सज्जित करनेका भी तो दायित्व पिताका ही है।'

'तब आप इसका दान भी करेंगे।' सुभद्र हँसकर बोला—'बड़ा कठिन होगा उर्वीके लिए सुयोग्य वरका अन्वेषण।'

'कठिन क्यों होगा प्रभो? पृथुने हाथ जोड़कर बहुत नम्रतापूर्वक कहा—'इसे उर्वरा बनानेके प्रयत्नमें हूँ। ऐसा करके इसे श्रीहरिको समर्पित कर दूँगा। वे जनार्दन ही तो विश्वरूप हैं। इन असंख्य जनोंके रूपोंमें वे ही इसके सच्चे स्वामी हैं।'

जनता जनार्दन है और वही सचमुच भूपति है। आदिराज पृथुकी ही बात ठीक है कि राजा तो भूमिपाल है—पृथ्वीका पिता। उसे अपनी यह उर्वी उर्वरा बनाकर जनता-जनार्दनको अर्पित कर देना है। इस तथ्यको काश विस्मृत न किया गया होता!

'आपने सबके लिए आवासकी व्यवस्था की, आजीविका निश्चित की।' सुभद्र बहुत प्रभावित हुआ था पृथुसे—'हम जैसोंके लिए भी आपने कोई मर्यादा निश्चित की हो तो मैं उससे अनभिज्ञ हूँ।'

'मैं ब्राह्मणोंका दास हूँ।' पृथुने चरण पकड़ लिये—'मर्यादा निश्चित करना महर्षियोंका दायित्व है। क्षत्रिय तो उस मर्यादाका पालन करता है और अपनोंसे तथा वैश्य, शूद्र-वर्गसे उसका पालन करानेमें सहायक बनता है। संकटमें प्रजाकी सहायता करना, प्राण देकर भी प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियका दायित्व है। आप आशीर्वाद दें कि मुझसे अपने इस कर्तव्यमें प्रमाद न हो।'

'मैंने सुन लिया है कि आपको स्वयं श्रीहरिने आशीर्वाद दिया है।' सुभद्रने पृथुको बलपूर्वक अपने पदोंसे उठाया—'प्रमाद आपके अन्तःकरणका स्पर्श करनेमें असमर्थ है।'

'मैं आपके आशीर्वादसे अनुगृहीत हुआ।' पृथुने प्रार्थना की—'यदि आप कहीं आश्रम स्वीकार करें....।'

'राजन्! आपपर असंख्य ऋषियोंका अनुग्रह है।'—सुभद्रने शीघ्र पिण्ड छुड़ाना ठीक समझा। उसे लगा कि यदि प्रथुने बहुत आग्रह किया तो

इनकी अवज्ञा कठिन होगी। 'मुझ-जैसे' कुछ पर्यटक बने रहें तो आपके राज्यकी कोई व्यवस्था बिगड़ेगी नहीं।'

'इससे तो व्यवस्था अधिक सुदृढ़ बनी रहेगी।' पृथुने सत्यको स्वीकार किया—'स्वार्थहीन श्रीहरिके जन अपने पर्यटनसे पृथ्वीको पुनीत करते रहेंगे तो प्रजामें शील, संयमका संचार होता रहेगा। विकृतियाँ और वहिर्मुखता स्वत: विनष्ट होती रहेगी। हरिभक्ति बढ़ेगी।'

पृथुका बहुत आग्रह था कि सुभद्र उनके समीप ही न भी रहे तो भी अधिक दिनोंतक आतिथ्यका अवसर दे और बार-बार यह अवसर आवे।

सुभद्र इनमें-से कोई प्रार्थना स्वीकार करना नहीं चाहता था। उसने पृथुका आतिथ्य अल्प दिनोंमें ही त्याग दिया। पृथु भगवद्भक्त थे, संयमी थे, शीलवान् थे और सेवा-तत्पर थे; किन्तु बहुत व्यस्त रहनेवाले व्यक्ति थे। उन आदिराजने अपना जीवन ही प्रजाके लिए समर्पित कर रखा था। उनकी स्थिति बहुत बड़े परिवारके प्रमुखसे भी अधिक व्यस्त थी। प्रजाके सब लोग उन्हें अपना पिता मानते थे और पृथुको सबका सत्कार करना था। सबकी समस्याएँ सुलझानी थी। सबकी छोटी-बड़ी सब समस्याएँ उनके सम्मुख आती थीं। वे इतने स्नेहमय कि किसीकी सामान्य समस्याको भी उपेक्षणीय मानते ही नहीं थे।

आपने बालकोंकी समस्याओंपर ध्यान दिया है? उनके घरौंदों और खिलौनोंको लेकर उनकी समस्याएँ थोड़ी होती हैं? यह ठीक है कि सतयुग-का लगभग संधिकाल ही था। मनुष्य संतुष्ट रहनेवाला, विकारहीन, अपरिग्रही-प्राय था; किन्तु कृषिका अभी-अभी प्रारम्भ हुआ था। नगर-ग्राम बस ही रहे थे। अतः प्रजाकी समस्याएँ बहुत थीं। सबको पृथुको ही अपनी बात कहनी थी और पृथुको उन्हें सुलझाते रहना था।

पथको लेकर, पानीके प्रवाहको लेकर, पड़ोसियोंके प्रतिकूलाचरणको लेकर, पशुओंके संचरणकी सुविधाको लेकर, वन-पशुओंके व्यवहारको लेकर क्या आज भी समस्याएँ नहीं उठतीं?

उस समय लोग अधिक सहिष्णु थे, यह सच है; किन्तु मनुष्यकी सहिष्णुता भी सीमित है। दूसरी बात यह कि स्वार्थ ही विवाद नहीं उत्पन्न करता, धर्म और त्याग भी विवाद उत्पन्न कर देता है। भारत वह धन्य देश है, जिसमें त्याग और धर्म अभी कुछ शती पूर्वतक विवाद उठाया-करते थे।

किसीकी गायने दूसरेका खेत चर लिया। आजके विवादका रूप आप जानते हैं। उस समयका विवाद भिन्न था जिसका खेत गायने चरा, वह गायके स्वामीके समीप कुछ अन्य अन्न या तृण लेकर आया है। वह कहता है—'गोमाताने अनुग्रह करके मेंरे क्षेत्रमें आहार-ग्रहण किया। उनको दक्षिणा मैं उस समय नहीं दे सका। आप इसे स्वीकार करें, यह धर्मका आदेश है।'

गो-स्वामी कहते हैं—'मेरे प्रमादसे मेरा पालित पशु आपके क्षेत्रतक पहुँचा। आपको जो हानि हुई, उसे स्वीकार करना पड़ेगा।'

विवाद तो ऐसे उठ खड़े होते थे कि एक गौने किसी अन्यके उद्यानमें बछड़ा दे दिया तो बछड़ा उद्यानके स्वामीका—यह गो-स्वामी तर्क देने लगता था और हठ करता था।

वर्षाका जल किसीकी मेड़ तोड़कर दूसरेके खेतमें भर गया। इससे दूसरेके खेतका धान सूखनेसे बच गया। सामान्य रूपसे मेड़ न टूटे तो कदाचित् धान कम होता। आप क्या निर्णय देंगे यदि उस धानका स्वामी विवाद उठावे—'इसमें पूरा या आधा स्वत्व उसका, जिसकी मेड़ तोड़कर जल वह आया था ?'

ऐसे असंख्य विवाद उठते ही रहते थे। पृथुको इन्हें स्नेहपूर्वक सुलझाना था। समस्याओंको दूर करना था। बहुत अधिक भूमि समतल की जा रही थी। कार्य-व्यस्तता; किन्तु सब श्रीहरिकी आराधना। किसीमें साहस है, जो कह देगा कि पृथुका सम्पूर्ण जीवन, प्रत्येक श्वास आराधनामय नहीं था ?

लेकिन सुभद्रको यह सत्त्वात्मिका क्रियाशीलता भी अपने अनुकूल नहीं पड़ती थी। क्रियाशीलता रजोगुण है। वह सत्त्वोन्मुख हुई तो पतन प्रदान करेगी; किन्तु प्रत्येक स्थितिमें उसकी परिणति श्रान्तिमें है। सुभद्रको क्रियाशीलतामें ही रुचि नहीं। वह चाहे पड़ा रहनेवाला या केवल पर्यटन करते रहनेवाला है। अतः पृथुका सामीप्य उसे अनुकूल नहीं पड़ा। वह वहाँसे शीघ्र चला गया।



पुरूरवाका प्रश्रय–

अमृतपुत्र सुभद्र—मरण उसका स्पर्श नहीं करता; किन्तु केवल मृत्यु ही तो कष्टकर नहीं है। इसमें तो विवाद है कि मरणमें कष्ट है भी या नहीं; लेकिन उससे कई-गुनी कष्टकर परिस्थिति बना करती हैं। यह तो आनन्द-कन्द कन्हाई है कि अपनोंके लिए सदा छाया बना रहता है। स्वजनोंको दुःखोंसे बचाये रहनेको सचिन्त रहता है। संयोग उसके संकेतकी प्रतीक्षा करते रहते हैं।

नैमित्तिक प्रलय तो निमित्त उपस्थित होनेपर होगी ही। सुभद्र उन्हें रोक सकता था ? किसी प्रलयमें पड़ जाता—उसका अमरत्व कितना कष्टकर बनता उसके लिए; किन्तु प्रलय तो दूर, उसने प्रथम कल्पका द्वापर भी नहीं देखा। सहसा देवर्षि मिल गये उसे।

'आप कहाँ जायँगे ?' सुभद्रने प्रणाम करके पूछ लिया। प्रयोजन कोई नहीं था; किन्तु युवा होनेपर भी सुभद्रके स्वभावमें जो बचपन बस गया है, वह जाता तो है नहीं।

'क्षीराब्धिशायीके समीप।' देवर्षिने सहज कहा 'तुम चलोगे ?'

'हाँ, अम्बा सिंधु-सुताको प्रणाम करूँगा।' सुभद्रको कुछ सोचना नहीं था। पृथ्वीपर ऐसा कहीं कुछ नहीं था, जिसके सम्बन्धमें सुभद्रको सोचना पड़ता।

देवर्षि कभी साथ लेते भी हैं तो गन्धर्वराज तुम्बुरुको अथवा किसी महर्षिको; किन्तु सुभद्रको उस दिन उन्होंने साथ ले लिया। अब भले सुभद्रका शरीर पार्थिव हो, देवर्षिका देह तो दिव्य है। वैसे सतयुगमें मानव भी समर्थ था सूक्ष्मलोकोंमें पहुँच जानेमें।

क्षीरोदधि, भगवान् शेषशायी और भगवती श्री सुभद्रके लिए अपरिचित नहीं थीं; किन्तु देवर्षि वहाँ केवल स्तुति करने मात्रके लिए रुके। चलते समय उन्होंने सुभद्रको भी साथ चलनेका संकेत कर दिया।

'मैं तुम्हें पृथ्वीपर कहाँ छोड़ दूँ ?' देवर्षिने मार्गमें ही पूछा।

'पृथुके समीप तो मैं जाना नहीं चाहता।' सुभद्र सोचने लगा।

'पहुँच भी नहीं सकते।' अब देवर्षिने उसे बतलाया—।'पहले तो तुम्हारे सखाने तुम्हारे साथ एक अद्भुत काल कर दिया था। वह अन्य लोकोंके कालसे असंतुष्ट था। दूसरे काल ही उससे पिछड़ते गये; किन्तु अब तो ऐसी सुविधा तुम्हें प्राप्त नहीं है।'

'इससे अन्तर क्या पड़ा ?' सुभद्र चौंक गया था।

'भगवान् विष्णुके एक दिनमें सृष्टिकर्ताकी समस्त आयु समाप्त हो जाती है।'* देवर्षिने कहा—'उन उदधिशायीकी स्तुति करनेमें मैं भूल ही गया था कि समय कितना बीत गया। विलम्ब हुआ मुझे।'

सुभद्र अब भी कुछ समझ नहीं सका। वह देवर्षिकी ओर देखता रह गया।

'सृष्टिकर्ताका प्रथम दिन था, जब तुम पृथ्वीपर थे। उस प्रथम दिन-का भी प्रथम मन्वन्तर और उसका भी प्रथम सतयुग ही समाप्त हुआ था। तुम्हें स्मरण होगा कि वह स्वायम्भुव मन्वन्तर था।' देवर्षिने कहा—'अब तो पूर्व परार्ध भी व्यतीत हो चुका। अर्थात् सृष्टिकर्ताकी आयुके पचास वर्ष बीत गये। द्वितीय परार्धके प्रथम वर्षका है तो यह प्रथम कल्प; किन्तु इस कल्पके भी ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं। पृथ्वीपर तो इससे पूर्वके चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें प्रलय भी हो चुकी।'

'मुझे तो धरापर चतुर्युगी व्यतीत करनेका शाप मिला है।' सुभद्र सचिन्त हुआ।

'क्या अन्तर पड़ता है' देवर्षि खुलकर हँस पड़े—'आवश्यक तो नहीं है कि एक मन्वन्तरकी ही चतुर्युगी तुम धरापर देखो। स्वायम्भुव मन्वन्तर-का सतयुग तुम धरापर व्यतीत ही कर चुके, अब वैवस्वत मन्वन्तरके त्रेता-का प्रारम्भ हो रहा है पृथ्वीपर। मैं तुम्हें उसके प्रवर्तक पुरूरवाके पास पहुँचा देता हूँ।'

'पुरूरवा ?' सुभद्रको मिलनेसे पहले कुछ परिचय पा लेनेकी इच्छा हुई।

'वैवस्वत मनुके एक कन्या हुई--इला। वह भी यज्ञ करनेपर; किन्तु वसिष्ठने उसे अपने तपोबलसे पुरुष बना दिया। वह सुद्युम्न बना तो सही; किन्तु उसका पुरुषत्व टिका नहीं।' देवर्षिने संक्षिप्त परिचय दिया—'भगवान्

---

* विभिन्न लोकोंके कालका वैविध्य—कहाँका दिन कितना बड़ा, इसका वर्णन 'पलक-झपकते' में किया गया है।

शिवके द्वारा प्रशप्त पुरुष-प्रवेश-वर्जित इलावर्तमें प्रमाद-वश प्रवेश करके सुद्युम्न फिर इला हो गया। इलासे चन्द्रपुत्र बुधने विवाह कर लिया। उन्हींका पुत्र है—पुरूरवा।'

'सृष्टिकर्ताके मानस-पुत्र महर्षि अत्रिके ये महोदय प्रपौत्र हैं।' सुभद्र-का स्वभाव सम्बन्धोंपर अधिक ध्यान देना है।

'वैसे तो सृष्टिकर्ता स्वयं भी श्रीहरिके नाभिपद्म-समुद्भव हैं।' देवर्षिने दूसरा सम्बन्ध सुझाया—'तुम्हें स्मरण होगा कि शशि भी सिंधु-समुद्भव है। वह अत्रि-पुत्र तो इस कल्पमें बना।'

हम आप 'चन्दा-मामा' इसीलिये कहते हैं, क्योंकि चन्द्रमा माता लक्ष्मीका भाई है। लेकिन चन्द्रमाके पौत्र पुरूरवातक सम्बन्ध खींचनेमें सुभद्रको कोई विशेषता नहीं लगी।

देवर्षिने सुभद्रको पृथ्वीपर भारतवर्षमें (तबका नाम अजनाभवर्ष) में प्रयागके पास छोड़नेसे पूर्व पुरुरवाका प्रायः पूरा परिचय दे दिया था। यहाँ उसका संक्षिप्त देना ठीक होगा।

सुरसरिके तटपर प्रयागके समीप पुरूरवाने अपनी राजधानी स्थापित की थी। प्रारम्भमें ही पत्नीके रूपमें उसे अप्सरा-श्रेष्ठ उर्वशी मिल गयी थी; किन्तु उर्वशी तो स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। शापके कारण भले धरापर आयी, उसे इन्द्र यहाँ तो नहीं छोड़ सकते थे। पुरूरवाको कई पुत्र प्रदान करके वह पुनः स्वर्ग चली गयी तो उसके वियोगमें पुरूरवा पागल हो गया।

उर्वशीको अपने इस मानव-पतिपर दया आ गयी। उसने युक्ति बतलायी। एक अग्निपात्र भी दिया; किन्तु पुरूरबा उस पात्रको प्रमादवश वनमें छोड़ आया। सावधान होनेपर ढूँढ़ने गया तो वह पात्र मिला नहीं। वहाँ शमी वृक्षमें उगा पीपल मिला। पुरूरवाने उस शमी और पीपलकी अरणि बनाकर मन्थन करके अग्नि उत्पन्न किया। उस अग्निमें सविधि हवन करके वह उर्वशीलोक—स्वर्गका अधिकारी बना।

सुभद्र जानता था कि वेद नित्य हैं। यज्ञ नित्य हैं। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें वेनने 'न यष्टव्यं न दातव्यम्' के द्वारा यज्ञ तथा दानका निषेध किया और ऋषियोंके क्रोधकी आहुति बना। आदिराज पृथुने यज्ञका प्रचार किया। स्वयं सौ अश्वमेघ यज्ञ किये।

वैवस्वत मन्वन्तरके सतयुगमें भी सम्पूर्ण वेद था। यज्ञ होते थे;

किन्तु यज्ञ निष्काम होते थे। सम्पूर्ण वेद ही श्रीहरिकी आराधना—संतुष्टि-का साधन माना जाता था।

पुरूरवा प्रथम व्यक्ति था, जिसने अरणिमें अपनी और उर्वशीकी भावना की। अरणि-मन्थनसे उत्पन्न अग्निको अपना पुत्र मानकर उसे 'पुरुरवस्' संज्ञा दी। इस प्रकार अग्नि भी बैयक्तिक बन सकता है, इस विश्वासका प्रचलन किया।

पुरूरवा प्रथम व्यक्ति था, जिसने सकाम यज्ञ किया। वैदिक यज्ञसे लौकिक कामनाएँ भी पूरी की जा सकती हैं, इस बातका आदर्श उपस्थित किया। भले इसका फल हुआ कि मनुष्य वहिर्मुख बना। वेदोंका प्रयोग कामना-पूर्तिके अनुष्ठानोंमें होने लगा।

पुरूरवा प्रथम व्यक्ति था, जिसके कारण 'वेदत्रयी' नाम पड़ा। उससे पूर्व तो सम्पूर्ण वेद एक था। उसका एक ही प्रयोजन था—परमकल्याण, अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति; किन्तु जब वेदोंका उपयोग सकाम यज्ञमें हुआ तो उनके मन्त्रोंका विभाजन हुआ। उनमें-से कर्मपरक, ज्ञानपरक मन्त्रोंपर पृथक्-पृथक् ध्यान देना पड़ा। इन तीनों प्रयोजनोंका पूरक होनेसे वेदको 'त्रयी' कहा गया।*

सुभद्रके स्वभावमें ही बालकपना था, यह पहले कह चुके हैं। वह कुतूहली था। उसे अद्भुत लगा कि वैदिक-विद्या लौकिक प्रयोजनकी पूर्ति करती है। लेकिन लौकिक प्रयोजनकी भी पूर्तिके लिए तो विधिका निर्वाह ठीक-ठीक आवश्यक है। सुभद्रने सोच लिया कि वह विधिका ज्ञान प्राप्त करेगा।

सुभद्रका लौकिक प्रयोजन कोई नहीं। कहीं कुछ पानेकी उसकी कामना नहीं; किन्तु कुतूहलका कम महत्व तो नहीं है। उसने तो सोचा ही नहीं था कि सर्वेश्वरका नित्य-ज्ञान, जो 'वेद' कहा जाता है, क्षुद्र संकल्पोंकी पूर्तिका माध्यम भी बनता है। कैसे बनता है, यह वह स्वयं सीखकर देखेगा।

'इन्द्रकी एक छुई-मुई अप्सराके पीछे जो पागल हो गया, वह कोई उत्तम विवेकवान् तो नहीं जान पड़ता।' सुभद्र सोचने लगा प्रतिष्ठानपुरके समीप पहुँचकर। देवर्षिके चले जानेपर उसने सुरसरिमें स्नान कर लिया था।' लेकिन कोई विधि उसके ज्ञातासे ही सीखनी पड़ती है। पुरूरवा प्रश्रय देगा मुझे? उस स्वर्ग-कामका आश्रयण अनुचित नहीं होगा?'

* वेदोंके ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार नाम, चार विभाग तो भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीने द्वापरमें किये।

पहली बार सुभद्र कहीं जानेमें संकुचित हुआ। पहली ही बार वह प्रयोजन लेकर किसीसे मिलनेको उद्यत हुआ था। उसके सहज स्वभावने कहा—'यह काम कन्हाई क्यों नहीं कर सकता ?'

'यह तो पढ़नेकी बात है।' सुभद्र खुलकर हँसा—'कन्हाईको तो बाबाने पढ़ाया ही नहीं। वह कहाँ मुझसे अधिक कुछ जानता है।'

'पुरूरवा प्रश्रय न भी देगा तो क्या बिगाड़ लेगा अपना ?' सुभद्र एक निश्चयपर आ गया—'उसने अँगूठा दिखाया तो यह काम अपनेको भी आता है। अन्य भी तो ऋषि-मुनि होंगे यहाँ समीप।'

पुरूरवामें विनम्रताका अभाव नहीं है, यह सुभद्रको शीघ्र पता लग गया। भले वह अप्सरामें आसक्त हो, एकनिष्ठ था और शीलवान् था। सुभद्रको 'सावधान' भी नहीं कहना पड़ा। वह देखते ही उठा था सिंहासनसे और प्रणिपात करते पूरा परिचय दिया था उसने—'यह आत्रेय पुरूरवा प्रणाम करता है।'

'राजन् ! मैं प्रणम्य एवं पूजनीय नहीं हूँ।' सुभद्रने भी सहज स्वरमें कहा—'त्रयी-विद्याकाम आपका प्रश्रय लेने आया हूँ।'

'आप अर्हण स्वीकार करें। पुरूरवाने निवेदन किया—'आपका सत्कार करके मैं पुण्य प्राप्त करूँगा। ब्राह्मण-कुमारको श्रुतिका अध्ययन तभी क्षत्रिय करा सकता है, जब उचित विप्र-अध्यापक अनुपलब्ध हों—भगवान् अत्रिका आश्रम अधिक दूर नहीं है। आप-जैसे अन्तेवासीको वे अस्वीकार नहीं करेंगे।'

सुभद्र सुन चुका था देवर्षिसे कि अत्रि इस वैवस्वत मन्वन्तरमें सप्तर्षियोंमें स्थान पा चुके हैं। वे तपोधन इस समय पृथ्वीपर हैं तो दूर भी होते तो भी सुभद्र उनका अन्तेवासी बनता। वे कहीं समीप वनमें चित्रकूटगिरिके पद-प्रान्तमें निवास करते हैं, यह तो बहुत दूरकी यात्राकी बात नहीं है।

यह ठीक है कि पुरूरवा अत्रिके प्रपौत्र थे; किंतु महर्षिने उनका पौरोहित्य स्वीकार नहीं किया था। सुभद्रको यह आवश्यक नहीं लगा कि पुरूरवा उसके लिए प्रार्थना करने साथ चलें। पुरूरवाने शील-सौजन्यवश कहा था—'आपके साथ मैं भी महर्षिके चरणोंमें प्रणाम कर लूँ, यह अनुमति दें आप मुझे।'

'नहीं राजन् ! अन्तेवासीको आचार्यके चरणोंमें एकाकी समित्पाणि उपस्थित होना चाहिये।' सुभद्रने पुरूरवाकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। प्रतिष्ठानपुरमें प्रश्रय लेनेकी बात तो दूर, केवल एक रात्रि ही निवास किया उसने।



वैतानिक विद्या—

अनेक आधुनिक वेदोंके आलोचक तो यह भी नहीं जानते कि वेद और यज्ञका कैसा नित्य-सम्बन्ध है। यज्ञ कितनी विद्याओंके बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकता।

यज्ञके लिए वितान चाहिये। विना मण्डपके यज्ञ हुआ नहीं करता। अतः यज्ञका कर्मकाण्ड 'वैतानिकी विद्या' है। यज्ञ करना है तो पहले मुहूर्त-शोधन कीजिये, अर्थात् ज्योतिष जानिये। अब भले भूमि-शोधन पूरा न होता हो; किन्तु विधि है कि विना खोदे पता लगाइये—भूमिमें नीचे हड्डी, बाल, भस्म, जल, धातु न हो, तब वह स्थल यज्ञके योग्य है। आजका विज्ञान भी इतना उन्नत नहीं कि उसके यन्त्र यह सब पता दे सकें।

अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणितके विना क्या वेदी, कुण्ड, कुण्ड-मेखलादिका शुद्ध निर्माण सम्भव है? ग्रहादि मण्डल बनानेके योग्य रेखा-चित्राङ्कणका भी अभ्यास चाहिये। वेदियोंपर विभिन्न यन्त्र बनेंगे ओर वे रेखागणितकी जटिल आकृतियाँ हैं।

अब तो अश्वमेधके अधिकारी ही नहीं रहे; किन्तु कभी ये होते थे या नहीं? विना अश्व-परीक्षणके अश्वमेध होता होगा? यज्ञ तो गो-परीक्षण, गज-परीक्षण ही नहीं, पुरुष-परीक्षणकी योग्यता भी माँगता है। उचित लक्षणवाली गाय या गजका पूजन-दान होगा। सामुद्रिक ज्ञानके विना सदसस्पतिका निर्णय हो सकेगा?

वेद-शब्दका अर्थ ही है—ज्ञान। सम्पूर्ण ज्ञानकी शब्दराशि-वेद है। वेदका प्रमुख प्रयोजन यज्ञ है। अतः यज्ञमें उस सब ज्ञानका उपयोग है।

उस युगमें ब्राह्मण-कुमारमात्र श्रुतधर थे। सुना एक बार और स्मरण हो गया। सुभद्र तो उनमें भी बिशिष्ट था। अतः संहिताके मन्त्रोंको एक बार सुनना उसके लिए पर्याप्त था। मन्त्रके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगका श्रवण किया उसने। अवश्य ही विनियोगकी विशिष्ट पद्धतियाँ बतलानी पड़ीं।

क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ, रेखापाठ, मालापाठ, ध्वजपाठ, दण्डपाठ और रथपाठमें भी उसे श्रम नहीं करना पड़ा। महर्षि अत्रि आरम्भमें ही उससे संतुष्ट हो गये—'आयुष्मन्! तुम तो मुझे श्रेय देने मेरे अन्तेवासी बने हो। श्रुतियोंके स्वर तुम्हारे कण्ठमें ही निवास करते हैं।'

महर्षिने उसे वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और पराका भेद भी समझा दिया। आज शाप-वरदान इसलिये तो सार्थक नहीं होते; क्योंकि मनुष्यकी वाणी वैखरीसे आगे भी बढ़ी तो मध्यमापर अवरुद्ध हो जाती है। परा तो मुनियोंकी भी स्पृहणीया रही सदा; वह साध्या है; किन्तु पश्यन्ती भी स्वरमें न उतरे तो शाप-वरदानका अर्थ ?

वेदका मुख्य प्रयोजन यज्ञ। ब्राह्मण-ग्रन्थोंका अध्ययन किये विना यज्ञमें वेदका उपयोग कैसे ज्ञात होगा ? जीवनकी परम सार्थकता निःश्रेयस-की प्राप्ति। उसके प्रतिपादक आरण्यक और उपनिषदोंका अध्ययन किये विना विद्या अधूरी।

अवश्य ही सुभद्रकी सहज अरुचि थी व्याकरण और व्यायाममें। फलतः महर्षिने उसे श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, शुल्वसूत्र सिखलाकर ही संतोष कर लिया। मन्त्र-संहिताका कर्मकाण्ड (श्रौतसूत्र) मन लगाकर सुभद्रने सीखा; किन्तु गृह्यसूत्रोंपर उसने कम ही ध्यान दिया। उसने कह दिया—'मुझे किसीका पौरोहित्य नहीं करना।'

जो पौरोहित्य करेगा ही नहीं, वह क्यों विभिन्न कुलाचारोंका प्रशिक्षण प्राप्त करे। धर्मसूत्र तो धर्मशास्त्र हैं—उन्हें अवश्य जानना था और शुल्व-सूत्रमें सुभद्रकी स्वयं रुचि थी। विभिन्न भौतिक विज्ञानोंके विषयमें वह कुतूहली था।

आरम्भसे ही सुभद्रने साम-गानमें रुचि नहीं ली। संगीत उसके वशकी बात नहीं थी। वेदार्थ-विवेचनके लिए अनुक्रमणीका उसने अवश्य अध्ययन किया।

अङ्गहीन वेदाध्ययन तो व्यर्थप्राय है। वेदको 'षडङ्ग' कहते हैं। १. वेदकी नासिका शिक्षा, २. मुख व्याकरण, ३. कर्ण निरुक्त, ४. चरण छन्द, ५. हाथ कल्प और ६. नेत्र ज्योतिष माना गया है।

सुभद्र कहता था—'वेदको बकवादी नहीं होना चाहिये। वह मौनी रहे, मुख बंद रखे तो उत्तम।'

आप समझ गये होंगे कि उसने व्याकरण छोड़ दिया। मन्त्रोंके स्वर, अक्षर, मात्रा, उच्चारण, अर्थात् शिक्षामें वह प्रगल्भ बना।

वैदिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति वह इतनी विभिन्न और विचित्र करता था कि निरुक्तकार यास्क हाथ जोड़ लेते उसे। अच्छा हुआ कि वे उस समयतक उत्पन्न नहीं हुए थे।

यज्ञ-विधि और संस्कार-विधि, अर्थात् कल्प सीखने ही तो सुभद्र आया था। करहीन वेद प्राप्त करके वह क्या करता? और पंगु वेद भी उसे प्रिय नहीं था। अतः छन्दःशास्त्र भी उसने भली प्रकार सीखा।

'वत्स! मैं ज्योतिर्विद नहीं हूँ।' महर्षि अत्रिने वैदिक यज्ञोंके मुहूर्त-शोधनमात्रका शोधन पढ़ाकर कह दिया—'इसके उत्तम आचार्य देवर्षि नारद हैं।'

महर्षिकी अभिरुचि संसार एवं प्राणियोंके भविष्य-ज्ञानकी ओर नहीं थी। वे कहते थे—'सर्वेश्वरने जो सुनिश्चित कर रखा है, उसका अग्रिम ज्ञान केवल चिन्ता देता है। अनुष्ठानादिसे उसमें परिवर्तन सम्भव तो होता है; किन्तु वह भी कामनाको ही तो बद्धमूल करता है। इससे निःश्रेयसमें बाधा पड़ती है।'

सुभद्रका दृष्टिकोण भिन्न था। वह कुतुहली—अतः कहता था—'कन्हाई क्या खटपट करेगा, पहलेसे जान लेनेमें निश्चिन्तता बनी रहती है। श्याम अमङ्गल तो कर नहीं सकता; किन्तु उपद्रवी तो है ही।'

ज्योतिषके गणितसे ही सुभद्रको संतोष नहीं था। वह फलितका भी अध्ययन करना चाहता था; किन्तु कभी उसने दुराग्रह नहीं किया। महर्षिकी अवमानना तो वह कर ही नहीं सकता था।

उपवेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें महर्षि अत्रिकी अत्यन्त कम रुचि थी। उन्होंने बहुत शीघ्र अध्यापनका कार्य ही छोड़ दिया। कभी कोई विद्याकाम आया भी तो उसे महर्षि वसिष्ठके समीप अयोध्या भेज देते थे। अन्ततः वसिष्ठजी भी तो सप्तर्षि-मण्डलमें उनके सहयोगी ही थे।

सुभद्रने साम-गानमें ही रुचि नहीं ली तो सामवेदके उपवेद गान्धर्व-वेदके अध्ययनका प्रश्न कहाँ उठता था। ऋग्वेदके उपवेदको वह वैश्योंके उपयोगका बतलाता था। केवल अध्यापनके लिए अध्ययन उसे व्यर्थ लगता था। यजुर्वेदके उपवेद धनुर्वेदको भी क्षत्रियोंका कहकर छोड़ दे सकता था; परन्तु थोड़ी रुचि होनेपर भी उसे वह प्राप्त नहीं हुआ। महर्षि अत्रि उसका अध्यापन ही नहीं करते थे। अवश्य अथर्ववेदके उपवेद आयुर्वेदमें उसने अच्छी रुचि ली।

'आर्त प्राणीको आयुर्वेद आश्वासन देता है।' महर्षि अत्रिकी आदरबुद्धि थी आयुर्वेदके प्रति—'अभी सब स्वस्थ हैं; किन्तु कभी भी पीड़ित हो सकते हैं। अतः पीड़ा-निवारण प्रत्येकको आना चाहिये।'

आन्तरिक, अर्थात् असंयमजन्य रोग उस समय भले न होते हों, आगन्तुक और आघातज तो हो ही सकते थे। आज तो आगन्तुक रोग ही बढ़ गये हैं; क्योंकि जीवाणुओं (बैक्टीरिया) और विषाणुओं (वाइरस)की बहुलता हो गयी है।

सुभद्रने भी आयुर्वेदके अध्ययनमें पूरी रुचि ली। निदान, चिकित्सा, निघण्टु—तीनों अङ्ग उसने पढ़े। वानस्पतिक, धातुज, जैवज, विष और रस औषधियोंके पाँचों अङ्ग उसे प्राप्त हुए। शोधन, पाचन, कल्पकी तीनों पद्धतियोंको पूर्णतः सीखा उसने।

ज्योतिषके अपने अपूर्ण अध्ययनको पूर्ण कर लेनेका निश्चय तो उसने कर लिया था; किन्तु देवर्षि नारद नित्य पर्यटनशील ठहरे। उनका कोई आश्रम तो था ही नहीं कि वहाँ पहुँचा जा सके। अतः देवर्षि जब कभी मिलें, तबपर इस विद्याको छोड़ना पड़ा। यह भी अनिश्चित रह गया कि देवर्षि अपनी यात्रामें साथ ले लेंगे। आगे भी देवर्षिने यह अवसर नहीं दिया। उनको पढ़ाना प्रिय नहीं है। वे तो हरिचर्चाके व्यसनी हैं। अतः सुभद्रको जब आगे मिले भी, बहुत थोड़े सूत्र सुनाकर उन्होंने प्रत्येक बार पिण्ड ही छुड़ाया। यह दूसरी बात है कि देवर्षिसे सुने उन थोड़े सूत्रोंके आधारपर सुभद्रकी प्रतिभा बहुत-कुछ निकाल लेती थी।

महर्षि अत्रि कोई ऋषिकुल नहीं चलाते थे। उनका आश्रम घोर अरण्यमें था। कभी कोई ब्रह्मचारी विद्याकाम आ ही पहुँचे तो उसे निराश भी नहीं करते थे। पीछे तो यह भी नहीं चला; क्योंकि वे प्रायः समाधिमें स्थित रहने लगे। सुभद्र जब पहुँचा था, उस समय महर्षिके समीप दूसरा अन्तेवासी नहीं था। अतः सुभद्रको महर्षिका नित्यकर्म-ध्यानादिसे अवशिष्ट पूरा समय प्राप्त हुआ। सुभद्रकी शिक्षा शीघ्र समाप्त हो गयी।

सुभद्रके प्रत्यावर्तन-संस्कारका कोई अर्थ नहीं था। वह ऐसा गृहस्थ-बालक नहीं था, जो उपनयनके पश्चात् गुरु-गृह आया हो। उसे लौटकर विवाह भी नहीं करना था; किन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके नियमोंको स्वीकार करके गुरुसेवामें ही रह जानेका व्रत भी उसे लेना नहीं था। सुभद्र उस समय प्रचलित प्रथाओंका अपवाद था। उसे कोई नियम-बन्धन स्वीकार नहीं था; किन्तु उसे कोई भी उच्छृङ्खल भी कह नहीं सकता था।

'भगवन्! आपके अपार वात्सल्य-ऋणसे कभी मुक्त नहीं हो सकता।' सुभद्रने प्रस्थानसे पूर्व प्रार्थना की महर्षि अत्रिसे—'किन्तु सेवाकी कोई आज्ञा पाकर मैं अपनेको कृतार्थ मानूँगा।'

'वत्स ! मैं तुम्हारी सेवा और शीलसे संतुष्ट हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो !' महर्षिने आशीर्वाद देकर कहा – 'तुम-जैसे सहज वीतराग अपरिग्रहीके लिए गुरु-दक्षिणा अनिवार्य नहीं होती।'

'मुझे कृतार्थ करनेके लिए कृपा करें।' सुभद्रने आग्रह किया—'संकोचका कारण नहीं है प्रभो ! ऐसा कुछ नही है, जो कन्हाईके लिए अदेय हो और मुझ कंगालका वही कोष है।'

'मैं भूल रहा था।' महर्षिने दो क्षण नेत्र बंद रखे। ध्यानसे उत्थित होकर उल्लासपूर्ण स्वरमें बोले—'गुरुदक्षिणा देनेका तुमसे अधिक उपयुक्त पात्र मुझे पुनः सुलभ नहीं होगा। तुम्हीं हो कि अकिंचन होते भी कुबेरको कङ्गाल कह सको।'

'आज्ञा !' सुभद्र समझ गया कि महर्षि कुछ असाधारण माँगनेवाले हैं, किन्तु जब देनेका दायित्व कन्हाईपर है तो वह संकोच क्यों करे ?

'तुम्हारे सखाको मर्यादापुरुषोत्तम बनकर धरापर आना है। मैं खिन्न था कि वसिष्ठको उनका पौरोहित्य प्राप्त होगा।' महर्षि अत्रि भाव-विभोर कह रहे थे—'वे अपने सखाका वचन मर्यादापुरुषोत्तम बनकर अपना न मान लें, यह सम्भव नहीं है। अतः मैं तुमसे केवल एक वचन चाहता हूँ।'

महर्षि कुछ क्षण रुके। सुभद्र हाथ जोड़े, सिर झुकाये सुननेको उन्मुख खड़ा था। महर्षिने कहा—'वे जब वनमें आवें—आवेंगे ही, तब कुछ काल इस जनको सांनिध्य देनेकी अवश्य कृपा करें।'

'यह कृपा वे करेंगे !' सुभद्रने स्वस्थ, परावाणीको प्रयत्नपूर्वक जाग्रत् करके कहा और परावाणी तो अमोध वाणी है। पुरुषसे प्रतिष्ठित अधोक्षज-की वाणी है वह।

'मैं परितुष्ट हुआ।' महर्षिने सुभद्रके मस्तकपर हाथ रखा। उसे हृदयसे लगाया। उनके श्रीचरणोंमें मस्तक रखकर सुभद्र उसी दिन उस आश्रमसे विदा हुआ। अब सुभद्र अल्हड़ युवक नहीं, वेद-वेदाङ्ग-पारंगत, प्रकाण्ड विद्वान् सुभद्र उस आश्रमसे विदा हुआ था।

—:○:—

यज्ञशाला—

अन्ततः सुभद्र भी महाराज गाधि (विश्वामित्रके पिता)के यज्ञमें आमन्त्रित हुआ। व्यक्तिकी सांसारिक सफलताके लिए उसका योग्य होना ही आवश्यक नहीं है। योग्यता कम ही हो तो काम चल जाता है, यदि उचित व्यक्तियोंसे उसका परिचय हो। सुभद्र न प्रसिद्ध था, न किसी नरेशका पुरोहित। उसके न आश्रम, न ऋषिकुल। जो एक स्थानपर रहता ही नहीं, उसे कोई कैसे आमन्त्रित करे। यह तो महर्षि अत्रिकी प्रेरणासे वह आहूत हुआ। महर्षिने आमन्त्रण अस्वीकार किया तो अपने प्रिय शिष्यको आमन्त्रित करनेका आदेश दिया।

सुभद्रको यज्ञका सदसस्पति बनकर अनेक अनुभव हुए। वह पहली बार जन-सम्पर्कमें आया था। उसे अबतक ईर्ष्या, स्पर्धा और सहयोगीको अनादरित करनेके कूट प्रयत्नोंका कोई अनुभव नहीं था।

सुभद्रको अद्भुत लगा कि यज्ञकर्म-सम्पादनके निमित्त पधारे कर्म-निष्ठ ब्राह्मण नरेशकी स्तुति करते हैं। श्रुतिके ज्ञानकाण्डको उन्होंने यजमानका स्तवन मान लिया है। इतना ही नहीं, यजमानको संतुष्ट रखनेमें वे परस्पर स्पर्धा करते हैं। यजमानकी उपस्थितिमें उनके मन्त्र-पाठका स्वर अधिक उच्च हो जाता है। अकारण क्रियानैपुण्य एवं व्यवस्तताका प्रदर्शन करते हैं वे।

पुरूरवामें लौकिक कामना आयी थी। श्रुतिका लौकिक प्रयोग प्रारम्भ हुआ था। प्रकृति ह्रासोन्मुखी है। प्रजामें, राजाओंमें भी लौकिक कामना वढ़ती गयी और कब उसने मर्यादाका अतिक्रमण कर लिया, पता ही नहीं लगा। वासना तो पिशाची है। कभी तृप्त होना जानती नहीं। अहंकार बढ़ाती है। नरेश दर्पित हुए तो ब्राह्मण दीन बनता गया। वह आशीर्वाद देनेवाला होकर भी आश्रितके समान व्यवहार करने लगा।

सुभद्र अपरिचित था। अतः अन्य आगतोंका भाव उसके प्रति ऐसा था, जैसे वह अनपेक्षित आया है। उसका विरोध किसीने नहीं किया; क्योंकि वह आमन्त्रित आया था; किन्तु उसे यजमानके सम्मुख अल्प बनानेका अप्रत्यक्ष प्रयत्न करनेमें भी कोई अवसर किसीने नहीं छोड़ा।

सुभद्रकी यह अवगणना एवं विरोध बहुत अल्प समय चला। वह अमिततेजा महर्षि अत्रिका शिष्य था। महाराज गाधि-जैसे प्रबल पराक्रम नरेशकी भी कोई अपेक्षा करता नहीं लगता था। उनका सांकेतिक सम्मान करना तो दूर, उनके किंचित् प्रमादको भी कठोरतासे सूचित करता था। इसका उलटा परिणाम हुआ था कि राजा जो यजमान था, उसके सम्मुख बहुत विनीत हो गया था। उसका अधिक आदर करने लगा था। उसके प्रति सशङ्कित रहता था कि वह रुष्ट न हो जाय।

ब्राह्मणोंकी धारणा भ्रान्त निकली थी कि सुभद्र युवक है, प्रथम महायज्ञमें आया है तो अनभ्यस्त सिद्ध होगा। सुभद्रका श्रौतज्ञान अप्रतिम था और उसके क्रिया-नैपुण्यकी प्रशंसा सबको करनी पड़ती थी। प्रमाद उसे स्पर्श नहीं करता था। जो कार्य करो, पूरा करो और पूरी कुशलतासे करो—यह उसका जन्मजात स्वभाव यहाँ प्रखर हो उठा था।

'राजन्! मैं केवल गुरु-आज्ञा स्वीकार करके आ गया हूँ।' सुभद्रने पहले ही अवसरपर कह दिया—'अपरिग्रहव्रती परिव्राजक हूँ। विधि-सम्पन्नता मात्रके लिए दक्षिणा स्वीकार करूँगा; किन्तु उसको इन विप्रोंमें वितरणका दायित्व आप स्वयं वहन करेंगे।'

ब्राह्मण चकित रह गये। सुभद्र सम्मान्य हो गया उसी क्षण सबका। उसने दक्षिणा स्वयं वितरण करना स्वीकार किया होता तो अनेक उसके अनुगामी बन जाते; किन्तु इससे बचनेमें उसने चतुरता की।

सुभद्रका व्यवहार ब्राह्मणोंके प्रति अतिशय विनम्र था। अब सहयोगी उसकी स्तुति करने लगे थे; किन्तु उसने किसीकी त्रुटि कभी सूचित नहीं की। स्वयं अधिक श्रम और कर्म-दायित्व लेनेमें शिथिल नहीं हुआ।

सुभद्रको श्रौत-हिंसासे भी अरुचि थी। उसने राजाके सदनका सुस्वादु आहार भी स्वीकार नहीं किया। गो-दुग्ध और फल भोजन बने रहे उसके। अजिन (पशु-चर्म) का वह आसनार्थ भी उपयोग नहीं करता था। वह यह जानकर ही आया था कि इस वैष्णव-यागमें पशु-बलि नहीं होनी है।

यजमान अतिशय विनम्र थे सुभद्रके प्रति। सहयोगी सानुकूल ही नहीं हुए—सेवापरायण हो गये थे। यह सब होनेपर भी सुभद्रको यज्ञमें

आकर प्रसन्नता नहीं हुई। वह केवल मन्त्रपाठ एवं आहुतिके समय आनन्दका, सात्त्विक शान्तिका अनुभव करता था। शेष समय उसका चित्त उद्विग्न बना रहता। उसे लगता था कि यज्ञमें सम्मिलित होकर उसने भूल की है।

आहुतिका एकमात्र अधिकारी कन्हाई। वही सर्वदेवरूप। तब इन नाना नामोंसे, नाना रूपोंमें क्यों? सीधे उसीको क्यों सम्बोधित न किया जाय?

सुभद्रका यह अपना आन्तरिक संघर्ष था। बाहर वह देखता था, वेदज्ञ ब्राह्मणोंमें बहुत शिथिल श्रद्धा है। जो है भी, विभिन्न देवताओंके प्रति भी नहीं, केवल क्रियाके प्रति है। कर्म-विस्तार एवं नैपुण्यमें भी यजमानकी संतुष्टि और अपनी सुविधा, प्रतिष्ठा प्रधानता प्राप्त कर चुकी है। यह स्थिति सुभद्रको बहुत व्यथित करती थी; किन्तु जब उसका वरण हो चुका, कर्मान्ततक वह सम्मिलित रहनेको वाध्य था।

सबसे कष्टकर स्थिति थी यज्ञाहुति समाप्त होनेपर यज्ञशालासे बाहर विप्र-समुदायका साथ देना। सुभद्र इससे जहाँतक सम्भव होता, बचता था। लेकिन सब समय तो यह सम्भव नहीं था।

ब्राह्मणोंका परस्पर परिहास अनेक बार अश्राव्य बन जाता था। अनेक बार तो यज्ञीय कर्मके मध्य भी वे संकेतसे या मन्द स्वरमें कुछ ऐसा कहकर हँस लेते थे, जो सुभद्रको शिष्ट नहीं लगता था। वे जो वर्तमान या पिछले यजमानोंकी उदारता अथवा कृपणताकी परस्पर चर्चा करते थे, किसी सामान्य ऋषि अथवा विद्वान्का छिद्रान्वेषण चलता था उनमें—यह परचर्चा भी और इतनी तत्परता, इतनी रुचि लेकर। सुभद्रका जी करता था कि अपना सिर पीट ले।

यहाँ यज्ञशालाके बाहर इतना आहारलोलुप ब्राह्मण! इतना आतुर कि दो क्षणको संतोष नहीं। ब्राह्मण भी व्यसनी! उस समय ताम्बूल-सेवन और पुष्पमाल्य-अङ्गराग-धारण ही व्यसन था; किन्तु ब्राह्मणमें व्यसन क्यों? सुभद्र कैसे समझे कि ब्राह्मण भी अर्थ और काम-पुरुषार्थी होता है। उसे तो ब्राह्मणका धर्म भी लौकिक प्रयोजन-पूर्तिका साधन बने, यह सह्य नहीं था।

सुभद्र तरस गया—कोई तो कन्हाईके सम्बन्धमें कुछ कहे—कुछ सुने या सुनावे। कोई प्रकारान्तरसे ही सही, कृष्णकी चर्चा तो करे!

सुभद्रको बहुत अखरता था, जब 'विष्णवे नमः' या 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' भी केवल कह दिया जाता था। यह भी शब्द और क्रियामात्र ? यहाँ भी हृदयका कोई योग नहीं ?

सुभद्रको कौन कहे कि वैदिक कर्मकाण्डकी सम्पन्नता बिना ईश्वरको माने भी हो जाती है। यज्ञीय धूम्र-धूसर अन्तःकरण कर्मको ही गुरु और ईश्वर मान लेता है। कर्म स्वयं फलदान-समर्थ है और मन्त्रशक्तिसे देवता उत्पन्न होता है फल देनेके लिए—यह विश्वास जहाँ है, वहाँ भक्तिका उदय कैसे सम्भव है ?

धर्मका प्रयोजन स्वर्ग भी हो तो भोग ही प्रयोजन हुआ। इस लोकमें प्रयोजन पूरा होता हो तो स्वर्गकाम उसका त्याग कर पावेगा ? सुभद्रके समान सबने स्वर्ग देखा तो नहीं है और देख भी पाते तो सुभद्रके समान उसकी उपेक्षा कर पाते ?

त्रेतायुगमें वह पतनका काल था। दक्षिण समुद्रमें सुरासुरजयी दशग्रीव और उसके अनुचर अदम्य थे। उनका आतङ्क अमरावतीतकको कम्पित किये था। बहुत थोड़े तेजस्वी ऋषि-मुनि अरण्योंमें रह गये थे। वे अपनी आहुति देनेको उद्यत होकर असुरोंके अवरोधक बने थे।

राक्षसोंकी दुर्नीतिका प्रभाव पृथ्वीपर बढ़ता जा रहा था। प्रसिद्ध ऋषि-मुनियोंमें भी लोभ-कामके प्रबल स्खलन प्राप्त होने लगे थे। ब्राह्मण राज्याश्रयी बन गये थे और जो नहीं बन सके थे, बननेको प्रयत्नशील थे।

दुर्बल, पराजित, पीड़ित केवल दयनीय ही नहीं होते, वे परोत्पीड़क एवं उत्पाती भी हो जाते हैं। कायर अधिक स्वार्थलोलुप बन जाता है। दशग्रीव-दलनकी असमर्थताने राजाओंमें ये सब दुर्गुण उत्पन्न कर दिये थे। वे अब ब्राह्मणोंकी अवगणना और उनका भी स्वत्व-हरण करने लगे थे। इसीलिये भगवान् परशुरामको इक्कीस बार एक ओरसे क्षत्रियोंके संहारका दारुण कर्म करना पड़ा।

सुभद्र तो पृथ्वीपर तब भी था, जब स्वर्गपर हिरण्यकशिपुका अधिकार था। उस प्रथम सतयुगमें सुभद्रको कोई असुविधा नहीं हुई थी। हिरण्यकशिपु केवल सुर-शत्रु था। पृथ्वीके सामान्य मनुष्य उसके लिए नगण्य थे। वह त्रिभुवनजयी, समस्त लोकपालोंका तेज एक साथ धारण करनेवाला—वह कहाँ किसी एकाकी अरण्यवासी मनुष्यको लेकर कुछ सोचने लगा था।

स्वर्गमें ही हिरण्यकशिपुका आतङ्क रहा और वहीं उसे भगवान् नृसिंहने समाप्त कर दिया था। पृथ्वीपर प्रकट हुए भगवान् वामन भी पश्चिम भारतमें नर्मदा-तटपर प्रह्लादके पौत्र बलिके यज्ञमें गये और वहीं बलिको सुतल भेजकर स्वयं उपेन्द्र होकर स्वर्गमें प्रतिष्ठित हुए।

दशग्रीव पृथ्वीपर बस गया था। उसके उपद्रव भारतमें अधिक होते थे। उसका प्रभाव यहाँके समाजपर पड़ रहा है, यह भी सुभद्र समझ न पाता, यदि महाराज गाधिके इस यज्ञमें न आ गया होता। उसे यहाँकी स्थितिने—विशेषत: ब्राह्मणोंके व्यवहारने बहुत व्यथित किया।

सुभद्र अपनेको व्यस्त रखने लगा। वह यज्ञीय सम्भारमें सेवकोंको निर्देश देनेतकका कार्य सँभालने लगा। उसे केवल एक कार्य प्रिय लगा यहाँ। अवसर मिलते ही वह यज्ञीय धेनुओंके समीप चला जाता था। उन गायोंको सहलाता और उनके बछड़ोंके साथ बातें करता—अपने कन्हाईकी बात।

'ये आत्रेय महोदय पशुओंसे बातें करते हैं।' सुभद्रके लिए यह सुख भी विपत्ति बना। ब्राह्मणोंमें किसीने उसे बछड़ोंसे बातें करते देख लिया और परस्पर चर्चाका विषय बन गया यह।

'भगवन्! आप पशु-पक्षियोंकी भाषाके भी ज्ञाता हैं?' बात जब फैलती है, बतंगड़ बनती जाती है। महाराज गाधितक बात पहुँची थी और उन्होंने स्वयं सुभद्रसे पूछा था।

'यह सद्गुण तो केवल कन्हाईमें है।' सुभद्र चौंक गया था। उसने स्पष्ट कह दिया—'मैं तो केवल बछड़ोंको निमित्त बनाकर कुछ कृष्ण-चर्चा कर लेता हूँ।'

'आप प्रकट नहीं करना चाहते तो आपकी इच्छा।' राजाको संतोष नहीं हुआ। यह तो कुशल हुई कि उनके यज्ञकी पूर्णाहुति दूसरे ही दिन थी। तीसरे दिन अवभृथ-स्नानके पश्चात् ढूँढ़नेपर भी सुभद्रको वहाँ कहाँ मिलना था। वह तो अवभृथ-महोत्सवके मध्यमें ही सुयोग देखकर खिसक गया था। उसे कहाँ विदा-दक्षिणा लेनी थी कि बना रहता।

आश्रयका अन्वेषण—

अनवरत आपत्तियाँ सुकुमार-सौन्दर्यको म्लान कर ही देती हैं। वह तनिक आतपसे अरुण हो उठनेवाली युवती जैसे सूख गयी थी। शीतमें हिमकी मारी पद्मिनी-जैसी। पदचाप भी उसे संत्रस्त करती थी। उसने उटजका द्वार भी तब खोला, जब अतिथिके स्वरसे संतुष्ट हो गयी और संधिसे देख लिया कि वह सशस्त्र दस्यु नहीं है।

'भगवन्! आप इस अभागिनीकी अविनय क्षमा करें।' द्वार खोल-कर उसने भूमिमें मस्तक रखा—'मैं एकाकिनी आतिथ्यकी स्थितिमें नहीं हूँ। मैं तो स्वयं अभी इस उटजको अग्निदेवको अर्पित करके इस देहकी आहुति देने जा रही थी।'

'हेमा, तुम? तुम आत्मघातको उद्यत हो गयीं? ऐसा क्या संकट है?' सुभद्र महाराज गाधिके यहाँसे चला तो कई दिन भटकता इस सरितातटके शून्य-प्राय उटज-तक आ गया था। उटज-द्वार बंद न होता तो वह आगे बढ़ जाता। द्वार भीतरसे बंद था और सम्मुखका स्थान अपरिष्कृत था। आशङ्का हुई–कोई एकाकी रुग्ण तो नहीं? सुभद्र कुशल चिकित्सक तो है ही, अतः उसने द्वार खट-खटाया। जिस युवतीने द्वार खोला, उसे देखकर वह चौंक गया।

'मेरा नाम श्रुति है।' उसने अपना परिचय दिया—'लगता है, आप किसी आकृतिसाम्यसे भ्रममें पड़ गये हैं। लेकिन आसन ग्रहण करें!'

वह द्वारसे एक ओर हट गयी। सुभद्र आकर जब बैठ गया, उसने स्वयं बतलाया—'माता-पिता शैशवमें ही परलोक पहुँच गये। मातुलने पालन किया; किन्तु वे भी अब इस लोकमें नहीं हैं। वे किसीको संरक्षक नहीं बना गये और मनुष्य आज मांसभक्षी ही नहीं, मलभोजी हो गया है। समीपका वृद्ध किरात कंद-फल दे जाता है; किन्तु उससे जो सुननेको मिलता है—संत्रस्त हो गयी हूँ। मेरे चर्मकी सुरूपता-शत्रु हो गयी है मेरी। कोई समीपका क्षुद्र राजा मेरे अपहरणकी योजना बनारहा था। वह भी किसी अन्यको दासीरूपमें देनेके लिए। शरीरको अग्नि-समर्पित करनेके अतिरिक्त और क्या मार्ग है?'

'तुम्हारा यहाँ आवास निरापद नहीं।' सुभद्रने स्पष्ट स्वीकार किया। उसने आवश्यक नहीं समझा यह सूचित करना कि क्यों उसने श्रुतिको हेमा कहा। लेकिन अब इतना दायित्व तो उसका है ही कि श्रुतिको सुरक्षा दे। 'तुम्हारे लिये आश्रय-अन्वेषण करना पड़ेगा। तुम साथ चलनेको प्रस्तुत हो जाओ।'

'वह वृद्ध किरात आता होगा। तुम फलाहार कर लो! श्रुतिको साथ चलनेमें आपत्ति कहाँ थी! उसने मान लिया—स्वीकार कर लिया कि यह अतिथि ही उसका आश्रय है। उसने कह दिया—'इस उटजमें ऐसा कुछ नहीं, जिसे साथ लेना आवश्यक हो।'

सुभद्रको परिस्थितिने श्रुतिको साथ लेनेको विवश किया था; किन्तु वह सचमुच श्रुतिके उपयुक्त आश्रयके ही अन्वेषणमें निकला था। उसने सीधे सुरसरिके समीप पहुँचना उचित समझा और आगे उनके तटको पकड़कर यात्रा करने लगा।

श्रुति बहुत सुकुमारी थी। सुभद्रको उसे साथ रखनेके लिए अपनी गति मंद रखनी पड़ती थी। इतनेपर भी वह बार-बार पिछड़ जाती तो प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

अच्छा हुआ कि रात्रिको आतिथ्य प्राप्त हो गया। यद्यपि सुभद्रने लक्षित किया कि जहाँ वह अतिथि रहा, उसे सशङ्क देखा गया। श्रुति तो झल्ला उठी। उसने अन्ततः पूछ ही लिया—'तुम्हारा आश्रम कहाँ है?'

'कहीं नहीं!' सुभद्रने अपनी स्थिति स्पष्ट की।

'तब सुरसरिके तटपर ही कहीं आश्रम बना लो!' श्रुति जान चुकी थी कि सुभद्र विद्वान् है। उसने झटपट एक दो राजाओंके नाम भी गिना दिये, जिनको सुभद्रका पौरोहित्य प्रिय हो सकता था।

'मुझे पौरोहित्य किसीका नहीं करना।' सुभद्रने श्रुतिको निराश कर दिया—'उटजका बन्धन मुझे सह्य नहीं। मैं एक स्थानपर रहनेका अभ्यासी नहीं हूँ। तुमको कोई उपयुक्त आश्रय देनेमात्रके लिए मैंने साथ लिया है।'

श्रुतिका व्यवहार तो उसी समय परिवर्तित हो गया। वह अधिक उदासीना बन गयी। बहुत कम बोलने लगी। सुभद्रको यह अच्छा ही लगा। वह इस अल्प समयमें ही देख चुका था कि विपत्तियोंने श्रुतिके अनेक सद्गुण विलुप्त कर दिये थे। वह सुख-सुविधाकी आकांक्षिणी हो गयी थी।

किसीकी भी सेवा निःसंकोच स्वीकार कर लेती थी। कहना चाहिये कि इसे स्वत्व मानने लगती थी।

विचित्र स्वभाव था श्रुतिका। अपरिचितके प्रति अत्यन्त विनम्र; किन्तु अपरिचितको सामान्य बात भी ऐसे व्यंग्यसे कहती, जो मर्मविद्ध करे। उस वेचारे वृद्ध किरातको, जो उसे पुत्री कहता था, इसने वाक्-ताड़ित किया था।

बहुत कष्ट झेलनेसे श्रुति आत्मलीन--स्वार्थी भी कह सकते हैं—बन गयी थी। वह स्थान-आहारादिके सम्बन्धमें अपनी सुविधा देखती थी। उत्तमको अपना स्वत्व मानती थी। साथके व्यक्तिकी रुचि, सुविधा-पर ध्यान ही नहीं जाता था उसका और अपनी त्रुटि सुनना उसे असह्य था।

सुभद्र इस स्वभाव और स्थितिसे दो दिनमें ही ऊब गया। श्रुति निश्चिन्त थी। उसने समझ लिया था कि सुभद्र उसे एकाकिनी छोड़कर नहीं जा सकता। इस विवशताका लाभ उठानेमें उसे कोई अनौचित्य नहीं लगता था।

सौभाग्यसे सुरसरिके एक ऊँचे तटपर एकाकी उटज दृष्टि पड़ा। सुभद्र उस ओर चला तो श्रुति ही उत्कण्ठिता हुई—'सुरम्य स्थल है। उपवन भी समीप है। होमधेनु भी दिखायी पड़ती है।'

'मेरा ज्योतिर्ज्ञान ठीक है तो यही तुम्हारा आश्रय है।' सुभद्रने सचमुच स्वर-ज्ञानका उपयोग कर लिया था। उसे संतोष हुआ। श्रुतिको—नहीं, हेमाको साथ ले जानेकी बात अभी दूर है। इस समय तो श्रुतिको कहीं आश्रय देकर वह स्वच्छन्द हो जाना चाहता है।

'आ जाओ भद्र ! मैं उठनेमें असमर्थ हूँ।' उटज-द्वार उन्मुक्त था। वहाँ पुकारनेपर एक क्षीण स्वर आया भीतरसे।

सुभद्र श्रुतिके साथ भीतर गया। उसने काष्ठ-शैयापर पड़े वृद्धको प्रणाम किया तो वृद्धने आशीर्वाद देकर श्रुतिको उटजके एक कोनेकी ओर संकेत करते कहा—'पुत्री ! आसन ले लो !'

वार्धक्य स्वयं रोग है। उन वृद्धको कोई विशेष रोग नहीं था। अतिशय वृद्ध, वलीपलित काय, रोम और भ्रू-तक श्वेत। पूर्व दिशाकी वायु चलनेसे उनके शरीरके प्रत्येक जोड़में पीड़ा होती थी।

'एक वृद्धा शबरी आती है।' उन वृद्धि मुनिसे कहा—'वह उटज स्वच्छ कर देती है। फल-कन्द धर जाती है। धेनु दुह देती है और उसे तृण डाल देती है। मैं स्वयं एक बार किसो प्रकार उठ जाऊँ तो शरोर धीरे-धीरे सक्रिय हो जाता है। तुम दोनों प्रथम प्रहरमें आ गये। मध्याह्नमें आते तो मैं आतिथ्य कर लेता।'

'आप लेटे रहें।' सुभद्रने देखा कि वृद्ध मुनि उठनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

'बाबा, अब मैं आपकी सेवा करूँगी।' श्रुतिको निश्चय करनेमें विलम्ब नहीं हुआ। यह स्थल, आश्रम उसे सुरम्य लगा था। अब ये वृद्ध मुनि आश्रय दे देंगे, इसमें भी उसे संदेह नहीं था। वह उटज स्वच्छ करनेमें लग गयी।

'मुझे उठना भी तो चाहिये!' वृद्ध मुनिको उठनेमें कठिनायी हो रही थी—'अभी अपना आह्निक भी करना है।'

सुभद्रने उन्हें उठनेमें सहायता दी। उनके नित्यकर्मके लिए जल, हस्त-प्रक्षालनादिकी सेवा श्रुतिने सोत्साह की। सचमुच थोड़ा चलने-हिलनेके पश्चात् वृद्ध मुनि स्वयं सक्रिय हो गये।

सुभद्रने उन मुनिके साथ पुनः सुरसरि-स्नान किया। उसे मध्याह्न-संध्या करनी थी। मुनिने भी अपना संक्षिप्त आह्निक पूरा किया। सुरसरि-तटसे जब दोनों उटजमें आये, सुभद्रको प्रसन्नता हुई। श्रुति श्रम भी कर सकती है, यह उसने देख लिया। उटज स्वच्छ हो गया था और बहिर्भाग आगता शबरीसे श्रुति इस प्रकार स्वच्छ करा रही थी, जैसे वही स्वामिनी हो।

मुनिके साथ ही सुभद्रको भी फलाहार करना पड़ा। श्रुतिने साथ नहीं दिया। वह स्वयं आतिथेया बन गयी थी। उसने दोनोंके पश्चात् आहार-ग्रहण किया। आज बहुत दिनोंके अनन्तर उस वृद्धा शबरीको प्रसाद प्राप्त हुआ। अन्यथा तो वह अपने लाये फल-कंद रखकर, आश्रम स्वच्छ करके विदा हो जाती थी। उसे प्रसाद भी दिया जाना चाहिये, यह कभी उन वृद्ध मुनिको स्मरण ही नहीं आया।

'वत्स! यह तुम्हारा ही आश्रम है।' वृद्ध मुनिने सुभद्रसे आग्रह-पूर्वक कहा—'तुम दोनोंको कहीं जानेको कावश्यकता नहीं है। लक्षणोंसे लगता है कि इस पुत्रीको तुमने अभी स्वीकार नहीं किया है; किन्तु....।

'मैं गृहस्थ होनेको इच्छुक नहीं हूँ।' सुभद्रने बीचमें ही मुनिको रोककर श्रुतिका परिचय दिया। उसकी स्थिति सूचित करके कहा—'उसे आश्रयकी आवश्यकता है और आपको भी इस वार्धक्यमें सेवा-प्राप्त होनी चाहिये। वह यहाँ रहेगी तो आपको सुविधा होगी।'

'वह इसे अपने पिताका आश्रम मानकर सानन्द रहे।' वृद्ध मुनिने प्रसन्न होकर कहा—'वह मेरी पुत्री है। लेकिन मैं अब मरणासन्न हूँ। उसके योग्य युवकके अन्वेषणमें तुम मेरी सहायता करो तो उत्तम होगा।'

'बाबा! मुझे किसीकी सहायता अपेक्षित नहीं है।' श्रुतिने बात सुन ली थी। वह समीप आ गयी। आश्रयका आश्वासन मिल जानेपर उसका अभिमान जाग्रत् हो गया था—'मैं आपकी सेवा करके संतुष्ट हूँ। दूसरे किसीका आश्रय मुझे नहीं चाहिये।'

'वत्से! यह वृद्ध तो पक्व फल है। कब वृन्तच्युत हो जाय, कुछ ठिकाना नहीं है।' मुनिने स्नेहपूर्वक समझाया।'

'माता सुरसरिका अङ्क अवरुद्ध नहीं हो गया है।' श्रुतिने रुदन प्रारम्भ किया—'कोई नहीं देगा तो वे मुझे अवश्य आश्रय दे देंगी। मैं आपके अतिरिक्त अब और किसीका आश्रय स्वीकार नहीं करूँगी।'

'वत्से! यह आश्रम तो तेरा है ही।' वृद्ध मुनि अनुभवी थे। उन्होंने समझ लिया कि यह कन्या हृदयसे इस तरुणकी हो चुकी है और यह उसे स्वीकार करनेको उद्यत नहीं है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत ले रहा हो, उसके पुण्य-निर्णयमें बाधा देना पाप है। साथ ही आर्य-कन्या मनसे किसीका वरण कर चुकी तो उसे दूसरेको स्वीकार करनेको बाध्य किया जा ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें मौन रहकर सर्वेश्वरकी इच्छा स्वीकार करना पड़ता है।

श्रुतिको अब कहीं जाना नहीं था। सुभद्रने दिनके तृतीय प्रहरमें उससे और मुनिसे भी विदा ली।



परशुराम—

अतिशय अकरुण, प्रचण्ड-पराक्रम, दुरन्तवेग परशुरामका आतङ्क व्याप्त हो गया देशमें। परशुराम—जो दया करना जानते ही नहीं। परशुराम—जो मनुष्योंको पशुओंकी भाँति काट फेंकते हैं। परशुराम—जिनके प्रतिहिंसाकी पिपासा कहाँ परितृप्ति पावेगी, कोई नहीं जानता।

परशुरामका दर्शन हो गया था सुभद्रको; किन्तु वे उसे दुर्विनीत लगे। वे ब्राह्मणोंके अपने हैं, यह कहनेमें सुभद्रको तो लज्जा आवेगी। यह सत्य है कि वे ब्राह्मणोंको कष्ट नहीं देते; किन्तु जो अपने आदरणीयोंको भी केवल औपचारिक आदर देता है, वह किसीका सत्कार करेगा ?

सुभद्र कभी परशुरामके प्रति सामान्य ढंगसे सोच नहीं सका। वह उनकी चर्चा आते ही उत्तेजित हो जाता है—'जिसने अपनी जननी और अग्रजोंतकका शिरच्छेदन किया, वह कहीं कृपा कर सकता है ? प्रवाद है कि उसने पिताकी आज्ञासे यह अपकर्म किया। अब पिताकी हत्या होनेपर उसकी प्रतिहिंसा पिशाचिनी बन गयी है।'

परशुरामको अपराधी-निरपराधका विवेचन करना ही नहीं है। वे क्षत्रियमात्रके संहारक बन गये है। कोई प्रतीकार नहीं पृथ्वीमें उनका। महेश्वरने उन्हें परशु पकड़ा दिया है और भगवान् विष्णुका आवेश है उनमें।

'बाबा तो प्रलयंकर हैं। उनका परशु पाकर पशुराम सृष्टिका संहार करते-फिरते हैं, यह तो ठीक' सुभद्र कहता है—'किन्तु श्रीपति इस संहारमें अधिक दिन परशुरामको सहयोग नहीं दे सकते। वे प्रजापालक हैं। अवश्य वे परशुरामसे अपना अंश आकर्षित कर लेंगे ओर तब परशुराम दन्त-विरहित सर्प बन जायँगे।'

सुभद्रका अनुमान सफल होनेमें देर लगी; किन्तु सफल हुआ यह हम-आप जानते हैं। कोई आवेश हो, अंधा होता है। परशुराम अपने आवेशमें विवेक-रहित हो गये थे। वे विनाशको ही अपना गौरव बनाये घूम रहे थे।

परशुरामका वेग अप्रतिहत था। परशुरामका परशु अमोघ था। परशुराम अमर। अब उनका प्रतिरोध कैसे सम्भव था। उनका शरीर आघात-प्रपीड़ित भी नहीं होता था। उनका प्रतिरोध करनेका कोई अर्थ

नहीं था। उन्हें आहत भी नहीं किया जा सकता था। कुशल थी कि परशुराम केवल क्षत्रियोंका संहार कर रहे थे। वे सुर-असुर—सबको मार देते तो कोई उनका क्या बिगाड़ लेता ?

बहुत पीछे विक्रमादित्यको भी ऐसे ही आततायी मिहिरकुलका सामना करना पड़ा। वह भी परशुरामके समान गर्वसे कहता था—'मिहिरकुल शिवका उपासक है। सृजन इसका काम नहीं है। अपने भूतनाथ स्वामीके लिए मिहिरकुल नगरों-ग्रामोंकी असंख्य चिताएँ प्रज्वलित करने चला है। मेरे प्रभुका श्रीअङ्ग चिता-भस्म-भूषित होता है।'

परशुराम शिवके साक्षात् शिष्य; किन्तु उनमें यह श्रद्धा भी नहीं थी। उन्होंने तो शिवके सुतसे ही संग्राम किया और गणेशको एकदन्त बना दिया। परशुराम दूसरे किसीपर दया करनेवाले ?

परशुराम उन्मत्त हो गये थे। विनाशके अग्रदूत बने पृथ्वीको रौंद रहे थे। क्षत्रिय-क्षत्रिय-क्षत्रिय। परशुरामको सम्भवतः स्वप्नमें भी क्षत्रिय ही दीखते थे और क्षत्रियका शिशु भी उन्हें सह्य नहीं था। वे नगर-नगर, ग्राम-ग्राम क्षत्रिय-संहार करते घूम रहे थे।

'कौन-सा क्षत्रिय-गृह ? कौन-कौन क्षत्रिय ? परशुरामकी हुंकार गूँजा करती थी। पृथ्वी नर-शोणितसे अपवित्र होती जा रही थी। अकारण बालक, युवा, वृद्ध मारे जा रहे थे। परशुरामको यह देखनेका अवकाश नहीं कि जिसे उन्होंने परशुसे काटा—वह पूरा मर भी गया या नहीं। शवका क्या होता है, यह वे क्यों सोचें।

परशुरामने आतङ्कने उद्धत, दस्युप्राय क्षत्रियोंको दयनीय बना दिया। मनुष्य प्रायः आपत्तिमें आस्तिक हो जाता है। अतः सब सीधे, धर्मात्मा बनने लगे थे। उपद्रव समाप्त हो गये। देशमें शान्ति थी; किन्तु श्मशानकी शान्ति। आतङ्कका नीरवनपना।

क्षत्रियोंमें संगठन नहीं था, यह आक्षेप व्यर्थ है। जिसने सहस्रार्जुन-को पुत्रोंके साथ बलि-पशु बना डाला था, उसका कोई संगठित होकर भी क्या बिगाड़ लेता ? परशुराम केवल दीखनेमें मानव थे। दिव्य तेज, दिव्य शक्तिने जैसे संहारिका-रूप ले लिया उनके आकारमें।

'परशुराम पोंगा है।' सुभद्रको परशुरामसे चिढ़ थी। वह कहता है - 'उसे क्षत्रिय-विनाश ही करना है तो इन्द्रसे संग्राम करे। यमसे युद्धमें उतरे। वरुण या विष्णुसे ठकरा देखे। अल्पप्राण मानवोंका संहार करता

है। पृथ्वीको निःक्षत्रिय करेगा। कोई धराको वृश्चिक-सर्पहीन तो बना नहीं पाता। क्षत्रिय तो फिर भी मनुष्य हैं।'

आपको विचित्र नहीं लगता कि परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन किया ? यह गणित स्वयं परशुरामको कभी नहीं आया। वे एक संहार-चक्र पूरा करके यज्ञ करते थे और ब्राह्मणोंको पूरी पृथ्वीका दान कर देते थे। यज्ञका अन्त होते ही पुनः परशु उठाते और हत्याका दूसरा क्रम प्रारम्भ होता।

'आपको सम्पूर्ण पूर्व दिशा, आपको पश्चिम'—इस प्रकार परशुराम पृथ्वीदानका संकल्प करते थे। यह उनका दर्प ही था। दान-गृहीता ऋषि-गण चुपचाप दान लेते थे। एक अतिशय क्रोधीको उत्तेजित करनेका पाप वे क्यों लें ? उन्हें पृथ्वीका प्रयोजन भी क्या था ? परशुराम यज्ञमें लगकर कुछ दिन शान्त बने रहें, ऋषि यही चाहते थे।

अन्तिम बार यज्ञमें जब महर्षि भृगुको परशुरामने पूरी पृथ्वी दान की तो भृगुको सरल उपाय मिल गया। उन्होंने परशुरामपर ही प्रतिबन्ध लगाया—'तुम मेरी पृथ्वीपर रात्रि-विश्राम मत करना।'

परशुरामको पश्चिम-समुद्रसे स्थान लेना पड़ा। उनकी प्रतिहिंसा-यात्रा असम्भव हो गयी।

पृथ्वी निःक्षत्रिय हो जाती तो परशुरामको इक्कीस बार संहार ही क्यों करना पड़ता ? परशुरामने तो अपने दर्पमें कभी नहीं देखा कि कितने प्रदेश पूरे बचते हैं। कहाँ, कितने क्षत्रिय शेष रहते हैं।

अयोध्याका एक अधिपति रानियोंके मध्य बैठ गया। परशुरामको उन सतियोंने स्पष्ट कह दिया—'हमारे कण्ठ काटे बिना आप हमारे पति-तक पहुँच नहीं सकते।'

जो पतिके शवके साथ चितारोहण करती हैं, वे पतिको सप्राण रखनेके लिए मरनेमें संकोच करेंगी, यह मान लेने जितने मूर्ख परशुराम नहीं थे। उन्हें उस नारीकवचको छोड़ना पड़ा। स्त्री-वध वे कर नहीं सकते थे।

'प्रशान्त न होना हो तो मिथिलाकी ओर मुख मत करना।' महर्षि याज्ञवल्क्यने संदेश भेज दिया और उसका अतिक्रमण करनेका साहस परशुराममें नहीं था।

विश्वामित्र परशुरामजीके पिता जमदग्निके मामा थे। महाराज गाधि और विश्वामित्रकी संतानोंपर परशु उठानेका स्मरण ही परशुरामको नहीं आया।

आप जानते हैं कि प्राणरक्षाके लिए असत्य बोलना भी पाप नहीं है। सहस्रशः क्षत्रिय ब्राह्मणों-मुनियोंके आश्रमोंमें पहुँचते थे। वे अपनेको ब्राह्मण कह दें या अपने आश्रितोंकी रक्षाके लिए वे ब्राह्मण उन्हें ब्राह्मण कह दें तो कोई अपराध था ?

परशुरामसे माताएँ अपने शिशु छिपावेंगी या उन्हें मारनेका अवसर देंगी परशुरामको ? केवल गर्भस्थ बच्चे ही नहीं बचते थे। बहुतसे बालक भी क्षत्राणियाँ बचा ही लेती थीं।

परशुरामके पीठ फेरते ही विप्रोंके यहाँ छिपे क्षत्रिय अपना राज्य-सदन सँभाल लेते थे। परशुरामकी दूसरी यात्रा तो तब होती थी, जब पहली यात्राके समयके गर्भस्थ शिशु भी उत्पन्न होकर युवक हो जाते थे।

परशुरामकी प्रथम यात्रामें बहुत अधिक क्षत्रिय मारे गये। उत्तरोत्तर वे सावधान होते गये। परशुरामको संतोष होता गया कि पृथ्वी निःक्षत्रिय हो रही है। यज्ञान्तमें भूमिदान तो उनका भ्रम था और कोई गृहीता ऋषि उनके इस भ्रमको भङ्ग करनेका पाप नहीं लेना चाहता था।

परशुरामके आतङ्कने एक प्रथा क्षत्रियोंमें प्रचलित कर दी। आप उसे कुप्रथा कह लें; किन्तु वह समयकी आवश्यकता थी। अपनी जाति, अपने समाजकी सुरक्षाके लिए क्षत्रियोंको सचिन्त होना पड़ा। उन्होंने अपनी सुरक्षाके लिए यह प्रथा अपनायी।

परशुराम स्त्री-वध नहीं करते थे। वे तरुण, युवा क्षत्रियोंका विशेष रूपसे संहार करते थे। जो स्त्रियाँ पतिके साथ सती हो जाती थीं, उनकी तो कोई समस्या नहीं थी; किन्तु जो कुमारिकाएँ बच जाती थीं, उनकी संख्या बहुत हो गयी परशुरामके पहले संहारके ही पश्चात्। अतः क्षत्रियोंने बहु-विवाह स्वीकार कर लिया।

उनकी संख्या-वृद्धि भी आवश्यक थी; क्योंकि तब केवल क्षत्रिय ही सैनिक हो सकता था। कभी किसी कालमें समाजको सेना और पुलिसकी आवश्यकता नहीं रही, यह भूतकालमें सम्भव नहीं हुआ। भविष्यमें अभी सम्भव नहीं लगता। पुलिस और सेना—दोनोंका दायित्व क्षत्रियपर था। क्षत्रिय ही समाजका सुरक्षा-प्रहरी था। अतः उसकी पर्याप्त संख्या तो

अनिवार्य आवश्यकता थी। क्रोधान्ध परशुराम इस सुरक्षाको नष्ट करनेपर तुले थे; किन्तु स्रुवा सँभालनेवाले तपस्वियोंकी शक्तिका अनुमान उन्हें भी नहीं था। इन तपस्वियोंने क्षत्रियोंका समर्थन ही नहीं किया, उन्हें वैश्य एवं शूद्र-कन्याओंके पाणि-ग्रहणका अधिकार भी दिया। प्रोत्साहन देते रहे ऐसे विवाहोंको। फलतः कहीं-कहीं तो सहस्राधिक विवाह राजाओंने कर लिये। बहु-विवाह, अधिक संतानोत्पादक समाजमें सम्मानित हो गया।

सुभद्रके लिए भी परशुराम समस्या बन गये थे। सुभद्र ब्राह्मण-कुमार था। परशुरामने तो ब्राह्मण-वंश कहकर दशग्रीव और उसके अनुचरोंको छोड़ रखा था। परशुराम व्यक्तिगत प्रतिहिंसा-प्रेरित थे। उन्हें न सुर-साधु-संकटकी चिन्ता थी और न धर्मद्रोहियोंसे कोई चिढ़ थी। धर्म-स्थापनमें सहयोग देनेकी भी कभी इच्छा नहीं की उन्होंने। उनके पिताका वध क्षत्रिय-कुमारोंने किया था, अतः वे क्षत्रिय-द्रोही थे। इतनेपर भी सुभद्रके लिए वे विकट समस्या बन गये थे।

परशुरामके आतङ्कसे आश्रय पानेके लिए क्षत्रियोंको केवल ब्राह्मणोंकी शरण लेनी थी। जो जितना एकान्तप्रिय, जितने निर्जनमें जिसका आवास, वह उतना सुरक्षित समझा जाता था। उसके समीप उतने अधिक आश्रयार्थी पहुँचते थे। कोई अरण्यानी तपस्वी प्राणभयसे भागकर शरण लेने आयेको अपने यहाँसे भगा सकेगा ?

सुभद्र एकान्तप्रिय और अब निर्जन अरण्यमें जहाँ जल सुगम था, तपस्वियोंके आश्रम बन गये थे। इन आश्रमोंमें आश्रय लेने आये लोगोंकी भीड़ मिलती थी। सुभद्रको इससे कहीं टिकनेको स्थान नहीं मिलता था। वह एक रात्रिसे अधिक कहीं अतिथि बन नहीं पाता था।

'यहाँ आपको असत्य-भाषणकी आवश्यकता अभी नहीं है।' अनेक स्थानोंपर संदेह किया गया कि सुभद्र भी कोई आश्रय लेने आया क्षत्रिय-कुमार ही है। उसका शास्त्रज्ञान भी इसमें सहायक नहीं हो सकता था; क्योंकि असंख्य क्षत्रिय उन दिनों श्रुतिके प्रकाण्ड पण्डित थे।

सुभद्रको इस परिस्थितिने बहुत अधिक खिन्न किया। वह जनपदोंसे ही दूर नहीं गया, आश्रमोंसे भी दूर होता गया। उसने जैसे एक दिन गहन हिमालयसे दक्षिण-यात्रा प्रारम्भ की थी, वैसे ही अब हिमालयमें उत्तरोत्तर उत्तर बढ़ता चला गया। उसे इस समय मानव-समाजसे ही उपरति हो गयी थी।

प्रतिमा-पूजन–

अप्रतिम-प्रभाव कलापग्राम—यह मत पूछिये कि कहाँ है। सृष्टिके संचालकका यह सुरक्षा-कोश इतना सुगम नहीं कि आप सरलतासे या कष्ट उठाकर यहाँ पहुँच जायँगे। होनेको तो यह श्रीबद्रीनाथधामके कुछ आगे माना गाँवके आस-पास ही होना चाहिये; किन्तु जब माना गाँवके निवासी पर्वतीय ही उसे नहीं पाते, चीनी सैनिक अथवा पर्वतारोही क्या पा सकते थे?

दिव्य शक्तियाँ स्थूलदर्शी साधारण मानवके लिए दृश्य नहीं बना करतीं। कलायग्राम तो कल्पान्त-जीवी परम तापसोंकी स्थली है। सृष्टि-कर्ता वहाँ प्रलयके भी पश्चात्‌के लिए प्राण एवं ज्ञानका, साधनका बीज सुरक्षित रखते हैं। अतः वहाँका जो जितना अंश वहींके कोई तपःसिद्ध दिखलाना चाहें, वही और उतना ही दूसरोंको दीख सकता है।

सुभद्र कलापग्राम पहुँच गया। उसके लिए वह दिव्यस्थल अदृश्य भी नहीं रहा; किन्तु उसमें उसने कोई रुचि नहीं ली। अकल्पनीय दीर्घकाय, पता नहीं कबसे समाधिमें स्थित वे श्वेत-केश तेजोमय लोग। सुभद्रकी रुचि समाधिमें नहीं थी। वह एक बार घूम आया सबके सम्मुख। उसने गिना भी नहीं कि कितने शत महात्मा वहाँ हैं। सब निमीलित नेत्र, अतः किसी-का स्पर्श या किसीका वन्दन अनावश्यक था। सब जैसे शिलामूर्तियाँ हों।

अदृश्य हो गया सुभद्रके लिए भी वह स्वप्नलोक। उसे अच्छा ही लगा। ऐसे स्थानमें वह क्या करता, जहाँ उसकी ओर न कोई देखता था, न बोलता था। अवश्य एक अति-दीर्घकायके तेजोमय प्रकट हो गये।

'आप मेरे प्रणम्य हैं।' उन महापुरुषने स्वयं हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'मैं इक्ष्वाकुगोत्रीय मरु।'

सुभद्र सिर उठाये उन्हें देखता रह गया। उन्होंने ही कहा—'सृष्टि-कर्ताके चार कुमार केवल पाँच-छः वर्षके बने रहते हैं; किन्तु वे बालक तो नहीं माने जा सकते। आपका दिव्य देह युगानुरूप होता रहता है, आप नित्य-किशोर बने रहते हैं; किन्तु सृष्टिके प्रथम कल्पके सतयुगमें अवतीर्ण महापुरुष हम जो भी यहाँ हैं, सबके पूर्वजन्मा हैं। वय, विद्या, वैराग्यमें आप सब

प्रकार ज्येष्ठ हैं। समाधिसे भी निरपेक्ष आपका मैं यहाँके सबकी ओरसे वन्दन करता हूँ।'

मरुने मस्तक झुकाया पुनः। आजतक तो सुभद्रने अपने शरीरकी इस विशिष्टताकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। वह किसीको 'वत्स' नहीं कहता था। कोई वृद्ध उसे 'वत्स' कहे तो उसे प्रसन्नता ही होती थी। दूसरे जटा-दाढ़ीवाले उससे अल्प-आयुके हैं, उसके सम्मुख शिशु हैं, यह बात कभी उसके मनमें नहीं आयी।

'आप जबतक चाहें, यहाँ निवास करें।' मरुने कहा—'आपका आतिथ्य हम सबका सौभाग्य। आपको असुविधा न हो, केवल इसलिये कलापग्राम अदृश्य हुआ है। आप जब चाहेंगे, वह दृश्य होगा। जिसे कोई आज्ञा देंगे, समाधि त्यागकर वह उसका पालन करेगा। आप संकोच न करें।'

'मुझे तो कुछ नहीं चाहिये।' सुभद्रने सहजभावसे कह दिया—'कन्हाई मेरी सँभाल स्वयं कर लेगा और यह तो अम्बा पार्वतीका पितृ-गेह है। मुझ दौहित्रकी उपेक्षा ये मातामह नगाधिराज भी नहीं करेंगे।'

मरु भी अदृश्य हो गये। सुभद्रने फिर नहीं सोचा कि इस हिम-प्रदेशमें उसके लिए सुखद गुहा, मृदुल तृणास्तरण कैसे प्रस्तुत हुआ और प्रतिदिन समयपर उसकी गुहाके पाषाण-पात्रमें अनजाना स्वादिष्ट आहार किसीकी संकल्प-शक्तिसे उपस्थित होता है। वह तो अलकनन्दामें स्नान करता तो जल उसे शीतल नहीं लगता था। हिम-शिखरोंके ऊपर घूम आता। श्रीवन (लक्ष्मी-वन) का भूर्जपत्र-तरुवन उसे प्रिय था। उसे हिमदंश तो क्या होता—कभी हिमपातने उसका अभिषेक भी नहीं किया।

मरु मिलते रहते थे कभी-कभी; किन्तु उन्हें कलियुगके अन्तमें भारतमें सूर्यवंशकी स्थापना करनी थी। वे उसीकी योजनामें मग्न थे। पता नहीं, वे किन्हींको पृथ्वीपर भी प्रेरणा देते थे या नहीं; लेकिन उनकी चर्चाके विषय थे भगवान् कल्कि और कल्किके प्रशिक्षक परशुराम।

'जैसा गुरु, वैसा ही शिष्य मिलना है उसे।' सुभद्र झल्ला उठता था—'परशुराम ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न होकर असंख्य हत्या कर रहे हैं और कल्किको भी ब्राह्मणपुत्र ही होना है। वे भी संहारका व्रत लेकर आने-वाले हैं।'

कलापग्रामके कल्पजीवियोंके लिए कालका कोइ अर्थ नही। वे युगोंकी ही गणना नहीं करते तो वर्ष कौन गिनता वहाँ। अतः कितना समय

बीता, पता नही; पर सुभद्र प्रसन्न हुआ जब एक दिन अकस्मात् वहाँ प्रतीप पहुँचे। चन्द्रवंशमें उत्पन्न भीष्मके पिता शंतनुके बड़े भाई प्रतीप।

प्रतीपको भी कल्किकी प्रतीक्षा थी। उन्हें भी कलियुगके अन्तमें भारतमें क्षत्रियोंके चन्द्रवंशके बीज रूपमें यहाँ सुरक्षित किया गया था। उनका मरुसे सहज सख्य हो गया। लेकिन प्रतीप एक प्रतिमा साथ ले आये थे। उस प्रतिमाको देखकर सुभद्र सुप्रसन्न हो गया था। प्रतिमा छोटी ही थी। धनुर्धर श्रीरामकी प्रतिमा।

'परात्पर पुरुषने इस रूपमें अयोध्यामें अवतार धारण किया।' प्रतीपने बतलाया—'मेरे तो ये आराध्य हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम होकर त्रेतान्तमें अवतीर्ण हुए। परशुरामका दर्प इन्हें देखकर दलित हो गया। उनका वैष्णव-तेज आकृष्ट कर लिया इन्होंने और सुर-साधु-शत्रु दशग्रीवको समर-शैया दे दी।'

'मेरा वंश धन्य हुआ।' मरु उल्लसित हुए—'सूर्यवंश प्रातः-स्मरणीय बन गया। श्रीदशरथनन्दन होकर रामने मुझे भी गौरव दिया।'

'मैं इनके दर्शन करूँगा।' सुभद्र तत्काल चल देनेवाला था।

'आप कहाँ दर्शन करेंगे?' प्रतीपने रोका—'ये परमप्रभु तो साकेत पधारे। भारत-धरापर तो अब द्वापर चल रहा है।'

'मैं यदि पुनर्जन्म पा सकूँ मानव योनिमें' सुभद्र गम्भीर हो गया—'इनका वंशज बनकर जन्म लूँगा।'

'आप सब कर सकते हैं।' मरु बोले—'लेकिन आप इस शरीरसे मेरे साथ भारत-धरापर क्यों नहीं चलते? द्वापर आ ही गया है, अब कलियुगका अन्त होनेमें काल ही कितना बच गया है। भगवान् कल्कि अवतीर्ण होंगे।'

'मुझे पूरी चतुर्युगी पृथ्वीपर रहना है।' सुभद्रने अपना तत्काल चल देनेका निश्चय फिर भी नहीं छोड़ा—'मैं सतयुग और त्रेता तो देख ही चुका। द्वापर यहाँ व्यतीत करना उत्तम नहीं; किन्तु आप मुझे इस प्रतिमा-का पूजन कर लेने देंगे?'

प्रतीपको इसमें कोई आपत्ति नहीं थी। सुभद्र जब वहाँ प्रतिमाका पूजन करके चलने लगा, प्रतीपने कुछ सूचनाएँ दीं।

बात यह है कि प्रतीकोपासना तो अनादि है। शालग्राम और शिव-लिङ्गका अर्चन सदासे होता रहा है; किन्तु मन्दिरोंमें बेर (साङ्गमूर्ति) की स्थापना द्वापरके प्रारम्भमें ही प्रचलित हुई।

'अब अर्चा-विग्रहके रूपमें ही सब धरापर स्थित रहेंगे।' भगवान् सदाशिवने वाराणसीमें यह विधान किया। उससे पूर्व तो सुर मानवोंके मध्य सहज बस जाते थे। स्वयं शशाङ्कशेखर काशीमें भवानीके साथ रहते ही थे। दिवादासने अवश्य धूर्जटिके साथ देवताओंको काशीसे निर्वासित कर दिया था; किन्तु वह तो कबका कौशलपूर्वक वैकुण्ठवासी बनाया जा चुका* 'काशी पृथ्वीका अङ्ग नहीं मानी जायगी।'—यह घोषणा तभी बाबा विश्वनाथने कर दी थी।

अब द्वापरमें मनुष्यकी श्रद्धाका अवमूल्यन हो गया था। अतीन्द्रिय विषयमें मनुष्य शङ्काशील हो उठा था। अतः धरा सुरोंके रहनेयोग्य नहीं रही थी।

परमप्रभुका संकल्प देश-कालकी सीमामें नहीं बँधा करता। हम-आप जानते हैं कि श्रीकृष्णने केवल व्रजमें इन्द्र-पूजाका निषेध किया था। वैदिक देवता इन्द्रका पूजन चला गया और देश गोवर्धन-पूजन करने लगा। ऐसे ही भोलेबाबाने वाराणसीमें सुरोंको अर्चा-विग्रह-रूपमें स्थित होनेको कहा तो पूरे देशके मन्दिरोंमें उनके बेरकी प्रतिष्ठा चलने लगी। अवश्य ही शिव-मन्दिरोंमें साङ्गमूर्ति कम बनी; क्योंकि बाबा वाराणसीमें ही विश्वनाथलिङ्गमें एक हो गये; लेकिन अन्य देवता साङ्गमूर्ति रूपमें रहे। विष्णु-मन्दिरोंमें शालग्राम बने रहे; किन्तु साङ्गमूर्ति प्रतिष्ठित हो गयी।

सुभद्रने यह सुन लिया। उसने प्रतीपसे उनके द्वारा लायी मूर्ति पानेकी प्रार्थना की होती तो प्रतीप अस्वीकार नहीं करते; किन्तु सुभद्रको यह उचित नहीं लगा। किसीकी भी आराध्य-मूर्ति माँगना उचित नहीं है। सुभद्र अपरिग्रही है। वह मूर्ति लेकर अर्चाके बन्धनमें पड़ जाता, यह उसके लिए सुविधाजनक नहीं था।

सच बात तो यह कि सुभद्रने उस मूर्तिका अर्चन अवश्य कर लिया था; किन्तु उसे अपना आराध्य बना नहीं सकता था। कोई मूर्ति केवल बाह्य पूजनसे तो आराध्य बना नहीं करती। आराध्य वह, जो अन्तरमें प्रतिष्ठित हो। सुभद्र चाहे भी तो भी उसके अन्तरमें उसके कन्हाईके अतिरिक्त दूसरा प्रवेश नहीं पाता।

* यह पूरी कथा 'शिव-चरित' में गयी है।

सुभद्रने एक बार पुनः कलापग्रामका साक्षात्कार किया। वहाँके तपस्वियोंके फिर एक बार सम्मुख घूम आया। इस बार संकोचपूर्वक घूम आया। वह डर रहा था कि ये तपस्वी उसे मरुकी भाँति ज्येष्ठ कहकर प्रणाम करने लगेंगे। वह औरोंको प्रणाम करनेमें आनन्दानुभव करता है; किन्तु उसे वृद्ध श्वेतकेश लोग प्रणाम करने लगें, इससे बहुत घबराता है। आपको लोग बलात् वृद्ध बना दें तो आप प्रसन्न होंगे ?

'आप भारतभूमिपर तो जा ही रहे हैं।' मरुने कुछ कहनेका उपक्रम किया।

'मैं आपके भगवान् परशुरामके पास नहीं जाऊँगा।' सुभद्रने बीचमें ही प्रतिवाद किया—'आपने सुन ही लिया है प्रतीपसे कि अब वे दक्षिण-भारतमें महेन्द्रगिरि (मंडासा पर्वत अब नाम है) पर तप करने लगे हैं। उन्हें कोई संदेश देना हो तो आप स्वयं कष्ट करें।'

'मैं इतनी धृष्टता नहीं करूँगा।' मरु विनम्र बने रहे।

'तब आपकी बात सुनूँगा।' सुभद्रको संकोच होना स्वाभाविक है। उसे इतना धैर्यहीन नहीं होना था।

'यहाँ कलापग्रामसे समीप ही बदरीवनमें शम्याप्रास है।' मरुने बतलाया—'केवल एक शमीतरु। अलकनन्दामें जहाँ सरस्वतीका संगम होता है, उसके समीप शमीतरु देखकर आपको भगवान् व्यासकी गुहाका अन्वेषण करनेमें कष्ट नही होगा। वे युगपुरुष हैं। द्वापरयुगके अधिष्ठाता। द्वापर एवं कलिके शास्त्रमूर्ति। उनका दर्शन करके आप प्रसन्न होंगे।'

'परशुरामके समान कंधेपर वे परशु या भल्ला नहीं रखते होंगे?' सुभद्रने विनोदवश ही पूछा। वैसे उसे परशु या भल्लासे कभी भय नहीं लगा। वह अपनेको 'सिंह-वाहिनी'का सुत कहता है, उसे कोई भीत कर कैसे सकता है।

'वे प्रशान्तमूर्ति—शस्त्रोंका उन्हें क्या प्रयोजन।' मरुने प्रश्नका बुरा नहीं माना।

'मैं अभी उनके दर्शन करूँगा।' निर्णय करके कलपर छोड़ना सुभद्रका स्वभाव नहीं है।

●●

भगवान व्यास---

'अतिथि पधारे हैं, अतः हम हम इनका सत्कार करेंगे। आज अनध्याय रहेगा।' व्यासजीने सुभद्रको देखते ही शिष्योंका अध्यापन समाप्त करके उनको सत्कार-सामग्री लानेमें लगा दिया।

उन दिनों बदरीवन था वहाँ। बेरके बड़े वृक्ष तो नहीं थे; किन्तु झरबेरीकी झाड़ियाँ चारों ओर थीं। इतना शीत नहीं था, जितना अब है। उस समय हिम-प्रदेश लक्ष्मीवनसे ऊपर प्रारम्भ होता था।

सुभद्रको चाहे जितना संकोच हो, वह आतिथ्य स्वीकार करनेको विवश था। इसका अभ्यस्त हो चुका था। अर्घ्यके उपरान्त जब आसन ग्रहण कर चुका, अर्चा हो चुकी, तव उसने कहा—'अनध्याय आवश्यक तो नहीं है। अध्ययनमें मैं व्याघात नहीं बनूँगा। यदि आप अनधिकारी न मानें तो मैं भी पाठ-श्रवण करूँ।'

'आपको तो इसका प्रयोजन नहीं है।' भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने कहा—'मैं वेदोंका चतुर्धा-विभाग यज्ञके प्रयोजनसे कर रहा हूँ।

'चतुर्धा-विभाग ?' सुभद्रको एक नवीव तथ्य लगा।

'यह विभाग तो अब भी बना हुआ है।' भगवान् व्यासने बतलाया—'अब भी यज्ञमें ऋत्विक्, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्माका वरण होता है। चारों अपना-अपना कार्य ही करते हैं। मैं केवल यह कर रहा हूँ कि उनमेंसे प्रत्येकको जिन मन्त्रोंसे प्रयोजन पड़ता है, उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन करा रहा हूँ। सम्पूर्ण वेदको कण्ठस्थ करनेकी अनिवार्यता समाप्त कर रहा हूँ; क्योंकि आगे कलियुगमें मानवकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो जायगी। वे सम्पूर्ण वेद स्मरण नहीं रख सकेंगे।'

'ब्राह्मण विवश नहीं हो जायगा कोई एक ही यज्ञीय कर्म करनेके लिये ? सुभद्रने शङ्का की—'जिस यज्ञमें वही स्थान सुलभ न हो, वहाँ वह प्रवेश ही नहीं पा सकेगा।'

'कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि कोई सम्पूर्ण वेद, अर्थात् चारों विभाग स्मरण न रखे। चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी भी रहेंगे ही।' व्यासजीने कहा—'किन्तु कलिमें तो एक वेदको भी स्मरण रखनेवाले कठिन हो जायेंगे। अतः मेरे शिष्योंने तो अपनी संहिताओंकी भी शाखाएँ करनी प्रारम्भ कर दी हैं।'

'शाखाएँ ? सम्पूर्ण एक यज्ञीय कर्मके मन्त्र भी नहीं ?' सुभद्रकी शङ्का थी—'क्या होता अथवा अध्वर्यु का कार्य कई व्यक्ति मिलकर सम्पन्न करेंगे ?'

सुभद्र सम्पूर्ण वेदका षडङ्ग-ज्ञाता था। यज्ञके सब कार्योंको सम्पन्न करानेमें निपुण। उसे नहीं सूचित करना था कि होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्माके प्रयोजनीय मन्त्र कौन-से हैं। अतः विभाजन उसकी समझमें शीघ्र आ गया। वह यह भी समझ गया कि एक ही मन्त्र प्रयोजनवशात् अन्य विभाजन में आवेंगे—बहुत आवेंगे; किन्तु शाखाका तात्पर्य उसने भी अंश ही समझा।

'शाखा-विभाजन तो स्मरणकी सुविधाके लिए है।' व्यासजीने बतलाया—'एक प्रयोजनसे पूरे मन्त्र, अर्थात् एक पूरा वेद तो स्मरण करना ही है। मैंने शिष्योंको स्वतन्त्र कर दिया है कि मन्त्रोंके कण्ठस्थ करनेका क्रम वे स्वेच्छानुसार रखें। कोई देवता-क्रमसे मन्त्र कण्ठस्थ करेगा, कोई छन्द-क्रमसे या प्रयोजन-विनियोग-क्रमसे। यह क्रम-भेद ही 'शाखा' कहलाता है।'

'महत्कार्य किया आपने।' सुभद्रने स्तुति की। इस विभाजन एवं सम्पादन-क्रमपर तो अभीतक किसी महर्षिने ध्यान ही नहीं दिया था।

'महत्कार्य कहाँ हुआ !' भगवान् व्यासका स्वर शिथिल हो गया। केवल शिष्टाचार नहीं, उनकी वाणीमें व्यथा थी—'सृष्टिकर्ताने ही वेदार्थ स्पष्ट करनेके लिए, श्रुतिमें आये नित्य इतिहास और निष्ठाओंके प्रतिपादनके लिए पुराणोंका सृजन किया था। कालकी दीर्घतासे वे लुप्त हो गये। सतयुगमें उनका प्रयोजन ही नहीं था, अतः वे उपेक्षित हो गये। अब द्वापरमें मनुष्य शङ्कालु हो गया है। श्रुति-तात्पर्यके साक्षात्कारकी योग्यता रही नहीं और श्रद्धा शिथिल हो गयी। कलिमें क्या होगा इन प्राणियोंका ?'

'कन्हाई इसमें बहुत निपुण है कि अपना काम दूसरोंके कंधोंपर लाद देता है।' सुभद्र हँसा नहीं, यही बहुत है। लेकिन कह गया—'सृष्टिकी तो उसे सँभालनेका भी दायित्व उसका; किन्तु आपसे-समर्थ महापुरुषोंको सचिन्त करके स्वयं आनन्द मनाता है।'

'यह सेवा भी कहाँ हो पा रही है।' व्यासजी सुभद्रका मर्म समझनेकी स्थितिमें नहीं थे। वे अपनी धुनमें कह रहे थे—'भगवान् नर-नारायणका सांनिध्य प्राप्त है। वे सानुकूल हैं। सरस्वतीका पावन तट है। स्त्री-शूद्र ही नहीं, कलिमें तो द्विज भी नाममात्रके द्विज रह जायेंगे। उन व्रात्य बने

लोगोंके लिए भी धर्म सुलभ हो जाय, श्रुतिका सम्पूर्ण तात्पर्य अप्राप्य न रहे, यह सोचकर किसी इतिहासका आश्रयण करके कुछ प्रणयनकी इच्छा की; किन्तु अभी न उपयुक्त इतिहास मिला, न उसका लेखक। पुराणोंका भी प्रणयन करना हैं; किन्तु……।'

'उनके अध्ययनका अधिकारी भी आ जायगा।' सुभद्रने सहज कह दिया—'आप-जैसे महत्पुरुषोंके संकल्पको कन्हाई अधूरा नहीं रहने देता।'

'आप यदि कृपा करें।' व्यासजीने बड़े उत्साहसे सुभद्रकी ओर देखा।

'मुझपर तो आप दया करें!' सुभद्रने हाथ जोड़ लिया—'मैं भारत-भूमिके दर्शनको चलने लगा तो कलापग्राममें मरुने आपका आशीर्वाद लेते जानेकी प्रेरणा दी।'

'आपने इस तथ्यपर अबतक ध्यान नहीं दिया कि आपका देह दिव्य है।' लोकादर्शके स्थापनमें लगे पुरुषकी चिन्ताका विषय सदासे यही रहा है कि लोग आदर्श-च्युत न हो जायँ। व्यासजीके लिए यह चिन्ता स्वाभाविक थी—'आप अदृश्य भी नहीं रहते सामान्य मानव-नेत्रोंसे। सृष्टिकी मर्यादा यह है कि अमर पुरुष सामान्य जनोंके लिए अदृश्य रहें। वे केवल अधिकारी पुरुषोंको ही दर्शन दें।'

'कलापग्राम पूरा यही करता है।' सुभद्रका ध्यान अब इस तथ्यकी ओर गया—'मरु भी मुझे सदा दीखते नहीं थे। प्रतीप भी अब कदाचित् ऐसा ही करें।'

'मैं स्वयं भी ऐसा आचरण करनेको उचित मानता हूँ।' भगवान् व्यास बोले—'अबतक तो कोई कठिनाई नहीं थी। कुछ दिनोंतक आगे भी नहीं रहेगी। सतयुगसे द्वापरान्ततक देवता भी मानवोंके लिएदृश्य रहते हैं। प्रत्यक्ष मिलते हैं। वैसे अब देवताओंने पृथ्वीपर स्थायी निवास त्याग दिया है।'

'प्रतीपने बतलाया है कि देवता अब साङ्ग-अर्चा-विग्रहके रूपमें आराधना स्वीकार करते हैं।' सुभद्रने सुनी बात दुहरा दी।

'दिव्य-देह अमर-पुरुषोंके लिए भी अब यही उचित मार्ग है।' व्यासजी मानो मर्यादा ही स्थापित कर रहे थे।

'अर्थात् वे भी अर्चा-विग्रह बन जायँ ?' सुभद्र इस प्रकार व्यासजीको देखने लगा, जैसे सोच रहा हो कि ये पाषाण-प्रतिमा बन गये तो पहचानमें आवेंगे या नहीं।

'अर्चा-विग्रह तो उन्हें बनना है, जिन्हें मानवकी आराधना स्वीकार करनी है।' व्यासजीने अभिप्रायका स्पष्टीकरण किया—'अन्य अमर-पुरुषोंको अदृश्य रहना चाहिये। वे केवल अधिकारी व्यक्तिके सम्मुख अल्पकालको प्रकट हो सकते हैं।'

'मुझे तो पृथ्वीपर चतुर्युगी व्यतीत करनेका शाप है।' सुभद्रने कहा—'दो युग मैं देख चुका। अब अदृश्य बन जाऊँ तो उस शापकी सार्थकता होगी ?'

'नहीं होगी। व्यासजीने स्वीकार किया; किन्तु उन्होंने दूसरी बात कही—'आपको अपने देहकी आसक्ति तो है नहीं। इसी रूपमें आप धरापर बने रहें, ऐसा आग्रह रखनेका कोई कारण है ?'

'मेरा तो कोई आग्रह नहीं है।' सुभद्रका सचमुच आग्रह कहाँ रहा कि वह इसी रूपमें बना रहे – 'कन्हाईको जो अच्छा लगे, मुझे वह स्वीकार रहा है सदा।'

'वे आपकी इच्छा न होनेपर कुछ नहीं करेंगे आपके सम्बन्धमें।' व्यासजीने अब्र देरतक नेत्र बंद करके ध्यान करनेके पश्चात् कहा—'जबतक आप ही देह-परिवर्तनकी इच्छा नहीं करेंगे, काल आपका स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं होगा। आपके सखा केवल आपके अनुकूल व्यवस्थाकी चिन्ता करते हैं।'

'यह मैं जानता हूँ।' सुभद्र सोल्लास बोला—'कन्हाईको सदा अपनोंकी चिन्ता रहती है। उसकी व्यवस्थापर अपनेको छोड़कर कोई भी निर्भय, निश्चिन्त रह सकता है। आप अपना कोई कार्य उसपर छोड़ दे सकते हो। निश्चिन्त रह सकते हो कि वह कार्य अपूर्ण नहीं रहेगा।'

'वह सर्वाधिक परिपूर्ण होगा।' व्यासजीने देखा कि सुभद्रको अपने सखाका सुयश सुनानेका अवकाश दिया गया तो मूल समस्या धरी रह जायगी। अतः बीचमें ही बोले—'लेकिन अपनी ओरसे उनकी सेवाका पूरा प्रयत्न करना मुझ-जैसे सेवकोंका कर्तव्य है। मैं तो आपसे निवेदन कर रहा था कि आपको यदि आगे भी सदेह ही संसारमें रहना है

तो आप शरीरोंके परिवर्तित होते रहनेकी इच्छा क्यों न करें ? आपकी इच्छानुसार ही तो शरीर-परिवर्तन होना है ।'

'यह तो अच्छी बात है ।' सुभद्रको अच्छा लगा—'मैं अभी इस देहका त्याग करूँ ? कौन-सा शरीर मुझे आगे स्वीकार करना है ?'

'अभी नहीं ।' व्यासजीने शीघ्रतापूर्वक कहा । वे घबराये कि अतिथिके अग्नि-संस्कारका दायित्व पड़ेगा और देह-त्यागकी प्रेरणा देनेका पाप भी लग सकता है । पता नहीं, भक्तवत्सल मयूरमुकुटी इसे किस रूपमें लें । वे असंतुष्ट हो गये तो अपना अमरत्व भी अर्थहीन हो जायगा ।

'आपका कोई प्रारब्ध नहीं है, जिससे विवश आपको जन्म लेना पड़े ।' व्यासजीने अनुरोधभरे स्वरमें कहा—'आप तो केवल अपने शरीरसे उपरत हों । आपके सखा स्वयं आपके अनुकूल-परिवर्तनका संयोग उपस्थित करेंगे ।'

'मेरा प्रारब्ध तो है ।' सुभद्र बोला—'कन्हाईकी इच्छा ही मेरा प्रारब्ध है । मैंने कब अस्वीकार किया कि वह मनमाना परिवर्तन नहीं कर सकता ।'

भगवान् व्यासने बोलना उचित नहीं समझा; लेकिन उनकी बातने सुभद्रके मनमें संकल्प जगा दिया । अबतक उसने शरीरको लेकर कभी सोचा ही नहीं था । शरीरकी सुविधाके सम्बन्धमें भी, 'कन्हाई करेगा' सोचकर सदा निश्चिन्त रहा है । अब उसके मनकी विचारधारामें एक परिवर्तन आया । वह सोचने लगा—'यही शरीर क्यों ?'

'यह भी कोई बात है कि मैं न जाने कबसे संसारमें हूँ और कन्हाई साथ नहीं है ।' सुभद्रको अपने-आपपर ही क्रोध आया—'श्यामके साथ खेलनेका, रहनेका अवसर नहीं है और मैं व्यर्थकी यात्रामें लगा हूँ । क्यों है यह शरीर मेरे साथ ? इसका क्या उपयोग ? उन सब यात्राओं और कार्योंका क्या अर्थ जो मैंने अबतक किये है ?

सुभद्रसे कौन कहे कि त्रिभुवनमें किसीके किसी कार्यका कोई अर्थ इसके अतिरिक्त नहीं है कि वह क्रीड़ामय सर्वेशकी क्रीड़ाका एक क्रीडनक है । उन्हींकी इच्छासे संचालित । उन्हींकी संतुष्टिके लिए उसका अस्तित्व है । सुभद्र तो अपनी विचारधारामें निमग्न उठा । भगवान् व्याससे उसने अनुमति ली और उस शम्याप्राससे अलकनन्दाके तटके सहारे नीचे दक्षिणकी ओर चल पड़ा ।

सरल समर्पण—

अकेला सुभद्र ही नहीं है, जो यह नहीं जानता कि उसका गंतव्य कहाँ है और चल पड़ता है। जिसकी क्रियाका क्या उद्देश्य है, यह उसको पता नहीं होता। सभी ऐसे ही हैं। अन्तर केवल यह है कि सुभद्र यह अहंकार नहीं पालता कि मैं जानता हूँ। दूसरे जहाँ मानते हैं कि वे कर सकते हैं, वे सब जानते हैं, अपनी क्रियाका दायित्व वहन करते हैं। सुभद्र कहता है—'कन्हाई चपल है। उससे चुप बैठा नहीं जाता। वह स्वयं करता है और दिखाता ऐसा है कि दूसरे कर रहे हैं। मैं न कुछ करता, न कभी करूँगा। लेकिन कन्हाईका हाथ नहीं रोकूँगा। उसे जो कराना हो, कराता रहे।'

इस प्रकार जिसकी जीवन-यात्रा चल रही है, उसे कब कहाँ उसके पैर पहुँचा देंगे, कोई भी कैसे कह सकता है। इसी क्रममें वह एक दिन एक गृहस्थका अतिथि हो गया। अतिथि-सत्कार भारतीय गृहस्थका सर्वश्रेष्ठ धर्म, अतः सुभद्रका स्वागत-सत्कार तो होना ही था।

'स्मिता' गृहपतिके सम्बोधनसे ही सुभद्रने उनकी पुत्रीका नाम जान लिया। अन्यथा बहुत कठिन था यह भी जानना। पिताकी किसी बातका उसने बहुत मन्द स्वरमें उत्तर दिया, केवल इससे जाना जा सका कि वह मूका नहीं है। अन्यथा वह तो जैसे बोलना जानती ही न हो। कुछ पूछो, केवल पलकें उठाकर देख लेती थी अथवा सिर झुका लेती थी। इतनी संकोचशीला कन्या भी होती हैं, यह सुभद्रको पहला अनुभव हुआ।

'यह अपने अभावकी, कष्टकी कभी चर्चा नहीं करती।' पिताने ही पुत्रीके सम्बन्धमें सुनाया—'कई बार पूछनेपर तब कठिनतासे इसका अभिप्राय पता लगता है।'

'यह बोलती भी है?' सुभद्रने व्यंग्य किया—'मैं तो समझ रहा था कि सृष्टिकर्ता इसे वाणी-वितरण विस्मृत ही हो गये।'

'लेकिन किसी गृहमें इसका निर्वाह कैसे होगा?' पिताकी चिन्ता उचित थी। अब सतयुग तो नहीं था कि गृहस्वामिनी एकाकी उटजमें रहेगी और पति तपस्या करते रहेंगे। अब तो प्रायः बड़े गृह, बड़े परिवार प्रतिष्ठा पाते हैं। उनमें गृहस्वामिनी एकाकी कहाँ रहती है। सपत्नियाँ न हों तो

भी ज्येष्ठा-कनिष्ठाएँ अनेक होंगी। उनमें मूक बने रहनेसे निर्वाह कैसे सम्भव है।

'वैसे श्रमशीला है।' पिताने पुत्रीकी प्रशंसा की—'निपुण है गृहके कार्योंमें और अपनी सहेलियोंमें सम्मानिता भी।'

सुभद्र इस प्रशंसासे सावधान हो गया। अतः उसने गृहपति कोई अन्यथा आशा करें, इससे पूर्व ही कहा—'अल्पभाषिणी होना कन्याके लिए सद्गुण ही होता है। आपको उत्तम पात्र पानेमें कठिनायी नहीं होगी। इसे आप मुझ नैत्रिक ब्रह्मचारीका वरदान भी मान सकते हैं; किन्तु आपकी पुत्रीको वही पा सकता है, जिसे ये स्वयं स्वीकार करें।'

'आप नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका निर्णय कर चुके हैं ?' गृहपतिका स्वर कहता था कि उन्हें सचमुच निराशा हुई है।

'इस जीवनके लिए।' सुभद्रने संक्षिप्त उत्तर दिया। गृहपतिको यह उत्तर भी उसने इसलिये दिया; क्योंकि भगवान् व्यासका संदेश विस्मृत नहीं हुआ है—'देह तो परिवर्तित होना है और पता नहीं, कन्हाई कब इसका निमित्त उपस्थित करे।

'कनका !' यह सम्बोधन करते-करते सुभद्र रुक गया। उसे स्मरण आया कि हेमाने ऐसे सम्बोधनका प्रतिवाद किया था। आवश्यक तो नहीं है कि इसे अपना नाम स्मरण ही हो। इस समय गृहपति समीप नहीं थे। सुभद्रको विनोद सूझा। उसने पूछ लिया—'तुम्हारा नाम स्त्रुवा है ?'

उस कन्याने केवल सिर उठाकर एक बार देखा। उसके मुखपर हास्य आ गया। सुभद्र बोला—'हाँ, अब ठीक है। अब तुम अपने स्मिता नामको सार्थक करती लगीं। मैं तो समझा था कि तुम केवल मूक आहुति देना जानती हो।'

'आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी बात क्यों कही ?' इस बार कन्याने नेत्र भरकर पूछा।

'तुम प्रतीक्षा कर रही थीं ?' सुभद्रने उत्तर देनेके स्थानपर प्रश्न ही किया; किन्तु उसे केवल सिरके संकेतसे स्वीकृति सूचित की गयी। उसने फिर पूछ लिया—'तुम्हें अपने वास्तविक नामका पता है ?'

'वही जो आप पुकारते-पुकारते रह गये।' सुभद्र भी चकित रह गया इस उत्तरसे। इस अत्यधिक मौनामें इतनी क्षमता है, यह तो उसने अनुमान भी नहीं किया था।

'आप यह भी पूछेंगे कि मैं किसकी प्रतीक्षा कर रही थी !' उसने साश्रुनेत्र कहकर घुटनोंमें सिर छिपा लिया। रुदनके स्वरहीन वेगसे उसका शरीर कम्पित होने लगा।

'कनका ! समझनेका प्रयत्न करो।' सुभद्रका स्वर स्नेह, सहानुभूति-से आर्द्र हो उठा—'अभी द्वापरका आरम्भ हुआ है। मुझे कलियुगतक धरा-पर रहना है। तुम-सबको समेटनेका कार्य तो मैं यहाँके अन्तिम जीवनमें करूँगा।'

'इस जीवनमें ?' बहुत मन्द स्वर और असीम उत्सुकताभरे उठे नेत्र।

'मेरे और भी प्रतिबिम्ब धरापर आये हैं।' इस बार सुभद्र गम्भीर हो गया—'तुममें-से जो जहाँ है, जब आवश्यकता होगी, उसे उनमें-से कोई सँभाल लेगा। इसमें आकुल होनेकी तो कोई बात नहीं है। तुम जानती हो कि कन्हाई कभी तुम्हें भूल नहीं सकता।'

आपके अनुज तो बहुत भरोसा करनेयोग्य हैं।' कहकर भी वह मुस्कुरा गयी। उसकी प्रीति-विश्वास उसकी मंङ्गीके एक-एक कणमें मूर्त हो उठा। भले शब्दोंमें व्यंग्य-प्रतिवाद था।

'कन्हाईपर भरोसा करके निश्चिन्त रह सकती हो।' सुभद्र दूसरा कुछ कहनेकी स्थितिमें नहीं था।

'सुनिये ! मुझे कोई प्रतिबिम्ब नहीं चाहिये।' स्मिता बहुत स्थिर-स्वरमें, मस्तक उठाकर बोली—'मुझे आपके दर्शन हो गये। आपका यह सांनिध्य मेरी स्मृतिमें शाश्वत रहेगा। मुझे कोई और आश्रय अपेक्षित नहीं है। आप दया करके मुझे दूसरी कोई आज्ञा अब मत देना।'

द्वापर आ गया है। त्रेतामें ही कितना विषम वातावरण बन गया था, सुभद्र देख चुका है। श्रीरामने कैसा धर्मराज्य स्थापन किया, यह सुभद्र जानता नहीं। हेमा त्रेतामें ही आश्रयहीना होकर कितनी दयनीया बन गयी थी, यह सुभद्रको स्मरण आया। यह भी स्मरण आया कि स्मिताके पिता पर्याप्त वृद्ध हैं।उनका शरीर बहुत दिन बना रहे, इसकी सम्भावना नहीं है। स्मिताकी माता पहले ही परलोकगामिनी न हो चुकी होंतीं तो भी पतिके पश्चात् रहना तो स्वीकार नहीं करतीं। अकेली स्मिता—वह अन्ततः एकाकिनी तो हो ही जायगी। तब ?

लेकिन सुभद्रका स्वभाव चिन्ता करना नहीं है। उसे स्मितासे भी कुछ कहना उचित नहीं लगा। उसके स्वभावका सहज विश्वास जागा—

'जो इतनी सुस्थिरा है, इतनी सहज समर्पणमयी है, उसे कन्हाई सँभालनेमें प्रमाद करेगा ? कन्हाई सँभाले उसके लिए सृष्टिमें कहीं, कभी संकट सम्भव है ? युग और काल क्या कर लेंगे उसका ?'

'तुम ठीक हो। कन्हाई तुम्हें सँभाल लेगा !' सुभद्रने आश्वासन दे दिया। उसने ध्यान नहीं दिया कि अकस्मात् परा वाणी जाग्रत् हो गयी थी और पराका स्वर सार्थक अन्यथा हो जाय, इतनी सामर्थ्य तो सृष्टिकर्तामें भी नहीं है।

'आप आहार-ग्रहण करें।' स्मिता स्वस्थ चित्त उठी। पिता कुछ अतिरिक्त पदार्थ ही लेने गये थे—गृहमें आये। उन्हें पुकारना तो कदाचित् ही पड़ता है। उनकी पुत्री व्यवस्थामें कभी प्रमाद नहीं करती।

सुभद्र यहाँ आकर अब सोचने लगा है कि उसे किस ओर जाना है। अबतक तो कभी उसने यह विचार ही नहीं किया था। लेकिन पता नहीं क्यों रात्रिमें उसके मनमें यह संकल्प उठा। प्रभातमें उसने गृहपतिसे वाराणसीका पथ पूछा। प्रतीपसे वाराणसीका वर्णन सुनकर सम्भवतः मनमें वहाँ पहुँचनेकी कोई सूक्ष्म इच्छा तब उठी होगी।

'आप वाराणसी पधारेंगे !' गृहपति प्रसन्न हुए—'वह भगवान् विश्वनाथकी पुरी सुरसरिके तटपर ही। प्रयागका तीर्थस्थान आपको पहले ही प्राप्त होगा।'

'महाराज पृथुकी राजधानी ब्रह्मावर्त, प्रियव्रतकी राजधानी बर्हिष्मती और पुरूरवाकी प्रतिष्ठानपुरीकी अब क्या अवस्था है, यह देखता जा सकूँगा।' अनेक बार मनमें अकारण ही पूर्वपरिचित स्थानों या व्यक्तियोंकी स्थिति जाननेकी उत्कण्ठा उठती है। प्राचीनसे निर्मम हो जानेपर भी उनका कुछ आकर्षण शेष रह ही जाता है।

'ये सब तीर्थ हैं।' गृहपतिने कहा—'सुना है कि प्रतिष्ठानपुरी और वाराणसी अब भी महापुरी हैं। इनका वैभव अभी अक्षुण्ण है; किन्तु ब्रह्मावर्त और बर्हिष्मती तो केवल तीर्थ होनेसे किसी रूपमें शेष हैं। अपने भूतकालकी स्मृतिमात्र कराती हैं। अब वहाँ पुण्यकाम यात्रियोंका पदार्पण ही उनको बनाये हुए है।'

केवल तीर्थ-यात्राकी श्रद्धा सुभद्रमें भी नहीं थी; किन्तु उसे पर्यटन करना ही है तो तीर्थ छोड़ क्यों दे और उन दिनों सरिता-तट छोड़कर यात्रा

करना तो अनेक समस्याएँ उत्पन्न करता था। नगर-ग्राम अधिकांश सरिता-तटपर ही थे।

सुरसरिका पावन तट वैसे भी सघन बसा है। द्वापरसे पूर्व ही महाराज भगीरथके प्रयत्नसे भागीरथी धाराने पर्वतीय क्षेत्रमें ही अलकनन्दा-को अपनेमें मिला लिया था। अब तो तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुना स्नान-का सुयोग था। सुभद्रके मनमें इस स्थलके दर्शनकी भी इच्छा होना स्वाभाविक था।

सुभद्र केवल एक दिन रहा था इस गृहमें। स्मिताकी बात छोड़ देनी चाहिये; लेकिन गृहपतिको भी वह अपना आत्मीय लगा था। उसे विदा करने गृहपति दूरतक साथ गये। बहुत आग्रह करनेपर लौटे।

'अतिथि चले गये।' लौटकर गृहपतिने द्वारपर स्थिर खड़ी पुत्रीसे स्वयं कहा।

'वे परिव्राजक हैं।' इतना कहकर वह शीघ्रतासे अपने कक्षमें चली गयी। उसकी वेदना, दूसरा कैसे समझ सकता है।

आज सुभद्र भी अपने कन्हाईको ही सोचता चला जाय, ऐसा नहीं हुआ था। पहली बार उसका मन कुछ और भी सोचने लगा था। वह सोच रहा था—'स्वर्णा कितनी सुप्रसन्न मिली थी और हेमा कितनी असहाया हो गयी थी। उसमें कन्हाईपर आस्था क्यों नहीं जागी? उस मुनिके आश्रयने उसे निश्चिन्त किया और यह कनका—यह अपने-आपमें स्वस्थ है।'

इसी क्रममें मनने यह संकल्प भी उठाया ही—'हिरण्या और काञ्चनाका क्या हुआ? वे धरापर आयीं भी या नहीं? कहीं होंगी, कन्हाई उनकी चिन्ता कर लेगा।'

सुभद्रकी वृत्ति ही है कि इधर-उधर भटककर भी अपने कन्हाईके पास पहुँच जाती है। उसे पता है कि शुभ्रा भी पृथ्वीपर आयी है। उसका स्मरण भी आया; किन्तु सबको ही तो श्यामको सँभालना है। वह किसीकी चिन्ता करके भी क्या करेगा।

सुभद्रको उसकी नियति अथवा उसका कन्हाई उसी ओर ले जा रहा है, जहाँ उसे पहुँचना है। जहाँ उसको कोई परिणति प्राप्त करना है। न जानकर भी सुभद्रकी इसमें आस्था है।

साकार सात्त्विकता—

अतिथि होना सुभद्रको प्रिय नहीं है। वह अधिकांश सुरसरिके तट-पर रात्रि-शयन करता है। वृक्षोंमें फल हों तो अन्नाहारकी अपेक्षा होती ही नहीं। कहीं भी अतिथि होनेके लिए उसे कारण अपेक्षित होता है। ये कारण हैं—आतिथेयका अत्याग्रह, स्थानकी अतिशय सुरम्यता, अथवा किसी पूर्व-संस्कार-सम्बन्धका आकर्षण।

अब सब कारण एकत्र हो गये थे। सुरसरिके समीप ग्रामसे सटा होकर भी पृथक् वह एकाकी गृह बहुत स्वच्छ, शान्त, सुरम्य लगा उसे। पुष्प, तुलसीके वीरुध और बिल्व, आँवलेके वृक्ष—जैसे गृहपतिने सब उपासनाका ही सम्भार एकत्र किया हो। सुरभित, सुरंग सुमनगुच्छ लिये स्वागत करती-सी सुकुमार लतिकाएँ।

सुभद्रको लगा कि कोई अज्ञात आकर्षण भी वहाँ उसका आह्वान कर रहा है। इतनेपर भी कदाचित् वह उपेक्षा करके आगे बढ़ जाता; किन्तु जब जाह्नवी-स्नान करके मध्याह्न संध्या समाप्त की उसने, उसके सम्मुख एक कृशकाय, गौरवर्ण, गम्भीर तेजस्वी अञ्जलि बाँधे समुपस्थित मिले—'भगवन्! समीप ही गृह है। आजके आतिथ्यका सौभाग्य इस जनको मिले और इसका उटज चरण-रजसे पावन हो। इतने अनुग्रहकी आशा लेकर आया हूँ।'

'अच्छा!' सुभद्रने अस्वीकार नहीं किया। इतना विनम्र आग्रह और अतिथि-वेलामें किसी गृहस्थका आग्रह अस्वीकार कर दिया जाय तो वह पूरा परिवार उपोषित रह जा सकता है, इस तथ्यसे सुभद्र अनभिज्ञ तो नहीं था।

गृह-स्वामिनी जैसे स्वागतको समुद्यत प्रतीक्षा ही कर रही थीं। उन्होंने अर्घ्य अर्पित करके पुकारा—'स्निग्धा! अतिथि पधारे हैं!'

जो कुमारी माताकी पुकार सुनकर आयी, लगता था कि वह अकुलाहटमें आयी है। थोड़ी अस्त-व्यस्त; किन्तु शान्त, सरल, सात्त्विक।

'भद्रे! लगता है कि तुम कुछ आवश्यक अपूर्ण छोड़ आयी हो!' सुभद्रने ही कहा, 'उसे सम्पूर्ण कर लो! मैं तो अब आ ही गया हूँ; अतः

कोई शीघ्रता नहीं है। आहार-ग्रहण करके भी आतप शीतल होनेपर जाऊँगा।'

'कुछ विशेष तो अपूर्ण नहीं है।' उसने तत्परतापूर्वक प्रतिबाद किया और पाद्य अर्पित करने लगी।

'यह अपनी आराधनासे उठकर आयी है।' उसकी माताने कहा— 'सम्भवतः आर्तिक्य शेष होगा।'

'किसकी आराधना?' सुभद्रने सहज पूछ लिया।

'श्रीरघुनाथजीकी।' माताने ही उत्तर दिया।

'नीराजनमें मैं सम्मिलित होनेका अधिकारी हूँ?' सुभद्रने जिज्ञासा की।

'हाँ, आइये!' वह कुमारी प्रसन्न हो गयी। गृह-स्वामिनी भी संतुष्ट हुईं। गृहपति सबको लेकर आराधन-कक्षमें गये। एक पृथक् कक्ष—उसे मन्दिर कहना अधिक उपयुक्त होगा। सिंहासनपर सुसज्ज श्रीसीतारामका अर्चा-विग्रह। सम्पूर्ण सम्भार ऐसा, जैसे सात्विकता साकार हो गयी है।

श्रुतिका एक महावाक्य उस कक्षके द्वारपर ही अङ्कित सुभद्रने देख लिया था। गृहपतिकी निष्ठा, स्थिति, अभिरुचिका परिचय पानेके लिए वही पर्याप्त था।

नीराजन सुभद्र करे, यह आग्रह किया गृहपतिने; क्योंकि उसने कक्षमें आकर जिस श्रद्धा, सावधानीसे भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम किया था, उससे सब प्रायः अभिभूत थे; किन्तु सुभद्रने इसे स्वीकार नहीं किया। गृहपतिने नीराजन किया। सबने स्तवन किया और पुष्पाञ्जलि अर्पित की।

'अतिथि आराध्यकी ही प्रतिमूर्ति है।' सुभद्रने आग्रह किया कि गृहपति उसके साथ प्रसाद-ग्रहण करें; किन्तु यह आग्रह स्पष्ट अस्वीकृत हो गया—'आपके नैवेद्य-ग्रहणके अनन्तर सब प्रसाद प्राप्त करेंगे।'

विश्रामकालमें सब समीप आ बैठे थे। शीघ्र स्पष्ट हो गया कि परिवार ही परमार्थ-काम है। अर्थ, काम ही नहीं, स्वर्गकी स्पृहा भी किसीका स्पर्श नहीं करती। सब अध्ययनशील और भगवच्चर्चा सुननेको समुत्सुक। सुभद्रने अनुमान कर लिया कि गृहपति आत्मतत्त्वके मनन-निदिध्यासनमें रुचि रखते हैं। गृह-स्वामिनी पति तथा कन्या—दोनोंके प्रति समान हैं। अतः वे उपनिषद्का भी श्रवण कर लेती हैं और उसी तत्परतासे

रामकथाका भी। वैसे उनके आराध्य तो उनके प्रत्यक्ष पतिदेव हैं। पतिव्रताके लिए इतना परम पर्याप्त नहीं है, यह कहनेका तो किसीमें साहस नहीं।

'आराधनाका प्राण हैं आराध्यके प्रति आत्मीयता।' सुभद्रने स्निग्धासे सीधे कहा—'सार्वजनिक सर्वेश्वर किसीके तभी समुद्धारक होते हैं, जब वे उसके अपने कुछ हो जाते हैं। श्रीरघुनाथसे तुम्हारा अपना कुछ सम्बन्ध है?'

'आपका क्या सम्बन्ध है?' उस कन्याने तो पहले कुछ लज्जापूर्वक मुख झुका लिया। लगा कि उसने अभी इस विषयपर कभी कुछ सोचा ही नहीं है; किन्तु दो क्षणमें मुख उठाकर उसने प्रश्न कर लिया।

'मैं इनके कुलमें उत्पन्न होनेकी कामना करता हूँ।' सुभद्रने बहुत गम्भीर होकर कहा—'वैसे काल्पनिक सम्बन्धमें मेरी आस्था नहीं है।'

'काल्पनिक सम्बन्ध?' गृहपतिने जिज्ञासा की।

'मुझसे भूल हुई। भावनात्मक कहना चाहिये।' सुभद्र सावधान हो गया। यहाँ बोलते समय उसे बहुत सावधान रहना चाहिये। गृहपति शास्त्रज्ञ ही नहीं हैं, श्रद्धालु-निष्ठावान् साधक हैं। उसने स्पष्ट किया—'अपनी ओरसे जो सम्बन्ध भावित किया जायगा, वह प्रीतिको प्रगाढ़ कर सकता है। विना अपनत्वके प्रेम नहीं होता, अतः अपनत्व आवश्यक है। लेकिन जबतक दूसरी ओरसे उसे स्वीकृति न मिल जाय, वह पुष्ट हो गया, कैसे यह मान लिया जाय?'

'कन्या किसीका वरण कर ले अपने मनसे तो यदि वह सत्पुरुष होगा तो उसे अस्वीकार नहीं करेगा।' गृहपतिने बहुत विनम्रतापूर्वक प्रतिवाद जो किया—'परमात्मा परम दयालु हैं। जो जिस भावको लेकर उनके समीप जाता है, उसके उस भावको स्वीकार कर ही लेते हैं।'

'आप अन्यथा नहीं कह रहे हैं।' सुभद्रने स्वीकार किया—'कन्हाईका यही स्वभाव है। उसके सम्मुख जैसे सिर या हाथ हिलाओ, वह उसीकी अनुकृति करता है। श्रीरघुनाथ तो शीलसिंधु संकोचीनाथ सुप्रसिद्ध ही हैं।'

'सम्बन्ध तो दीक्षाके समय गुरु सूचित करते हैं।' गृह-स्वामिनीने सरलभावसे कहा—'सम्बन्ध गुरुकृपासे प्राप्त होता है।'

'इसलिये गुरुको सर्वज्ञ होना चाहिये। जीवका जो वास्तविक सम्बन्ध दिव्य धाममें है, उसीकी भावना वह जगा देता है।' तब सबको एक ओरसे

एक ही मन्त्र-सम्बन्ध देकर सम्प्रदायकी संख्यावृद्धिका प्रचलन ही नहीं था। अतः सुभद्रको ऐसा कोई प्रतिवाद करना सूझ भी नहीं सकता था। सुभद्रने अपनी बात कही—'जहाँतक मेरी बात है, मैं अपने लिये मानता हूँ कि मैं कुछ बनता-बनाता नहीं। कन्हाईको—श्रीरघुनाथको जो भी बनाना हो, उन्हींको सूचित करना चाहिये।'

'यह स्वत्व, शक्ति, सौभाग्य सुदुर्लभ है। गृहपति विभोर भरे कण्ठ कह गये—'इतना प्रगाढ़ विश्वास प्राणीको प्राप्त कहाँ होता है?'

'आप आज ही चले जायँगे?' तनिक एकान्त मिलते ही स्निग्धाने बहुत स्नेहभरे स्वरमें पूछा।

'शुभ्रा! मैं आते ही तुम्हें पहचान गया हूँ।' सुभद्रने स्पष्ट कहा—'इस उटजके आकर्षणका जैसे ही अनुभव हुआ, मैंने समझ लिया था कि यहाँ अपना कोई होगा; किन्तु अभी द्वापर है।'

'मैं आपसे कहाँ कोई आग्रह कर रही हूँ।' उसने बहुत कातर-कण्ठसे कहा—'आपको रुकनेको नहीं कहती, केवल एक अनुरोध—वाराणसीकी ओर मत जाइये!'

'तुम मुझे बाबा विश्वनाथ और अम्बा अन्नपूर्णाके ही दर्शनसे वारित कर रही हो?' सुभद्रने आश्चर्यसे उसकी ओर देखा—'मैं तो चला ही उस अविमुक्तक्षेत्रकी यात्रा करने हूँ।'

'बाबा और अम्बामें मेरी श्रद्धा है। उन आशुतोषके पुण्यधामका दर्शन भी परम सौभाग्य; किन्तु' स्निग्धाका स्वर कातर हो उठा—'पता नहीं, क्यों मेरा मन किसी अमङ्गलकी आशङ्का करता है।'

'यह तुम्हारा शरीरके प्रति मोह है।' सुभद्रने तनिक झिड़कीके स्वरमें कहा—'कोई ऐसा स्थान है, जहाँ कन्हाई नहीं है? कन्हाई चाहे भी तो किसीका अमङ्गल कर सकता है? वाराणसी तो औढरदानीकी पुरी है। अम्बाका अपना शिशु उनके श्रीचरणोंके समीप जानेमें आशङ्का करेगा? वहाँ कोई इसका अमङ्गल करनेका साहस कर भी ले, सफल होगा या स्वयं दण्डका पात्र बन जायगा?'

'आपको समझा देनेकी शक्ति तो मुझमें नहीं है।' स्निग्धाके नेत्रोंसे दो बिन्दु टपक पड़े। स्पष्ट था कि उसे संतोष नहीं हुआ।

'सुनो, एक काम कर दो मेरा।' सुभद्रने उसका चित्त दूसरी ओर करनेके लिए, उसे शान्त बनानेके लिए बहुत आत्मीयताभरे स्वरमें

अनुरोध किया—'मैं प्रयत्न करूँ तो जान ले सकता हूँ; किन्तु मेरे लिये यह सिद्धि-प्रयोग कहा जायगा और प्रतिबन्ध बन सकता है। तुम मेरे कहनेसे ऐसा करो तो तुम्हारे लिये यह बाधक नहीं बनेगा।'

'बने भी तो मैं उसकी चिन्ता नहीं करती।' वह बोली—'आप अपनी कोई सेवा बतावें तो मैं उसे अपना प्रथम कर्तव्य मानती हूँ। क्या करना है मुझे ?'

'एक मुनिको भगवती योगमायाने पाषाण बननेका विधान करके गिरा दिया।' सुभद्रने बिना किसी भूमिकाके कहा—'वह कहीं इस भारत-भूमिमें ही पड़ा होना चाहिये। उसके अधःपातका मैं निमित्त बना। अतः उसका पता मुझे होना चाहिये।'

'इसलिये कि आप उसका समुद्धार कर सकें।' किंचित् स्मित आया अधरोंपर और वह उसी समय ध्यानस्थ हो गयी। दो क्षणमें ही दृग खोले उसने—'छिन्नमस्ता-पीठके समीप वह अर्चामूर्ति-बना स्थित है; किन्तु अत्यन्त दुर्बल मूर्ति है वह। स्थान भी घोर अरण्यमें दुर्गम है। आप वहाँ जायँगे ?'

'इस प्रकार वहाँ जाकर क्या करूँगा ?' सुभद्र भी उस समय कुछ सोच नहीं सका कि वह कैसे उस मूर्तीभूतका उद्धार कर सकता है। किसी अर्चामूर्तिको भङ्ग तो किया नहीं जा सकता। अपने-आपसे ही कह रहा हो, इस प्रकार बोला—'कहाँ समाधिनिष्ठ परम सात्त्विक मुनि और कहाँ छन्नमस्ताका तामस पीठ। रुधिरार्चन ही तो वहाँ उसे प्राप्त होता होगा। अहंकार योगका हो या सात्त्विकताका, कितनी विषम प्रतिक्रिया प्रकट करता है।'

गृहपति आ गये थे। सुभद्रको इस सम्बन्धमें अधिक सोचनेका अवकाश नहीं था। यह थोड़ा सोचना भी उसे इसलिये आवश्यक लगता था; क्योंकि कन्हाईने उसी समय उस मुनिकी चर्चा सुनना भी अस्वीकार कर दिया था। अतः यह ऐसा विषय आ पड़ा था, जिसे कन्हाईपर छोड़कर संतोष कर लेना सुभद्रको उचित नहीं लगता था।



प्रतिमा-प्रत्यभिज्ञा–

अनुकूल नहीं पड़ी वाराणसी सुभद्रको । सच तो यह है कि द्वापरका समूचा वातावरण उसको अनुकूल नहीं पड़ रहा था । वाराणसीमें अब सुर-धुनिका स्नान सुलभ था । बाबा विश्वनाथका सांनिध्य था । अन्नपूर्णा अपनी इस पुरीमें किसी विमुखको भी उपोषित नहीं रहने देतीं, सुभद्र तो अपनेको उनका स्तनंधय समझता है; किन्तु यह संशयशील समाज, इतने निष्ठाहीन लोग ?

प्रतिमा-पूजनको पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी वाराणसीमें । सुभद्रको यह समझाना नहीं था कि चेतन-तत्त्वका सत्कार बिना माध्यम बनाये सम्भव नहीं । प्रतिमा सम्यक् माध्यम है; क्योंकि कोई जीव-चेतन उसमें अर्पित अर्चा-को अपनी मानकर अहंकार करनेवाला नहीं है । शरीरोंकी अर्चामें यही एक बड़ी बाधा है ।

सुभद्र स्वयं प्रतिदिन जाह्नवी-स्नान करके विश्वनाथ-अन्नपूर्णाके अर्चनका व्रती बन गया था वापाणसी आनेके दिनसे ही । वस्तुतः यह सुयोग न होता तो वह यहाँ दो दिन भी नहीं रुकता; किंतु उसकी समझमें ही नहीं आता कि मनुष्य इतना निष्ठाहीन, र्वहिर्मुख क्यों है ?

भगवान् भोलेनाथका समाज कैसा है, सर्वविदित है; किंतु सुभद्रको भूत-प्रेत कभी भयानक नहीं लगे । वह उनमें शिष्टता, संयमकी आशा नहीं करता । वे सब अपने स्वभाव-परतन्त्र हैं; किंतु सुभद्रको तो उनसे सदा स्नेह मिला है । वह उनमें-से किसीको चिढ़ा भी दे तो वे केवल ताली बजाकर हँसेंगे । अन्ततः अम्बिकाके पुत्रका वे अतिक्रम तो कर नहीं सकते ।

'शिव-मन्दिरमें सबको सब ऊधम करनेका स्वत्व है ।,' आप सुभद्रकी इस बातसे असहमत हो सकते हैं; किंतु उसका तर्क है—'बाबाको भूत-प्रेत-पालना प्रिय है ।'

कोई चिल्ला रहा या झगड़ रहा है, अथवा पैर फैलाये पड़ा है, यह सुभद्रको अखरता नहीं । वह हँस देता है—'बाबाके समीप उनके गण स्वतन्त्र नहीं रहेंगे तो बेचारे स्वच्छन्द रहेंगे कहाँ ?'

भारतके जितने तीर्थ हैं, सब वाराणसीमें और सब देवता विश्वनाथ-पुरीमें—सुभद्र पहले दिन बहुत प्रसन्न हुआ था; किंतु यह क्या है ? एक

व्यक्ति अनेक देव-मन्दिरोंमें जाता है, यहाँतक तो विशेष बात नहीं; किंतु लोगोंकी अपनी अर्चामें भी देवमूर्तियोंकी भीड़ है। कहीं निष्ठा नहीं। सुभद्र जानता है कि भूत-प्रेत आचरणमें चाहे जैसे हों, उनकी निष्ठा अचल होती है और ये मनुष्य ?

वाराणसीके नगरपाल हैं—भैरवजी; अतः उनकी अर्चा समझमें आने-योग्य है; परन्तु ये प्रेतोंके स्थान, ब्रह्मपिशाचोंकी पिण्डियाँ ? वाराणसीमें मनुष्य अभीसे विश्वनाथसे विमुख होकर प्रेत-पूजक हो गया ?

आप सुभद्रका असंतोष समझ नहीं सकेंगे। जबतक कोई सुदृढ़ निष्ठा, सहज-सात्त्विकता और शरीरसे ही निष्काम न हो जाय, उसे निष्ठा-हीनता, राजस-तामस वातावरण और वासनाकी दुर्गन्धि व्याकुल नहीं करती।

सतयुगका साधन तप था, त्रेताका यज्ञ और द्वापरमें आकर प्रतिमा-पूजन साधन हो गया। तप भी राजस-तामस और सकाम होता हैं, यह सतयुगके मानवने जाना ही नहीं। श्रुतिने श्येनयाग-जैसे अभिचार (मारणा) प्रयोग भी प्रतिपादित किये हैं, यह अपनी वासना या द्वेष-पूर्तिको होगा, मनुष्यके मनमें ही नहीं आया। त्रेताके सामान्य जनोंने भी ऐसे प्रयोगोंको असुर-उत्पात-शमनका साधन ही माना था।

अब द्वापरमें आकर तो मनुष्य जैसे कामना-क्रीत हो गया। वह अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये प्रतिमा-प्रतिष्ठा और पूजन करने लगा। आस्था-हीन--संदिग्ध होनेसे आज इस देवताकी और कल उसकी अर्चामें लग गया। सुभद्रको यह मनुष्यका भटकाव बहुत अप्रिय है। वह कहता है—'साधन भी क्या कोई सांसारिक उपलब्धिके लिए होता है। साधन तो श्यामका सामीप्य पानेके लिए।'

सुभद्रको कोई कैसे समझा सकेगा कि द्वापर बहुत श्रेष्ठ युग है। मनुष्य भले अर्थ-कामपरायण हो गया; किंतु उत्कट कामनापूर्तिके लिए भी उपासनाका आश्रय लेता है। शास्त्र और सुरोंमें मनुकी संतानकी आस्था है। कलिमें इस आस्थासे भी हीन, पाप-परायण मनुष्य द्विपाद् पशु भी न रहकर पिशाच बन जायगा, यह उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था।

सुभद्रको संयोगवश प्रतिमा-प्रतिष्ठाके मर्मज्ञोंका सङ्ग प्राप्त हो गया। सहज कुतूहली होनेके कारण वह इस शास्त्रके अध्ययनमें रुचि लेने लगा।

प्रतिभाशाली विनम्रको विद्या देनेमें शिक्षक स्वयं उत्साही होते हैं। वाराणसी-में तो विद्वानोंके लिए अब भी अत्यन्त हेय माना जाता है विद्यार्जनके लिए आये व्यक्तिको अस्वीकार करना। कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति विद्या-पिशाच कहलानेकी कामना तो नहीं करेगा।

सुभद्रकी केवल इस रुचिने उसे वाराणसीमें रहनेपर विवश किया। वह मूर्तिशास्त्रके अध्ययनमें लग गया—बहुत समयतक लगा रहा। वैसे उसने केवल शास्त्रीय ज्ञानतक ही अपनेको सीमित रखा। उसकी अभिरुचि ही ललित कलाओंमें नहीं है। वह चित्राङ्कन, संगीत, नृत्य, वाद्यको स्त्रियोचित कला कह देता है, इसी प्रकार तक्षण (मूर्ति निर्माण) को तो नहीं कह सका; किंतु स्वयं उसने काष्ठ या मृत्तिकाकी भी मूर्ति बनानेका मन नहीं किया। अवश्य उसे व्यावहारिक विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए निर्माताओंकी कर्मशालामें निरीक्षणकी सुविधा प्राप्त करनी पड़ी।

अब तो इस शास्त्रकी ही समाप्ति हो गयी। अन्यथा प्रतिमाके उपयुक्त शिलाका चयन होनेपर पाषाण-परीक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। शिलाके भीतर रेणुका, विष, जल, छिद्र या अस्थि-प्रभृति न हो, इसका पता शिलाको तोड़े बिना लगना चाहिये। निश्छिद्र, शुद्ध शिला ही प्रतिमा-निर्माणके उपयुक्त है। यह पता विविध औषधीय लेपोंके बिना नहीं लग सकता था और लेपोंमें वर्ण-परिवर्तन, मण्डलादि आकृति बनानेसे जो ज्ञान होता था, वह प्रत्यक्ष अनुभवकी अपेक्षा करता था।

सुभद्र साङ्ग श्रुतिका अध्येता था। अतः उसे आश्चर्य नहीं हुआ कि प्रतिमा-निर्माण भी सकाम सम्भव है और मारणादि अभिचारोंके लिए भी होता है। प्रतिमाके स्थापन-स्थान, आकार-भेदसे ये उद्देश्य सिद्ध होते हैं।

'शास्त्र निष्ठाका समर्थक है।' सुभद्र इस अध्ययनसे भी अपने इसी निर्णयपर पहुँचा; क्योंकि प्रत्येक देवताके सात्त्विक, राजस, तामस स्वरूप हैं। भगवान् विष्णुकी मूर्ति भी मारण-जैसे घोर-कर्मके लिए स्थापित-पूजित हो सकती है। केवल किंचित् अन्तर आकारमें आता है। प्रतिष्ठा, पूजन-पद्धति, अर्चा-सामग्रीमें तो अन्तर आना ही है।

'जब अपना आराध्य सर्वसमर्थ है, सब प्रयोजनोंकी पूर्तिमें सक्षम है, शास्त्रमें उसकी कामनानुरूप प्रतिमा-प्रतिष्ठाका विधान है, मनुष्य अन्याश्रय क्यों ढूँढ़ता है ? सुभद्रने एक वृद्ध विद्वान्‌से एक दिन पूछा।

'संशय-वृत्तिके कारण। अविश्वासी होनेके कारण।' विद्वान्‌ने सूत्र सुना दिया—'अपनी कामनापूर्तिका अत्यन्त आग्रही होनेके कारण।'

'इन सबोंको कन्हाई प्रिय नहीं है, प्रेत प्रिय हैं!' अनेक बार सुभद्र झल्ला उठता है—'इन्हें सहज शान्तिकी सुधा अपेक्षित नहीं है; गरल पिलानेवाला चाहिये।'

'कितना क्रूर विधान है इस कर्मका भी।' सुभद्र ठीक नहीं कहता, यह आप कह सकेंगे? वह कहता है—'इसे उपासना नाम दे दिया गया है; किंतु इसमें इष्टके समीप आसन पाना है कहाँ? विधि पूर्ण होनी चाहिये। विधि जाननेका भी दायित्व कर्तापर। विधिमें किंचित् त्रुटि हुई तो दण्ड और सब ठीक हो जाय तो लाभ? देवता आराधकको अपना दास बना लेगा। उसकी कामनाको आँख बंद करके 'एवमस्तु' कह देगा। यह देखेगा ही नहीं कि आराधक तो अल्पज्ञ है, अपनी हानि-लाभ समझता नहीं।'

'अज्ञताके कारण ही तो क्षुद्र देवशक्तियोंका आश्रयण करता है मनुष्य।' एक बहुत वृद्ध विद्वान्‌ने समझाया—'अन्यथा नारायणका सखा नर दूसरेकी शरण क्यों ले? इसे तो अपनी बुद्धिका गर्व है। देवशक्तिको केवल सेवक बनाना चाहता है। अपनी अर्चाके बलपर देवताको वशमें करना है इसे। तब देवता यदि दास बना ले, अनौचित्य कहाँ है। वह अर्चककी प्रवृत्ति ही नहीं, बहुत-कुछ आकृतितक अपने शील-स्वरूपके समान परिवर्तित कर लेता है।'

'कन्हाई बहुत कुतूहली है।' सुभद्र सदा झल्लाता नहीं। अनेक बार खुलकर हँसता है—'इतने मुखौटे बना लिये अपने और इन अटपटे देव-देवी-मुखौटोंके पीछे कोई नटखट छिपा हँसता है, यह कोई नहीं देखता। प्रतिष्ठा, पूजनका इतना श्रम करो और वह कुछ तुच्छ, व्यर्थ वस्तु पकड़ाकर अँगूठा दिखा देता है।'

सुभद्र क्यों पड़ा इस पचड़ेमें? आप आज यह पूछ सकते हो; क्योंकि आज विद्या भी सप्रयोजन चाहिये। लेकिन अभी थोड़े वर्षों पूर्वतक विद्या-का प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन था। ऐसा न होता तो देशमें संस्कृत-व्याकरण-का इतना व्यापक अध्ययन-अध्यापन हो पाता? पूरेका-पूरा जीवन व्याकरणके ही अध्ययनमें लगानेवाले विद्वानोंकी चर्चा भी सुनी जाती?'

व्याकरण क्या भाषा-ज्ञानका माध्यममात्र नहीं है ? इस शास्त्रका भी कोई बहुत बड़ा प्रयोजन आपको पता है ?

विद्या केवल ज्ञानके लिए। सुभद्रने बहुत पहले महर्षि अत्रिसे जो अध्ययन किया था, वह भी ऐसा ही निष्प्रयोजन था, जैसा इस समयका अध्ययन। लेकिन कोई काम अधूरा करना उसे स्वीकार नहीं। इसमें अपवाद आये साधन; किंतु वह आगेकी बात है। शरीर-परिवर्तनके साथ कुछ स्वभाव-परिवर्तन भी तो होता है। इस समय तो सुभद्र जुटा था मूर्ति-शास्त्रका अध्ययन करनेमें।

बहुत समय लगा। बहुत विस्तृत शास्त्र है। एक-एक देवताके शतशः स्वरूप-भेद। केवल शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मका करोंमें क्रम-परिवर्तन करनेसे भगवान् विष्णुके नारायण, वासुदेव, गोविन्दादि भेद हो जाते हैं। शालग्राम-शिलामें तो लक्षण-भेदसे सब देवता आ जाते हैं। देव-मन्दिरमें कच्छप-स्थापनसे लेकर मुख्य देवताके अनुरूप निश्चित स्थानोंपर परिकर-पार्षदादिका न्यास।

मूर्तियाँ भी केवल शिलाकी ही तो नहीं होतीं। काष्ठ, धातु, मृत्तिकामयी, मणिमयी। लेप्या और लेख्या (चित्रमयी) भी। यन्त्र तो मन्त्रमयी मूर्ति है। इनके न्यास, पूजन--बहुत विस्तार है सबका।

सामान्य मनुष्यके लिए एक जीवनमें सब देवताओं-सम्बन्धी इस शास्त्रका अध्ययन सम्भव नहीं है। सुभद्र श्रुतिधर है। एक बार सुनना पर्याप्त और दूसरा कोई काम नहीं उसके समीप। दीर्घकालतक इस अध्ययनमें उसने अपनेको निमग्न रखा। इस ओर तल्लीन होगया तो जन-सम्पर्क छूटा। लोगोंकी संशयशीलतासे होनेवाला उद्वेग गया।

इतना अध्ययन और निष्प्रयोजन। उसने आगे भी किसी मूर्ति-प्रतिष्ठामें कोई सहयोग नहीं दिया।



दौर्बल्यका दण्ड--

अभी अपने आह्निक कर्मसे सुभद्र निवृत्त ही हुआ था कि अचानक एक व्यक्तिने आकर उसके चरण पकड़ लिये--'आप मुझपर कृपा करें--आप संत हैं, समर्थ हैं।'

'आपको किसने कह दिया कि मैं संत हूँ।' सुभद्र चौंका। ऐसी स्तुति सुननेका तो उसे अभ्यास नहीं है। उसने आगतको आदरपूर्वक उठाया—'मैं भी आपके समान सामान्य मानव हूँ; किन्तु आपकी समस्या क्या है?'

'मेरी कन्या बोलती ही नहीं है।' उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'जन्मसे एक शब्द भी वह नहीं बोली है। आप अनुग्रह करें तो....।'

'वह सुन सकती है?' सुभद्र चिकित्सा-शास्त्रका ज्ञाता है। जानता है कि गूँगा व्यक्ति कहीं सहस्रमें कोई होता है। दोष कर्णेन्द्रियमें होता है। वह सुन नहीं पाता। इसीसे गूँगा प्रायः वधिर भी होता है।

'वह सुनती है, समझती है, कहा हुआ करती है।' उस व्यक्तिने कहा 'केवल बोलती नहीं ओर किसी पुरुषको न स्पर्श करती—न करने देती। शिशु थी तब भी मैं उसे अङ्कमें उठाता था तो रोने लगती थी। पैरों चलने लगी, तब-से अपने भाईसे भी दूर-दूर भागी रहती है।'

'कोई कुण्ठा लगती है उसके मनमें।' सुभद्र गम्भीर हो गया—'गूका तो जान नहीं पड़ती। अच्छा, चलिये, देखते हैं कि मैं कुछ कर सकता हूँ या नहीं।'

सुभद्र उस गृहपतिके साथ उसके घर गया। उस बालिकाने भी माताके साथ भूमिमें मस्तक रखकर उसे प्रणाम किया। सुभद्र सोचता रह गया--'यह क्यों कुछ परिचिता-सी प्रतीत होती है?'

'सुनो!' सुभद्रने उसे समीप बुलाया और सहज ही उसके कपोल थपथपा दिये।

'तुमने मेरा स्पर्श किया?' वह बालिका उग्र हो उठी--'तुम्हारा देहपात हो जायगा!'

'सौष्ठवा ! तुम्हारा शाप स्वीकार करता हूँ ।' सुभद्र अत्यन्त गम्भीर हो गया । यह सत्य है कि वह स्वीकार न करे तो किसीका शाप उसका कुछ बिगाड़नेमें समर्थ नहीं । वह सीधे बाबा विश्वनाथ या अम्बा अन्नपूर्णाके समीप जाकर भी कह दे सकता था—'यह शाप आपके होते मुझे क्यों अङ्गीकार करना पड़े ?'

सुभद्र स्वयं भी उस कन्याको शाप दे सकता था। इनमें-से कुछ नहीं किया उसने। दो क्षणतक सीधे देखता रहा उसकी ओर। उसके माता-पिता स्तब्ध खड़े थे। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। अपने गृह बुलाकर एक सम्मानित व्यक्तिको, जिसे वे संत मानते हैं, इस प्रकार शाप दिलाया जाय ? पश्चात्तापके परितापने उन्हें बोलनेमें भी असमर्थ कर दिया था।

'यह पातिव्रत्यका बद्धमूल अहंकार है और कन्हाईको किसीका अहंकार अच्छा नहीं लगता। वह गर्वहारी इसे कुचल डाले तो आश्चर्य नहीं होगा मुझे।' सुभद्रने मन्द स्वरमें कहा।

'तुमने पहले शाप देकर श्रीकीर्तिकुमारीको असंतुष्ट कर दिया था।' अब उसने अब भी रोषसे भरकर लाल बनी उस लड़कीसे कहा—'यह शाप देकर तुमने कन्हाईको क्रुद्ध कर दिया। अब वह तुम्हें दूरकी सेवामें भी स्वीकार करे, इसमें बहुत कठिनायी होनी है।'

'हाय ! मुझ भाग्यहोनाने यह क्या कर दिया ?' इस प्रकार भूमिपर गिरकर वह दोनों हाथ मस्तकपर पटकने लगी, जैसे भीतरसे एक साथ टूट गयी है और अब उसका कण-कण विखर जानेवाला है; किन्तु दो क्षणमें अपनेको स्थिर करके फिर बोली—'यदि मेरा कुछ भी पुण्य शेष है तो तुम स्वेच्छा-शरीर-धारणमें समर्थ बनो।'

उस कन्याके माता-पिता अधिक विस्मित हुए। उनकी लड़कीने वाणी पायी, पहले बोली तो मधुर स्वर निकला उसके कण्ठसे और अब इतने ही क्षणोंमें वह हकलाने लगी है। उसका स्वर अत्यन्त कर्कश हो गया है ?

'यह भी अहंकार ही है।' इस बार सुभद्रने झिड़की दी। 'तुम इतनी अज्ञ हो, मैं अनुमान नहीं कर सकता था। अपना सब पुण्य तुमने शाप और वरदानमें समाप्त कर लिया।'

'वरदानमें भी बुराई है ?' अब वह भूमिपर हताश बैठ गयी थी। उसके अश्रु भी सूख गये थे। उनका मुख रक्तहीन जान पड़ता था।

'अपने-से अधिक श्रेष्ठपर अनुग्रह दिखलाना अशिष्टता नहीं है ?' सुभद्रका स्वर कड़ा बना रहा। 'तुम क्या समझती हो कि कन्हाई कृपण हो गया है या अब मुझसे रूठ गया है ? वह रूठ भी जाय तो भी मुझे अन्यका अनुग्रह कभी अपेक्षित नहीं होगा।'

'आप इसे क्षमा कर दें !' अब पिताने चरण पकड़नेका साहस किया।

'शरीर-त्यागका तो स्वयं मेरा संकल्प था।' सुभद्रने पिताकी ओर ध्यान नहीं दिया। वह उस लड़कीकी ही ओर देखता रहा—'दूसरा शरीर मेरी इच्छानुसार नहीं मिलेगा तो होगा क्या ? कर्म-नियन्ताके पास मेरा कोई पूर्व संचित है कि वे उसमें-से प्रारब्ध बना देंगे ?'

'मैं अधमा हूँ।' वह लड़की अत्यन्त आहत स्वरमें बोली—'क्षमा माँगनेयोग्य भी नहीं रही।'

'आप उठिये।' सुभद्रने उसके पिताको उठाया—'आपके किसी अत्यन्त विशिष्ट पुण्यसे यह पुत्री बनी आपकी; किन्तु इसका पुण्य ही इसके लिए हानिकर हो गया। इसकी अज्ञताने इसे समझने ही नहीं दिया कि धर्म साध्य नहीं है। सब धर्मोंका परमप्राप्य श्यामसुन्दर है। अपने सब धर्मोंकी आहुति देकर उसका सांनिध्य सुलभ हो तो धर्मराज इसे अपनानेमें नहीं हिचकेंगे। कन्हाई धर्मक्रीत नहीं हुआ करता।'

'तुम क्या सोचती हो कि तुमने शाप देकर कुछ परिवर्तन कर दिया है सृष्टिमें, या वरदान देकर कोई बड़ा सुख सुलभ किया है मेरे लिये ?' सुभद्रके स्वरमें रोष तो नही रह गया था; किन्तु गम्भीरता पूरी थी—'सृष्टिका संचालक सर्वज्ञ रहेगा यदि सब पूर्वसे ही निर्धारित न हो ? उसके विधानको अन्यथा करनेवाली शक्ति कहीं है ?

'शापकी व्यर्थता समझ गयी प्रभो !' बहुत दीन, दयनीय स्वर हो गया उस बालिकाका। दोनों हाथ जोड़ लिये उसने—'तप या पुण्यके अहंकार और क्रोधके संयोगके विना शाप देना बनेगा नहीं। दोनों पतनके हेतु हैं। दोनोंसे तपका विनाश होता है।'

'मैं तो अज्ञ हूँ, अल्पशक्ति हूँ, मेरे वरदानमें भी मेरा अहंकार ही था--मानती हूँ। मैंने अशिष्टता की, धृष्टता की।' सुभद्र नहीं बोला तो दो क्षण चुप रहकर वह स्वयं बोली—'किन्तु वरदान सदा तो धृष्टता नहीं होता। वह तो कृपाकी प्रेरणा है, उसमें पाप ?'

'वरदान पाप नहीं है ?' सुभद्रने शान्त-स्वरसे कहा--'पर उसमें अपनी श्रेष्ठता, सामर्थ्यका अभिमान तो है ही। कन्हाई सर्वरूप है, यह विस्तृत हुए विना उस मयूरमुकुटीको वरदान दिया जा सके, तब उस वरदानकी सार्थकता।'

'उन्हें वरदान देनेका साहस कौन करेगा ?' उस कन्याने आश्चर्य-स्फारित नेत्रोंसे सुभद्रकी ओर देखा। 'वे सर्वरूप तो हैं; किन्तु....।'

यह उस लड़कीकी ही समस्या नहीं है। यह तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी भी समस्या है। वे सर्वेश ही विश्वरूप हैं--यह परमसत्य बुद्धिमें कहाँ स्थिर रहता है ! यही स्थिर रहे तो किसी साधनकी अपेक्षा क्यों रहे। यही तो साध्य स्थिति है।

'तुम्हारे वरदानकी परिणति क्या होनेवाली है, पता है तुम्हें ?' सुभद्रने पूछा—'तुम क्या समझती हो कि यह शरीर त्यागकर मैं देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषि-मुनि या कोई सम्राट्-सुत होनेकी कामना करूँगा ?'

'आप क्या बनना चाहेंगे ?' अब वह लड़की आश्चर्यमें पड़ गयी। अपनी इच्छानुसार शरीर-धारण सुलभ होनेपर यदि ये अपने बतलाये वर्गमें कुछ नहीं बनना चाहते तो ?

'मैं वृश्चिक बनूँगा !' सुभद्रने इतने समयमें बहुत कुछ सोच लिया है। उसे अबतक जो समस्या उलझाये थी, वह सुलझ गयी है। उस पाषाण-बने मुनिके समुद्धारका मार्ग मिल गया है उसे ! अपने लिये तो उसे कुछ सोचना नहीं है। वह कहाँ जाता है, क्या करता है, कौन-सा शरीर ग्रहण करता है, इसपर कुछ सोचना आवश्यक हो तो कन्हाई सोच लेगा। सुभद्रको तो कहीं हिचक नहीं है।

'वृश्चिक ?' वह कन्या, उसके माता-पिता भी एक साथ चीख पड़े।

'तुममें-से किसीके लिए कोई भय नहीं है।' सुभद्र हँस पड़ा—'आश्वस्त रह सकते हो कि मैं तुममें-से किसीको भी उत्पीड़ित नहीं करूँगा।'

'वह आप करते तो कुछ प्रायश्चित्त हो जाता।' बालिका विह्वल हो उठी थी—'लेकिन यह हीनदेह-धारणका संकल्प....।'

'तुम्हारे जानने-सोचनेकी बात यह नहीं है।' सुभद्रने कुछ सूचित करना अस्वीकार कर दिया।

'वाराणसीमें देह-त्यागकर आप ऐसा शरीर प्राप्त कर सकेंगे?' इस बार उस कन्याकी माताने बोलनेका साहस किया—'मैंने मुनियोंसे इस अविमुक्त-क्षेत्रका जो माहात्म्य सुना है....।'

'सत्य वही है। उसकी मर्यादा सुरक्षित रहेगी।' सुभद्रने कह दिया—'अब मैं अनुमति लेता हूँ। मुझे अभी इस पुरीका परित्याग कर देना है। आपकी पुत्रीके शापको सूर्यास्तसे पूर्व सार्थक होना चाहिये।'

'आह!' सुभद्र मुड़ पड़ा; किन्तु वह कन्या भूमिपर ही बैठी रही—'मैंने वरदान देनेका दुस्साहस न किया होता। मेरे लिए कोई मार्ग नहीं?'

'तुमने जिनको शाप दिया है, उनकी सेवा और करुणा ही तुम्हारा उद्धार करेगी।' जाते-जाते सुभद्र कह गया।



परित्राणका प्रयास–

अरण्यके अन्तरालमें है छिन्नमस्ता-पीठ। अब भी वहाँ आस-पास घोर वन है। राँचीसे लगभग नब्बे किलोमीटर दूर दामोदर नदीके समीप यह छोटा-सा मन्दिर है।

द्वापरमें वन अधिक सघन था। मन्दिर अधिक बड़ा और भव्य था। वह सब तो कालके गालमें चला गया। अब तो छिन्नमस्ताकी मूर्ति भी बहुत अस्पष्ट रह गयी है। अवश्य ही वहाँ अब भी पशु-बलिसे आस-पासका स्थान भी रक्त-दूषित रहा करता है। पहले कभी इस तामस शक्तिपीठपर कामनान्ध राजा या अन्य सशक्त लोग नर-बलि करते थे। अपने समान मनुष्यको अपनी कामना-पूर्तिके लिए काट फेंकनेकी पैशाचिकता मनुष्य छोड़ ही पाता तो परमाणु-अस्त्र बनानेमें जुटता।

उस समय छिन्नमस्ताके मुख्य मन्दिरके आस-पास उनकी सखी-परिकरोंकी भी मूर्तियाँ थीं। छोटे मन्दिर थे। उनमें भी एक मूर्ति बहुत प्रतिष्ठा-प्राप्त थी। श्रीराम-मन्दिरोंमें हनुमान्‌जी या शिव-मन्दिरोंमें नन्दीश्वरका जो स्थान है, वही स्थान उसे प्राप्त हो गया था।

'यह स्वयंम्भू-मूर्ति है।' वनवासी यह मानते थे और इसीलिये उनकी उसमें बहुत श्रद्धा थी। छिन्नमस्ताको बलि-अर्पण करके उसे भी शोणित-स्नान कराया जाता था।

वह मूर्ति दामोदरके प्रवाहमें एक मछुएको कभी प्राप्त हुई थी। मछलीके लिए डाला जाल उलझ गया जलमें और उसे सुलझानेका प्रयत्न किया तो यह मूर्ति मिल गयी।

'मूर्ति' कहनेकी अपेक्षा उसे 'शिला' कहना अधिक उपयुक्त है। एक पतली कोमल पत्थरकी शिला। पानीके प्रवाहने सम्भवतः उसे घिसा था। दूसरे उसपर एक अस्पष्ट आकार-जैसा कुछ उभाड़ आ गया था। किसीने नहीं सोचा, जानना चाहा कि वह पुरुषाकार है या स्त्रीका आकार। शिला कुछ ऐसी त्रिकोण थी, जैसे कोई पद्मासनसे बैठा हो। नीचे पर्याप्त चौड़ी और

ऊपर सिरके समान संकीर्ण गोल। उसके मुखादि उभाड़ोंमें कल्पना ही करना पड़ता था।

'देवी प्रकट हुईं। देवीने दर्शन दिया।' समीपमें सुप्रसिद्ध छिन्नमस्ता मन्दिर था; अतः मछुएने मान लिया कि उसे मिली शिला देवी-मूर्ति है। वैसे भी शक्तिपीठोंमें अधिकांश स्थलोंपर शिला या पिण्डी ही हैं। अतः विशेष ध्यान देना किसीको आवश्यक नहीं लगा।

उसी दिन वनवासियोंकी भीड़ दर्शन करने उमड़ पड़ी। स्थानीय राजाको समाचार मिला। राजपुरोहित पधारे। शिलाका सम्मार्जन करके उसे सिन्दूरङ्कि किया उन्होंने और शीघ्र एक छोटा मन्दिर बनाकर उसमें उसकी प्रतिष्ठा हो गयी। उसकी पूजा होने लगी।

'भद्रकाली' उस मूर्तिकी इसी नामसे प्रतिष्ठा हुई। किसीने नहीं सोचा कि दामोदरके जलमें इस जातिके कोमल पाषाणकी शिला कहाँसे आयीं ? यह पाषाण प्रतिमा-निर्माणके उपयुक्त भी है या नहीं ?

मूर्ति स्वयं प्रकट हुई जब मान लिया गया तो उसके सम्बन्धमें कुछ सोचना सम्भव नहीं रहा। रक्ताभिषेकके पश्चात् तो यह जानना सम्भव ही नहीं रहा कि मूर्तिमें कौन-सा आकार है।

'यह एक ध्यानस्थ मुनिकी मूर्ति है।' कोई यदि कहनेवाला भी होता तो उसे वहाँके श्रद्धालु वनवासी विकृत-मस्तिष्क मानते। सम्भव है, उसको भी बलि-पशु बना दिया जाता।

शिला सुकुमार पाषाणकी है, पर्याप्त पतली है। उसकी ये अपूर्णताएँ भी उसकी प्रतिष्ठा और पूजाके पश्चात् अलक्ष्य हो गयीं। वह तो सदा नील-लोहित रहने लगी और छिन्न-मस्ताके समान उसे भी अरुण-वस्त्रसे आवृत रखा जाता था।

मूर्तिकी यह प्राप्ति-कथा भी बहुत प्राचीन-परम्परासे वहाँ चली थी। केवल यह कहा जा सकता है कि इस कथापर वहाँके लोगोंकी आस्था थी। अतीतमें जिसने उसे पाया था, वह 'परमशाक्त' कहकर स्मरण किया जाता था।

महोत्सवका दिन था। महानिशामें उन वनवासियोंके महाराज स्वयं पूजन करनेवाले थे। ऐसे पूजनमें तो अनेक महाबलि दी जाती हैं। अतः प्रभातसे वहाँ स्थानकी स्वच्छता प्रारम्भ हो गयी थी।

बहुत अधिक व्यस्त था वहाँका मुख्याराधक। आज तो मुख्याराधकको 'पुजारी' कहनेकी प्रथा है। उसे सम्पूर्ण स्थान स्वच्छ कराना था। आस-पासका स्थान और मार्ग भी। बराबर देवीको बलि-अर्पणसे स्थान-स्थानपर रक्तका सूखा, कालापन पड़ा था। आज सब धुलकर स्वच्छ होना था।

आज आस-पासके वनवासी श्रद्धालु स्वयं सेवा करने उपस्थित हो गये। पुजारी उन्हें निर्देश दे रहा था, डाँट रहा था और उनके कार्यकी देख-रेख कर रहा था। वातावरण दौड़-धूप, स्वच्छताके प्रयाससे उड़ती धूलि और कोलाहलसे भरा था।

अन्ततः प्रतिमाओंकी स्वच्छता तो प्रधान अर्चकको करनी थी। दूसरा तो उनको स्पर्श नहीं कर सकता था। भगवती छिन्नमस्ताको स्नान कराने, मूर्तिको स्वच्छ करनेके समय उसने सबको मन्दिरसे बाहर करके वस्त्रावरण कर दिया था। भगवतीको नूतन वस्त्र धारण कराया उसने। अभी इतना ही पर्याप्त था। विशेष सज्जा और आभूषण-धारण सायंकाल कराना था।

भगवती छिन्नमस्ताके श्रीविग्रहकी स्वच्छता करके मुख्याराधक अपने तथाकथित भद्रकाली-मन्दिरमें आया। छोटे उपमन्दिरोंमें आवरण करना आवश्यक नही हुआ करता। पुजारीने मूर्तिपर कलशसे जल डाला; क्योंकि उसपर अर्पित वस्त्र अनेक बार रक्तस्नात होनेसे कड़ा हो गया था। कहीं-कहीं चिपक भी गया था।

'आह !' बड़े उच्चस्वरसे पुजारीने चीख मारी और अपना दक्षिण-कर वाम-करसे पकड़ लिया। वह पार्श्वमें न होता तो पैर भी आहत हो गये होते।

'क्या हुआ ?' अनेक लोग दौड़ आये। पुजारी जब मूर्तिसे वस्त्र हटाने लगा था, उसकी मध्यमामें वृश्चिकने डंक मार दिया था। पुजारी चौंका, वेगसे हाथ हटाया उसने। इस झटकेसे वह मूर्ति नीचे गिरी और खण्ड-खण्ड हो गयी। वृश्चिक अभी मजेसे वहीं भित्तिपर चिपका बैठा था।

पुजारी पीड़ासे व्यथित था। इस समय मूर्तिकी चिन्ता करनेकी मनःस्थिति उसकी नहीं थी; किन्तु शेष सब मूर्तिके खण्डोंको देखकर कई क्षण सन्न खड़े रह गये।

'यह !' एकने पाससे मूर्तिका ही एक खण्ड उठाया और वृश्चिकपर पटक दिया। बहुत बड़ा काला वृश्चिक था; किंतु उसका शरीर तत्काल कुचल गया। थोड़ा-सा पानी ही तो निकलना था उसके शरीरसे। उसकी ओर कौन ध्यान देता। उसका मृत देह उठाया एकने पत्तेपर और कुछ पद दूर पत्तोंके ढेरपर फेंक दिया। पत्तोंमें जब अग्नि लगेगी, भस्म हो जायगा वह भी।

वैसे भी सर्प-वृश्चिकको देखते ही लोगोंकी प्रतिक्रिया होती है—'मार दो।' इस वृश्चिकपर तो सबका आक्रोश स्वाभाविक था। इसने पुजारीको दंशन किया और इसके कारण स्वयम्भू-मूर्ति भङ्ग हुई।

वनवासी अनेक विषयोंमें पठित नागरिकोंसे अधिक निपुण होते हैं। उन्हें अनेक शाबर-मन्त्र ज्ञात होते हैं और जड़ी-बूटियोंका पता होता है। पुजारीकी पीड़ा तो झाड़कर उसी समय समाप्त कर दी एक वनवासीने। केवल दंशन-स्थानपर झनझनाहट थी। दबाकर डंक निकाल दिया गया और औषधि लगी तो कुछ क्षणोंमें पुजारी पुनः कार्यक्षम हो गया।

पुजारी तो स्वस्थ हुआ; किंतु मूर्ति ? थोड़ी भी खण्डित मूर्ति पूजाके योग्य नहीं होती। देवता हीनाङ्ग-विग्रह स्वीकार नहीं करते। यह तो कन्हाई है, जो विग्रहकी पूर्णाङ्गता नहीं देखता। श्रीजगन्नाथपुरीमें बिना हाथ-पैरका बना बैठा तो इसका साथ देनेके लिए अग्रज और बहन सुभद्रा-को भी वैसा ही बना पड़ा।

शिवलिङ्ग खण्डित होनेपर अपूजित हो जाता है; किंतु शालग्रामके सौ खण्ड भी हो जायँ तो प्रत्येक खण्ड पूर्ण माना जाता है, पूजित होता रहेगा। नित्य परिपूर्णमें-से अपूर्ण नहीं निकला करता—

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥'

आपके माता-पिता, स्वजन-सम्बन्धी मरते हैं; क्योंकि आपका सम्बन्ध शरीरसे है और शरीर मरता है। शरीरमें जो चेतन है, वह तो अविनाशी है। देवता मूर्ति नहीं है, मूर्ति देवताका पीठ—शरीर है। मूर्तिके भङ्ग होनेसे देवता नहीं मरा करता।

उस मूर्तिके खण्ड श्रद्धासहित दामोदरके जलमें विसर्जित हो गये। वह मूर्ति—उसका पाषाण और जिसकी मूर्ति थी वह भी जहाँसे आये थे, वहाँ पहुँच गये।

वनवासियोंके लिए वह भद्रकाली-मूर्ति थी। अब स्वयम्भू-मूर्ति तो मिलनेसे रही; किंतु अब शुभ मुहूर्तमें विहित पाषाणका शोधन करके वे स्पष्ट भव्याकार भद्रकाली-मूर्तिका निर्माण करा सकते हैं। उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है। वह सुदृढ़ होगी। इतने अल्पाघातसे टूटनेयोग्य नहीं होगी।

यह दूसरी बात है कि वहाँ फिर भद्रकालीकी प्रतिष्ठा नहीं हुई। राजगुरुने घोषित कर दिया—'भगवती छिन्नमस्ता एकाकिनी रहना चाहती हैं। उन्हें अपने सांनिध्यमें और किसी अन्य शक्तिरूपकी अर्चा स्वीकार नहीं है।'

राजगुरुकी घोषणाने वनवासियोंको सान्त्वना दी। उन्होंने मान लिया कि भगवती छिन्नमस्ताकी प्रेरणासे ही वह वृश्चिक आया था। मूर्ति देवीकी शक्तिसे खण्डित हुई। इसमें किसी अमङ्गलकी कोई आशङ्का नहीं है।

वनराज-

'आपके सखा दूसरे किसीको सेवाका कोई अवसर ही नहीं देते।' यमराजने आगे आकर स्वागत किया था। बहुत मना करनेपर भी पूरी पूजा की थी।

यद्यपि जीवका कोई नाम नहीं होता; किन्तु उसे सूचित करनेके लिए संज्ञा तो देनी ही पड़ेगी। कभी-किसीने वृश्चिकोंका नामकरण किया है? लेकिन वृश्चिक तो मर गया। यमपुरी जा पहुँचा। उसे हम-आप तबतक सुभद्र ही कहें, जबतक मनुष्य बनकर वह कोई दूसरी संज्ञा स्वीकार नहीं करता।

'आपने सुरसरिके तटपर योगका आश्रय लेकर शरीर-त्याग दिया था।' यमराज सूचना दे रहे थे—'अब आप यह अनुमति दे दें कि आपके त्यक्त शरीरोंके अग्नि-संस्कारकी सेवा मुझे प्राप्त हो। अबतक आपके सखा स्वयं इसे करते आ रहे हैं। यह कार्य उनके योग्य तो नहीं है।'

'प्राणीके परिशोधनका कार्य आप करते हैं!' सुभद्रने प्रार्थना अस्वीकार कर दी—'प्राणियोंके शरीरोंका संस्कार आपके उपयुक्त नहीं है। कन्हाई मुझसे छोटा है; अतः वह मेरे शरीरोंके प्रति अपना कोई कर्तव्य मानता है तो आप उसे रोक सकेंगे?'

'मैं तो सेवक हूँ।' यमराजने सूचना पूर्ण की—'आपका वृश्चिक-शरीर जिस शुष्क पत्र-राशिमें पड़ा था, उसे भी उन्होंने स्वयं अग्निप्रदान-की और उस अग्निको दावानल बना दिया। जिसने आपके उस शरीरपर आघात किया था, वह उसी अग्निमें भस्म हो गया। भस्म हो गये वहाँ उपस्थित वनवासियोंके ग्राम और गृह।'

'कन्हाई यह क्या करता है?' सुभद्रको यह सूचना अच्छी नहीं लगी—'वह क्या चाहता है कि मैं सदा वृश्चिक ही बना रहता। वृश्चिक-शरीरका प्रयोजन तो उस मूर्तिकेभङ्ग होनेसे पूरा हो गया था। वनवासी तो निरपराध थे।'

'आप उनका स्वभाव जानते हैं !' यमराज और क्या कहते । कन्हाई स्वभावसे स्वजन-शरणागत-पक्षपाती है । भगवान् तो भक्तवत्सल होगा ही। यमराजने सूचना पूरी की—'जिस-किसीने वृश्चिककी अवमाननामें कहे शब्दोंका समर्थन भी किया, उन्हें अग्निदग्ध होना पड़ा । तापसे तो छिन्न-मस्ता-पीठ भी नहीं बचा। वह पूरा स्थान अग्नि-शुद्ध किया आपके सखाने ।'

यमराज तो भक्ताचार्य हैं। वे भाव-विह्वल अश्रु-वर्षा कर रहे थे। सुभद्र भी बोलनेमें असमर्थ हो रहा था। बहुत समय लगा उसे अपनेको समाहित करनेमें । शान्त होनेपर उसने पूछा—'अब ?'

'मैं तो आज्ञा-पालक हूँ।' यमराजने हाथ जोड़े—'आप कहाँ पधारेंगे, मैं कैसे कह सकता हूँ ।'

'सृष्टिकी मर्यादा बनी रहनी चाहिये ।' सुभद्रने शान्त स्वरमें कहा—'आपके कर्म-विधानकी कोई धारा भङ्ग नहीं करनी मुझे ।'

'आपकी कोई संचित कर्मराशि तो है नहीं कि प्रारब्ध बने ।' यमराज सोचने लगे। उन्होंने दो क्षण रुककर कहा—'मानव-शरीर आपने वृश्चिक बननेका संकल्प करके त्यागा। वह संकल्प पूरा हो गया। अब केवल एक नियम है—बहुत उपेक्षणीय नियम; क्योंकि उसमें असंख्य अपवाद हैं ।'

'वह नियम क्या है ?' सुभद्रने जानना चाहा ।

'यदि कोई अपवाद न हो, कोई कर्म बाधा न बनता हो तो प्राणीको क्रमशः बढ़ने दिया जाय ।' यमराजने कहा—'पदार्थसे तृण-तरु, उद्भिज्जसे स्वेदज-ओण्डज, सरीसृपसे चतुष्पाद् और अन्तमें मानव ।'

इसका अर्थ है कि अब मुझे चतुष्पाद्में-से कुछ चुनना है ।' सुभद्रको सोचना नहीं था। उसने तत्काल निर्णयके स्वरमें कहा—'आप मुझे सिंह बननेका सुयोग सुलभ कर सकेंगे ?'

'जैसी आपकी इच्छा ।' यमराजको कोई आपत्ति नहीं थी। उन्होंने केवल यह पूछा—'आप उस छिन्नमस्ता-काननको पुनः पवित्र करेंगे ?'

'स्थानके सम्बन्धमें कोई आग्रह मुझे नहीं है ।' सुभद्रने स्वीकृति दे दी।

दावाग्नि-दग्ध कानन कभी उजड़ा नहीं करता। उलटे अगली वर्षामें ही अधिक सघन हो जाता है। तृण अवश्य नहीं उग पाते, तरु भी नवीन नहीं निकलते; क्योंकि बीज सब भस्म हो चुके होते हैं; लेकिन वह तृण-पत्तों और काष्ठकी भस्म खाद बन जाती है। दग्धतरु-मूलसे शाखाएँ फूटती हैं और शीघ्र बढ़ती हैं।

वृक्ष सघन हों तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग अपने-आप आश्रय लेने पहुँच जाते हैं। वनवासियोंके गृह कोई राजसदन नहीं होते। उनकी झोंपड़ियाँ जलनेपर उन्हें कठिनाई तो होती है; किन्तु वे शीघ्र अधजले काष्ठ और दूरसे लाकर भी पत्ते-फूससे अपने गृह बना लेते हैं। वे तो भस्म हुए वनको वरदान मानते हैं। अनेक बार स्वयं वनमें अग्नि लगाते हैं; क्योंकि राखमें बीज डालकर वे सरलतासे अन्नोत्पादनके अभ्यासी होते हैं।

छिन्नमस्ता-कानन शीघ्र पहलेके समान सघन, सुन्दर तथा प्राणियों-से पूर्ण हो गया था। भगवती छिन्नमस्ताकी अर्चा उत्साहपूर्वक चलती थी। उसमें कोई व्यवधान नहीं आया था।

अवश्य प्रधान अर्चकको और उपस्थित वनवासियोंको भी आश्चर्य हुआ, जब एक दिन एक अकेला सिंह-शावक वहाँ आ गया। उसने मनुष्यकी उपस्थितिपर ध्यान ही नहीं दिया। आया और देवीको बलि दिये गये पशुका रक्त चाटकर चला गया।

साधारण बिल्ली-जितना बड़ा सिंह-शावक, उससे किसीको भय तो क्या लगता; किन्तु किसीने उसे रोकने या पकड़नेका प्रयत्न भी नहीं किया। सरल वनवासियोंमें-से किसीने कहा—'भगवतीका वाहन है।'

'उनका वाहन न होता तो इतना छोटा बच्चा क्या सिंहिनी एकाकी छोड़ती है?' दूसरेने समर्थन किया—'इतने मनुष्योंके मध्य अशङ्क एकाकी ओर दिनमें कोई बड़ा वनपशु भी कभी आनेका साहस करता है?'

वह शावक तो प्रतिदिन आने लगा। उसकी चर्चा चल पड़ी। राजा और राजगुरुतक उसका दर्शन कर गये। अब उसके भी दर्शनार्थ लोग दूर-दूरसे आने लगे। उसको भी बलि-भाग पृथक् दिया जाने लगा। वह सबका श्रद्धा-भाजन बन गया।

यह तो पता लग गया कि वह समीप ही एक गुहामें रहता है; किन्तु किसीको पता नहीं लगा कि वह कहाँसे आया। उसके जन्मदाता सिंह-

सिंहिनीका जोड़ा कहाँ है अथवा उसका क्या हुआ, इस जन्म एवं परिवार-सम्बन्धी अज्ञानने उस शावककी महत्ता और बढ़ा दी। वह दिव्य माना जाने लगा।

उसका आकार बढ़ना ही था। उसे अनुकूल आहारका अभाव कभी हुआ नहीं। अतः उसमें आखेटकी वृत्ति ही नहीं जागी। उसमें मनुष्यों और पशुओंके प्रति केवल सामान्य उपेक्षा थी। वह किसीके समीप नहीं जाता था। कोई उसके ही समीप जाने लगे तो उसकी गुर्राहट ही रोकनेको पर्याप्त थी।

अच्छा पुष्ट शरीर था उसका। जब वह युवा हुआ, इतना बड़ा हो गया कि उसके आकारका सिंह कदाचित् ही सुना गया हो।

अनेक बार श्रद्धालु लोगोंने उसे सीधे पशु भेंट करनेका प्रयत्न किया। बकरा या बकरीका बच्चा उसके सामने छोड़ा; किन्तु उसने किसीको मारनेकी चेष्टा नहीं की। चलते-फिरते सप्राण जीवनका वध भी किया जा सकता है, जैसे उसे यह समझमें ही न आता हो।

'ये केवल भगवतीको अर्पितका ही प्रसाद स्वीकार करते हैं।' लोग बहुत श्रद्धासे उस सिंहका स्मरण करते थे। उसे पर्याप्त आहार प्राप्त होता रहे, यह व्यवस्था तो वहाँके राजाने ही कर दी थी।

'आज वनराज क्रोधमें हैं। वह उत्साह या उमङ्गमें भी गर्जना करता हो तो उसका लोग अर्थ लगाने लगते थे—'वे इस वनके देवता हैं। पशुओं-के राजा हैं। लगता है कि किसी हिंसक पशुने किसी दुर्बल पशुको सताया है। वह इनकी गर्जनासे ही निष्प्राण हो जायगा।'

छिन्नमस्ताका उग्रपीठ। वहाँ संख्यावद्ध बलि होती थी। दोनों नवरात्रोंमें असंख्य पशु मारे जाते थे; किन्तु उस सिंहके कारण वह वन आखेट-वर्जित मान लिया गया था। वनवासीतक अन्यत्र आखेट करने जाते थे।

कोई विशेष घटना न भी हो तो भी पाञ्चभौतिक शरीर मरणधर्मा है। वहाँ तो एक आकस्मिक घटना हो गयी। एक विदेशी विधर्मी आ भटका उस काननमें। अब वङ्गभूमिमें भी यदा-कदा समुद्री दस्यु आ जाते थे। कभी-कभी वे स्थलपर कुछ दिन टिके भी रहते थे। उन्हींमें-से कोई आ गया था। वनमें उस वृद्ध बृहदाकार सिंहको देखकर उसका चित्त चञ्चल

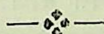
हो गया। इतना बड़ा वनराज आखेटके लिए भारी प्रलोभन था। उसने शर-संधान किया।

सिंहको कोई आशङ्का थी नहीं। उसके मर्मस्थानमें वाण लगा। वह तत्काल गिर गया। प्राण-त्यागमें उसे छटपटाना भी नहीं पड़ा।

समाचार फैलता तो वनवासी उस आखेटक और उसके साथियोंको जीवित नहीं जाने देते। जीवित तो उनमें-से फिर भी कोई नहीं गया; किन्तु इस बार यह काम प्रकृतिने पूरा किया।

जिस सिंह-चर्मके प्रलोभनमें उस आखेटकने यह किया था, उस सिंह-के स्पर्शसे पूर्व ही उसके साथी चिल्लाने लगे। वनमें दावाग्नि भड़क उठी थी और ग्रीष्ममें दावाग्निका वेग विकराल होता है। पतझड़के पृथ्वीपर पड़े सूखे पत्तोंकी राशिमें अग्नि विद्युत-वेगसे बढ़ती है।

वे सब घिर चुके थे। उनमें-से एक भी भागकर बच नहीं सका। सिंहका शरीर भस्म होना था—हो गया; किन्तु इस बार मन्दिर या वनवासी ग्रामोंतक पहुँचनेसे पहले ही अग्निदेव शान्त हो गये। उन लोगोंमें किसीकी कोई हानि नहीं हुई।



दुर्दम दस्यु—

अनेक दस्युओंकी प्रशंसा आपने सुनी होगी। डाकू निर्दय, निष्ठुर, हत्यारा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। वैसे तो विरोधीवर्ग महाराज छत्रपति शिवाजी और वन्दा वैरागीको भी डाकू ही कहता था।

दुर्दम क्यों दस्यु बना, कोई नहीं जानता ! कोई नहीं जानता उसका कुल-परिचय। केवल उसके सम्बन्धकी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। लोग कहते हैं—'दुर्दम केवल शक-हूण सैन्यको लूटता है। वह किसी एकाकी व्यक्तिपर आक्रमण नहीं करता। किसी भारतीय जनपदको उसने कभी आक्रान्त नहीं किया।'

आपत्तिसे पड़े लोग अरण्यमें एकाकी जाकर 'भाई दुर्दम !' की पुकार ऐसे लगाया करते थे, जैसे विपत्तिमें प्राणी परमात्माको पुकारता है। कहते हैं कि प्रायः दुर्दम ऐसी पुकार सुनकर किसी सघन वृक्षसे कूदकर ऐसे सम्मुख आ खड़ा होता था, जैसे वायुमें-से प्रकट हुआ हो।

गौर वर्ण, तपस्वी-जैसा तेजस्वी, उच्च सुगठित रस्सीके समान बटी कठोर काया। लम्बी भुजाएँ, उन्नत भाल, बड़े-बड़े अरुणाभ नेत्र। लोग तो उसका ऐसा वर्णन करते थे, जैसे वह देवपुरुष हो।

'क्या कष्ट है ?' दुर्दम किसीसे अधिक नहीं बोलता था।

'जाकर कह देना, दुर्दमने अभय दिया है तुम्हें।' कोई कितने भी सबलके द्वारा उत्पीड़ित हो, बहुत बार यह कहना ही पर्याप्त होता था—'मैं भाई दुर्दमको पुकारने जाता हूँ।' कम ही निकलते थे, जो इस धमकीकी उपेक्षा कर दें और दुर्दमने अभय दिया सुनकर तो हूणोंका भी साहस समाप्त हो जाता था। भारतीय तो विश्वास करते थे कि देवपुरुष दुर्दममें असंख्य सिद्धियाँ हैं। उनको आकर किसीको दण्ड नहीं देना पड़ता। उनके अभय-का अतिक्रमण करनेवाला दो दिन भी जीवित नहीं रहता।

'कन्याका विवाह है और कंगाल हूँ।' अधिक ऐसे ही लोग दुर्दमको पुकारते थे। वे प्रायः ब्राह्मण होते थे। दुर्दम अभ्यस्त था। थैली लिए ही आता था। थैली फेंकी और वनमें अदृश्य हो गया।

अनाश्रिता नारियाँ अभय हो गयी थीं। उन्होंने भले कभी दुर्दमको देखा न हो; किन्तु दुर्दमको कोई 'पुत्र' कहतीं, कोई 'भाई' और कोई 'पितृव्य'। अब किसीको मरनेकी शीघ्रता हो तो वह दुर्दमकी माता, बहन या बेटीको सतानेको साहस करे।

शक-हूण-सैनिकोंमें अद्भुत चर्चा थी—'वह दस्यु दुर्दम मनुष्य नहीं है, कोई दैत्य है; हवाको वह हैवान अश्व बना लेता है। कहीं जानवर ऐसे उड़ सकता है। वह स्वयं हवामें-से प्रकट हो जाता है। उसके धनुषसे वाण एक ओरसे आते; यदि वह मनुष्य होता। वह जो आता है तो चारों ओरसे वाणोंकी झड़ी लग जाती है।'

ग्राम और नगरोंको अग्नि लगानेवाले, निरीह बालक-वृद्धोंको भालोंकी नोकपर उछालकर अट्टहास करनेवाले क्रूर हूण दुर्दमका आगमन सुनकर भयसे काँपने लगते थे। उन्हें भागना किस ओर चाहिये—यह भी सूझता नहीं था।

मथुराके मन्दिरोंको जिन शकोंने ध्वस्त किया, उस पूरी सेनाको अकेले दुर्दमने लूट लिया। उसमें केवल आधे भाग सके।

दुर्दम कैसे यह कर पाता था? उसके साथ कोई एक साथी भी कभी देखा नहीं गया। वह शक या हूण सेनाको पराजित करके केवल स्वर्णराशि ले जाता था। सम्भवतः आर्त, आपद्-ग्रस्त, अभावपीड़ित जनोंको बाँटनेके लिए। अस्त्र-शस्त्र, अन्न या और सामग्री वह अपने अश्वपर लादकर ले भी कैसे जा सकता था।

दुर्दम कहाँ रहता है? क्या खाता है? वर्षामें कहाँ आश्रय लेता है? उसकी लूटका स्वर्ण कहाँ रहता है?—इन सबका पता लगता तो शक उसे सकुशल रहने देते?

दुर्दम तो तब शत्रु-सेनापर प्रहार करता था, जब उसके आनेकी तनिक भी आशङ्का नहीं होती थी। वह घोर वर्षाकी रात्रिमें आक्रमण कर दे सकता था और समतल स्वच्छ मैदानमें दिनमें अश्व दौड़ाता आ सकता था। जैसे उसके लिए कुछ कठिन न हो; कोई अपराजेय न हो। लेकिन किसीने नहीं कहा कि दुर्दमने कभी किसी एकाकी, आहत या असहायको उत्पीड़ित किया है।

'चल चामुण्डे !' दुर्दमका दुर्धर उद्‌घोष था। लोग कहते थे—'दुर्दम जितने शर-संधान करता है, उससे सौ-गुने सिर उस दिशामें शत्रुओंके चामुण्डा चबा लेती है—जिस ओर दुर्दम दृष्टि उठाकर देख लेता है।'

क्या सचमुच दुर्दम सिद्ध पुरुष था ? सचमुच उसकी पुकारपर चामुण्डा दौड़ पड़ती थी ? कुछ कहनेका कोई साधन नहीं; क्योंकि जो शत्रु-संख्याको कभी देखता नहीं, सहस्रोंकी सेनापर एकाकी टूट पड़नेका साहस करता है और जिसे कभी किसीने आहत नहीं देखा, वह स्वयं सिद्ध न भी हो तो उसका कवच अवश्य अभेद्य होगा।

दुर्दम एकाकी अरण्यमें रहता था। कभी कहीं और कभी कहीं भटकता। उसका गृह होना सम्भव नहीं। कोई गुहा आश्रय भी हो तो वह उसमें कभी ही रात्रि-विश्राम कर पाता होगा।

किसीने कभी नहीं कहा कि उसे दुर्दमके आतिथ्यका अवसर मिला। तब उसका आहार क्या होगा ? वनमें सदा सुपक्व फल नही मिलते। कन्द और पत्ते—दुर्दम स्वयं अन्न पकाता हो, यह अवसर उसे मिलता कब होगा ?

उसे किसीने साधारण वस्त्रोंमें देखा नहीं। वह जब दीखा, कवच कसे ही दीखा। शीतकालमें तो फिर भी कवच ठीक है, किन्तु ग्रीष्ममें कवच संतप्त नहीं होता होगा ?

जिसे सब ऋतुएँ समान हैं, वह तितिक्षु नहीं है ? अपरिग्रही, अनिकेत, कन्द-फल-पत्रके आहारपर निर्भर अरण्यवासी दुर्दमके तपस्वी होनेमें तो संदेह किया नहीं जा सकता।

उसपर क्रूर, क्रोधी, अत्याचारी होनेका आरोप किसीने किया नहीं। जिह्वा उसे तंग करती तो ऐसा कठोर जीवन वह व्यतीत कर पाता और ब्रह्मचर्यका व्रती न होता तो एकाकी रहता सदा ?

अब वह कोई साधन भी करता हो, इस सम्भावनाको कैसे झुठलाया जा सकता है। ऐसी अवस्थामें यदि लोग उसे 'सिद्धपुरुण' कहते हैं तो इसको भी सर्वथा कल्पित कहनेका कोई आधार नहीं है।

'चल चामुण्डे !' चौंकते हैं महाराज विक्रम। यह कौन है, जो उनका अयाचत सहायक हो गया है ? यह कौन है, जो अकस्मात् तब आ जाता है,

जब वे भी शक-सेनाकी शक्ति देखकर सचिन्त होने लगते हैं ? यह कौन है, जिसका उद्‌घोष शकोंको तत्काल पलायनको बाध्य कर देता है ?

'दस्यु दुर्दम !' सेनापतियोंका संक्षिप्त उत्तर है—'वे सिद्धपुरुष हैं। एकाकी आते हैं। किसी अपने पक्षके जनसे मिलते नहीं। उनका आक्रमण-वेग शत्रुके लिए सदा असह्य होता है।'

'दस्यु दुर्दम—कभी भूलकर भी मत कहना।' महाराज विक्रमने प्रच्छन्न वेषमें सैनिकोंसे भी मिलकर पूछा; लेकिन सैनिक बहुत श्रद्धालु हैं। दुर्दमके प्रति अतिशय सम्मान है सैनिकोंमें। वे कहते हैं—'देवपुरुष दुर्दम क्या मनुष्य हैं कि कोई उनका परिचय पायेगा। वे तो देवोत्तम हैं। हमारे महाराज विक्रम परम धर्मात्मा हैं। परदुःख-कातर रहते हैं। धर्म-रक्षाके लिये शकोंसे संग्राम करने चले हैं। अतः दया करके दुर्दम प्रत्येक कठिन अवसरमें महाराजकी सहायता करने आकाशसे उतर आते हैं।'

'चल चामुण्डे !' चौंकता है स्वप्नमें भी मंगोलियासे आया वह महादानव मिहिरकुल भी। वह प्रलयंकरका पूजक, जनपदोंको श्मशान बना देनेका व्रती, दया और करुणा तो जानता ही नहीं। जो गर्वसे कहता है—'भय और कृपाके भाव सृष्टिकर्ताने मिहिरकुलके लिए सर्जन नहीं किये।'

शिवका नहीं, श्मशानी कपर्दीका अग्रदूत, महाभैरवकी मूर्ति—मिहिरकुल भी चोंकता है। कहने लगा है—'मैं विक्रमको देख लेता। अवन्तीका यह शासक—किन्तु दुर्दमका क्या करूँ ? उस आकाशसे उतर आनेवालेको कहाँ ढूँढ़ूँ ? विक्रम उसके सहारे अजेय हो गया है।'

मिहिरकुल स्पष्ट कहता है—'पता नहीं, मेरे किस अपराधसे मेरे आराध्य पुरारिने अपना कोई भूत प्रतिपक्षकी सहायताको भेज दिया है। लेकिन वह भूत भी नहीं है। भूतके पुकारनेपर चामुण्डा दौड़ा नही करती। वह कोई शिवका सुत है या साक्षात् अंश है। मैंने गणपति, कार्तिक या वीरभद्रका तो कोई अपमान नहीं किया ? यह दुर्दम नाम लेकर कौन मेरे पीछे पड़ा है ?'

मिहिरकुल नैष्ठिक शैव था। उसकी क्रूरता, हिंसा, महासंहार भी उसकी निष्ठाका अङ्ग थी। उसमें दूसरा कोई दोष नहीं था। उसने अपने पुरोहितसे पूछा तो उसके तान्त्रिक पुरोहितने कह दिया—'हमारी कोई साधना, कोई ध्यान उनके स्वरूपको स्पष्ट करनेमें असमर्थ है। मैं भी आपके

समान केवल अनुमान कर सकता हूँ कि उन्हें भगवान् नीलकण्ठ और अम्बाका भी आशीर्वाद तथा स्नेह प्राप्त है।'

'सुना था, भारतभूमि मेरे भूतनाथको भी बहुत प्रिय है।' मिहिर-कुलने मस्तकपर हाथ पटका—'किन्तु क्या पता था कि यहाँ विभूति-अर्पणका अपने अर्चकका प्रयास भी उन्हें इतना अप्रिय हो जायगा कि वे इसके विपक्षमें अपना कोई प्रियजन भेज देंगे।'

मिहिरकुल पराजित होता गया। पीछे हटता गया और अन्तमें कश्मीरमें उसे आत्मसमर्पण ही करना पड़ा। उस मनस्वीने बिक्रमादित्यकी कृपासे प्राप्त सामन्त-पद स्वीकार नहीं किया। उसने एकाकी, शस्त्रहीन, हिमालयमें शरीर-त्यागके लिए प्रस्थान किया।

'विक्रम! तुम बतला सको तो केवल यह बतला दो!' मिहिरकुलने जाते-जाते पूछा था—'तुम्हें विजयी बनानेवाला कौन है? जिस दुर्दमने वस्तुत: मिहिरकुलको शस्त्र-समर्पणको वाध्य किया, वह है कौन?'

'मैंने उन देवपुरुषके कभी दर्शन नहीं किये।' विक्रमादित्य भी क्या बतलाते—'मैं या मेरी सेनाका कोई नहीं जानता कि वे कौन हैं? क्यों उन्होंने इस जनको अपना कृपा-भाजन माना? वे कब आवेंगे, कहाँ चले जाते थे, हमें कुछ पता नहीं है।'



शकारिका शील—

अरण्य एक रात्रिमें—पहली बार रात्रिमें गूँजा—'भाई दुर्दम !'

'भाई दुर्दम !' चौंक गया सुनकर दुर्दम भी। इससे पूर्व तो कोई पुकारनेवाला रात्रिमें नहीं आया। दुर्दमका यह आवास-अरण्य हिंस्र पशुओंसे पूर्ण है, यह सब जानते हैं। तब यह रात्रिमें एकाकी अरण्यमें पुकारनेवाला कौन आ गया ?

'भाई दुर्दम !' नहीं, यह किसी आर्तका, आपद्ग्रस्तका कातर कण्ठ नहीं है। किंचित् भी कम्प नहीं है स्वरमें।

'भाई दुर्दम !' यह किसी आवश्यकता-पीड़ित कंगालकी पुकार भी नहीं है। स्वरमें न दैन्य है, न आतुरता।

'भाई दुर्दम !' ऐसा घनघोष सामान्य मानव-कण्ठसे नहीं उठा करता। यह तो किसी लोकोत्तर पुरुषका स्वर है; किन्तु कोई लोकोत्तर पुरुष एक दस्युको पुकारने आ गया ?

'भाई दुर्दम !' सम्भवतः पुकारनेवाला निराश हो गया था कि उसकी पुकार सुनकर दुर्दम सामने आवेगा। अतः उसने पुकारकर कहा—'मेरा विश्वास है कि आप मेरा स्वर सुन रहे हैं। आप अपने दर्शनका अनधिकारी मानते हों तो मैं आग्रह नहीं करूँगा। आप अलक्ष्य रहकर भी इस ज्योत्स्ना-धवल निशामें देख सकते हैं। अवन्तीका विक्रम आपका अभिवादन करने आया है।'

'ऐसा नहीं हो सकता सम्राट् !' सहसा तरु-शाखापरसे दुर्दम कूदा और कोशसे खड्ग खींचनेको उद्यत विक्रमादित्यके कक्षिण करको उसने पकड़ लिया—'भारतका पर-दुःख-भञ्जन-व्यसनी सम्राट् तुच्छ दस्युको अभिवादन करे, यह असह्य है।'

'किसनें कहा—कौन कहता है कि देवपुरुष दुर्दम दस्यु है ?' विक्रमने हाथ नहीं छुड़ाया; किन्तु मस्तक झुका दिया। वे कह रहे थे—'यदि

आततायीका दमन दस्युधर्म है तो विक्रम संसारका सबसे बड़ा दस्यु कहलाने-में अपना गौरव मानेगा।'

'सम्राट्! सत्यको तर्कसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। दुर्दम दस्यु है। असावधान शत्रुपर अकस्मात् आक्रमण करनेवाला दस्यु। सुनेंगे, मैं क्यों दस्यु बना?' दुर्दम दो क्षणको चुप हो गया।

'तब मैं किशोर ही था, जब मेरे ग्रामपर, गृहपर शकोंने आक्रमण किया।' महाराज विक्रमादित्य शान्त सुनते रहे। दुर्दम स्वयं सुना गया—'मेरे पिताका उन्होंने शिरच्छेद किया। मेरी जननीके उदरमें पूरा खड्ग उतार दिया। मेरी तीन वर्षकी स्वसाको भालेपर उठा लिया। मेरे गृहको, पूरे ग्रामको अग्नि लगाकर भस्मराशि बना दिया।'

'मत पूछिये कि मैं भागकर, छिपकर कैसे बचा?' सम्भवत: दुर्दमने अश्रु पोंछे। उसका स्वर भर्रा उठा था—'मैं अकेला बचा। मेरे ग्रामके पशुतक अग्निकी आहुति बन गये। मैं अरण्यमें आ गया। असमर्थका आक्रोश असफल होता है, समझ गया था। मैं शकोंका शत्रु हो गया। व्यक्तिगत शत्रुतासे प्रेरित मैं शक-हूण-संहार कर रहा था। कोई महदुद्देश्य मेरे सामने नहीं था।'

'इससे आपके देवपुरुष होनेमें अन्तर कहाँ पड़ता है?' विक्रमादित्य अब बोले—'भगवान् परशुरामने व्यक्तिगत शत्रुतासे इक्कीस बार भूमिके क्षत्रियोंका संहार किया, इससे उनकी भगवत्ता म्लान होती है? उनका प्रेरणा-स्रोत कुछ रहा हो, उनके द्वारा आततायियोंका दमन हुआ। धर्मकी मर्यादा रक्षित हुई। आपकी स्थिति मुझे इससे भिन्न तो नहीं लगती है।'

'उन भगवदवतारसे एक क्षुद्र दस्युकी क्या समता?' दुर्दमने मस्तक झुका लिया।

'मैं आपसे तर्क करने यहाँ नहीं आया।' विक्रमने अब स्वर विनम्र बनाया—'सुना है कि कोई एकाकी आकर आपके अरण्यमें भाई दुर्दमका आह्वान करता है तो सुरतरु-समान देवपुरुषके श्रीचरणोंसे कभी निराश नहीं लौटता। विक्रम भी कामना लेकर ही आया है। मानता हूँ, मुझसे प्रमाद हुआ। याचकको सशस्त्र नहीं आना चाहिये; भूल समझमें आनेपर सुधार न ली जाय तो अपराध हो जाती है और अपराध अक्षम्य भी हो सकता है। मैं अपनी भूल सुधारे लेता हूँ।'

दुर्दमने शीघ्रतापूर्वक सम्राट् विक्रमादित्यके दोनों हाथ पकड़ लिये ; क्योंकि वे खड्गको कटिसे ही खोलने जा रहे थे। वैसे वे बिना कवच धारण किये आये थे। उस खड्गके अतिरिक्त दूसरा कोई शस्त्र उनके पास नहीं था! दुर्दमने बहुत नम्रतापूर्वक कहा—'सम्राट् एक दस्युको बहुत अधिक आदर दे रहे हैं।'

'मैं देवपुरुषका अभिवादन करने आया था।' विक्रमने अब शस्त्र त्यागका प्रयत्न छोड़कर कहा—'क्षत्रियको अपने अनुरूप अभिवादन करना चाहिये, केवल इस अभिप्रायसे यह शस्त्र साथ लेता आया। लेकिन आप याचककी कामना तो सुनेंगे ?'

'परदुःख-कातर, शीलस्वरूप, औरोंके लिये सिर हथेलीपर लिये, घूमनेवाले, धर्ममूर्ति, देहतकसे निःस्पृह सम्राट्को वरदान देनेमें भगवान् आशुतोषको भी दो बार सोचना पड़ेगा।' दुर्दमने हँसते हुए विक्रमका हाथ छोड़कर कहा—'दस्यु इतना दुस्साहसी नहीं हो सकता। केवल सम्राट्के काम्यको सुननेका कुतूहली हूँ।'

'अकेला शौर्य इतना समर्थ नहीं हो सकता था कि उसके सम्मुख शकराज मिहिरकुल हाहाकार कर उठे। देवपुरुष कितने सतर्क हैं, यह देख लिया मैंने।' विक्रमने अब विना किसी भूमिकाके निवेदन किया—'मैं प्रार्थना करने आया हूँ कि देवपुरुष अवन्तीके सिंहासनको भूषित करें! यदि अनधिकारी न मानें तो विक्रमको अपना सेनापति स्वीकार करके सेवाका अवसर दें!'

'सम्राट्! दुर्दम अशिक्षित दस्यु है। यह इस योग्य भी नहीं है कि आप इसे अपना सेनापति बनाना चाहें।' दुर्दमने प्रस्तावका दूसरा ही अर्थ लिया—'स्वीकार करता हूँ कि आप-जैसे उदार, धर्मात्मा, परदुःखभञ्जन-तत्पर शासकके समयमें कोई दस्युधर्मा बना रहे, यह शासनपर कलंक है; किन्तु दुर्दमकी ओरसे आप निश्चिन्त रह सकते हैं। अब दस्यु दुर्दमका नाम आपको कभी सुनायी नहीं पड़ेगा।'

'यह मेरे लिए मृत्यु स्वीकार करनेयोग्य बात है।' विक्रमके नेत्र भर आये—'यदि आप मेरे प्रस्तावका ऐसा कोई तात्पर्य ग्रहण करते हैं तो विक्रम कल प्रातःका सूर्योदय नहीं देखेगा।'

'शान्तं पापम् !' दुर्दमने सम्राट्को हृदयसे लगा लिया। उनके ही उत्तरीयसे उनके नेत्र पौंछे; क्योंकि उसके समीप तो कोई उपयुक्त वस्त्र था ही नहीं। वह तो सदा संनाह—संनद्ध रहता था।

'महाराज ! आप समझनेका प्रयत्न करें।' दुर्दमने बहुत स्नेह एवं आग्रहके स्वरमें समझाया—'दस्यु तो समयकी आवश्यकता थी। शकोंके उत्पातने दुर्दम-दस्युको उत्पन्न किया था। अब वह आवश्यकता समाप्त हो गयी; अतः दस्युको क्यों रहना चाहिये ?'

'दस्यु समाप्त होगा; किन्तु सम्राट् रहेगा।' विक्रमने बहुत बल देकर कहा।

'दुर्दमने उसी समय अपना कवच उतार दिया। पहली बार किसीने दुर्दमको कवचहीन देखा। वह केवल कच्छ पहने था; किन्तु ज्योस्नामें उस देवपुरुषका अनावृत देह अधिक भव्य, अधिक कान्तिपूर्ण दीख रहा था। यदि कवचधारी दुर्दम किसीको दस्यु जान भी पड़ता रहा हो तो अब इस रूपमें उसे देखनेवाला केवल इसके पदोंमें मस्तक रख सकता था।

'सम्राट् रहेगा ! सम्राट् यशस्वी रहेगा !' दुर्दमने कवच उतारकर दक्षिण भुजा उठाकर उद्घोष किया—'शकारि सम्राट् विक्रमादित्यकी जय !'

'जय कहाँ हुई देवपुरुष !' विक्रमका स्वर हताश---शिथिल हो गया—'आप-जैसे कल्पतरुके समीप भी विक्रम विफलकाम षी बना रहा।'

'सम्राट् ! सृष्टिकर्ता सोद्देश्य सृजन करता है। जब जिसका दायित्व समाप्त हो जाता है, उसे यहाँसे चले जाना पड़ता है। ऐसा न होता तो मृत्युकी सत्ता ही नहीं होती।' दुर्दम किसी ऋषिके समान गम्भीर वाणीमें बोल रहा था—'विदेशी आततायी दमित हौकर शान्त हो गये। आतङ्कसे प्रजाको परित्राण मिल चुका। आराध्य पीठोंपर सुर-प्रतिमाएँ और गृहोंमें सतियाँ सुरक्षित हो गयीं। प्रजाको परदुःख-कातर शकारि-जैसा शीलसम्पन्न, धर्मज्ञ सम्राट् प्राप्त हो गया। अब दस्यु दुर्दमकी तो कोई आवश्यकता सृष्टिकर्ताके समीप भी नही है। यह स्वयं स्थान नहीं छोड़ेगा तो सर्वेश्वरके नियम यह सहन करेंगे ? अतः आप स्वस्थचित्त अवन्तिका पधारें !'

'विक्रम अवज्ञाका दुःसाहस नहीं कर सकता; किन्तु अभागा ही रहा !' सम्राट्ने शीघ्रतापूर्वक झुककर उसके चरण छू लिये। वे सिर झुकाये

शिथिल पदोंसे लौट चले। थोड़ी दूर जाकर फिर घूमकर देखा उन्होंने। सम्भवत: वे हाथ जोड़कर एक बार और अभिवादन करना चाहते थे; किन्तु हरित तृणोंपर पड़ा दुर्दमका केवल कवच चाँदनीमें चमक रहा था। दुर्दम वहाँसे चला गया था।

शकारिके लिए रात्रि-जागरण अस्वाभाविक नहीं था। वैसे भी वे रात्रिमें प्रजाका छिपकर निरीक्षण करनेमें प्रसिद्ध थे; किन्तु दूसरे दिनके प्रभातने उन्हें बहुत दुःखी किया।

'सम्राट् ! अशुभ-समाचारके लिए क्षमा करें !' दिनके प्रथम प्रहर-की समाप्ति ही हुई थी कि महामन्त्री आ गये। उनका वेष अस्त-व्यस्त था। स्वर भरा हुआ था। नेत्रकी अश्रुधारा किसी प्रकार रोकी थी उन्होंने। 'एक किरात अभी आया है। उसका कहना है कि क्षिप्रातटपर सूर्योदयके समय देवपुरुष दुर्दमने पद्मासनसे बैठकर देह-त्याग कर दिया। उनका शरीर थोड़ी ही देर पीछे स्वयं कर्पूरके समान जल गया।'

'हम उन देवोत्तमको जलाञ्जलि देंगे।' शकारिने नेत्र पोंछनेकी भी आवश्यकता नहीं मानी। वे तत्काल सिंहासनसे उठ खड़े हुए।



काला पहाड़—

असम और सम्पूर्ण बंगाल (बंगलादेश) सहित-में अब भी काला पहाड़का नाम आतङ्क उत्पन्न करता है। अत्यन्त क्रूर मन्दिर-ध्वंसीके रूपमें वह जाना जाता है। वैसे उसने नर-संहार भी कम नहीं किये।

'काला पहाड़'—यह नाम उसको लोगोंने दे दिया था; क्योंकि उसका शरीर स्थूल होनेके साथ असाधारण विशाल था और कोयलेके समान वर्ण था उसका।

वह धोखे-से मुसलमान बना लिया गया था। इसमें बनानेवालोंका उतना दोष नहीं था, जितना हिन्दू-समाजकी कट्टरता, अज्ञता और अविचारिताका। यह भी कोई बात है कि किसी कूप या सरोवरके सम्बन्ध-में सच्ची-झूठी कोई अफवाह फैल जाय कि उसमें किसीने गो-रक्त या गो-मांस डाल दिया था तो अनजानमें उसका जल उपयोग करनेवाले सब धर्म-बहिष्कृत मान लिये जायँ।

कोई समाज इतना अज्ञ और संकीर्ण हो जाय, तब उसकी दुर्बलता-का लाभ दूसरे उठावेंगे? चाहे जितनी दुःखकी और अयोग्य बात हो, भारतके अतीतमें ऐसा सैकड़ों स्थानोंमें हुआ, इतिहास इसका साक्षी है। ऐसे समय समाज-बहिष्कृत व्यक्ति कितना असहाय हो जाता होगा, अनुमान किया जा सकता है।

काला पहाड़ ऐसे ही किसी काण्डका आखेट हो गया। उसने बहुत प्रयत्न किया, इतिहासकार तो कहते हैं कि उसने किसी भी प्रायश्चित्तकी तत्परता दिखलायी, कितना भी व्यय करनेको उद्यत हुआ; किन्तु उस समयके अत्यन्त संकीर्ण विद्वन्मन्य वर्गने कुछ स्वीकार नहीं किया। उनकी समझमें अनजानमें आयी यह अशुद्धि इतनी बड़ी थी कि मरणान्त-प्रायश्चित्त-से कम उन्हें कोई उपाय सूझा ही नहीं।

आप किसीको एकमात्र उपाय अग्निमें जल मरना बतावेंगे तो वह आपपर प्रसन्न होगा या आपका स्वागत करेगा? काला पहाड़के मनमें आक्रोश जागा, प्रतिहिंसाकी आग भड़की। हिन्दू-समाजसे उसे घृणा हो गयी। यह कहाँ अस्वाभाविक थी?

काला पहाड़का यह अपमान, यह वहिष्कार बहुत महँगा पड़ा। वह उद्धत हो गया। उसने भरपूर बदला लेनेकी शपथ ली। अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार वह हिन्दू-समाजको समाप्त ही कर देनेमें जुट गया।

काला पहाड़ शूर था, शक्तिशाली था, सम्पन्न था और उसका सम्मान था। यह तो ऐसा हो हुआ कि तलवार उत्कृष्ट चुनी, सान धरायी और अपने कट्टर शत्रुको सौंप दी। उस समयके शासक दिल्लीके सूबेदार होते थे असम-बंगालमें। उन्होंने काला पहाड़का स्वागत किया। उसे सेना दी और प्रोत्साहन दिया। यह होना ही है—जो यह नहीं समझ सके, उनकी समझको क्या कहा जाय।

काला पहाड़ स्वयं शक्तिशाली था। शरीर और शस्त्र-संचालनमें उसकी समता नहीं थी। उसे सैनिक मिल गये, ऐसे सैनिक जिनको लूटना, मारना, मन्दिर ध्वस्त करना प्रिय था। शासकका समर्थन ही नहीं, प्रोत्साहन प्राप्त हो गया। काला पहाड़ प्रचण्ड हो उठा।

'काला पहाड़ आ रहा है !' समाचारसे ही नगरतक सूने हो जाते थे, ग्रामोंकी गणना कौन करे; क्योंकि काला पहाड़ अपने सैनिकोंको केवल एक आज्ञा देना जानता था—'इस बस्तोकी हस्ती मिटा दो !'

बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष और पशु जो भी मिल जाते तलवारकी घाट उतार दिये जाते। घरोंको पहले लूट लिया जाता और फिर अग्निकी भेंट कर दिया जाता। काला पहाड़ अपने पीछे धू-धू करते ग्राम-नगर और उसमें से शवोंके जलनेकी दुर्गन्धिसे पूर्ण उठता धुआँमात्र छोड़ता जाता था।

काला पहाड़–जैसे सचमुच कोई सचल ज्वालामुखी पर्वत हो जो जनपदोंको कुचलता-जलाता घूम रहा हो। वह स्वयं न लूटमें भाग लेता था और न स्त्रियोंमें उसका आकर्षण था; किन्तु अपने सैनिकोंको इससे रोकनेकी चेष्टा भी उसनें नहीं की।

काला पहाड़के विशेष लक्ष्य बने देव-मन्दिर। जहाँ भी मन्दिर थे, वे नगर-ग्राम भाग्यहीन सिद्ध हुए। मन्दिरोंका तो चिह्न भी उसे चिढ़ाता था। वह हिन्दू-धर्मके किसी प्रतीकको सह नहीं पाता था।

'काला पहाड़ आ रहा है। नगर सुनसान हो जाते थे। लोग पैदल, अश्व या छकड़ोंपर जो ले जाया जा सकता हो, लेकर चल देते थे। अरण्य ही एकमात्र शरण थे।

योजनोंतक भागती भयत्रस्त भीड़ ! प्राणभयमें कोई सामग्री या स्वजन सँभाल पाता है ? शरीर ही बचासेके लाले पड़ें तो पशुओंको कैसे देखा जाय।

इस भगदड़ने काला पहाड़को अधिक क्रुद्ध किया। उसे रोगी, अत्यन्त वृद्ध, शिशु या भागनेमें असमर्थ सगर्भा स्त्रियाँ ही प्राय: जनपदोंमें मिलती थीं। वह इनमें किसीको जीवित नहीं छोड़ता था; किन्तु खीझ बढ़ती थी उसकी। उसके सैनिक—वे पिशाच भी उत्तरोत्तर उद्धत होते गये। उन्हें लूटमें कम महत्त्वका माल मिलता है, यह उनको क्रुद्ध करता था।

काला पहाड़को आप पशु कहें, पिशाच कहें या मृत्युदूत कहें, वह अपनी प्रतिहिंसासे प्रेरित था। दूसरा कोई प्रयोजन उसका था नहीं। कोई होता तो सम्भव था कि उसकी पूर्तिपर वह विरमित होता; किन्तु उसके हृदयमें अग्नि जल रही थी। वह ग्रामों-नगरोंको उजाड़ता घूम रहा था।

'काला पहाड़ आ रहा है।' यह संवाद उस छोटे ग्राममें भी पहुँचा। अरण्यके समीपका छोटा ग्राम। काला पहाड़ वहाँ क्या लेने आ रहा है, पूछना व्यर्थ था। काला पहाड़ तो प्रलयका अन्धड़ था। अन्धड़ चलता है तो छोटे या बड़े नगरको बचाता है ?

अब समाचार बहुत पहले प्राप्त हो जाता था; क्योंकि काला पहाड़ वर्षोंसे देशकी विपत्ति बना था। उसे न कोई रोकनेवाला था, न उससे कोई पूछनेवाला। उसकी पिशाच-सेना जिधर चल पड़ी, उधरसे कहाँ जाकर मुड़ेगी, कुछ पता नहीं होता था। अत: उस दलके प्रयाणकी दिशाके नगर-ग्रामोंमें कई सप्ताह पूर्व भगदड़ प्रारम्भ हो जाती थी। अनेक बार ऐसे सुनसान ग्रामोंके समीपसे काला पहाड़ निकल गया। अनेक जनपद उसके भागे निवासियोंको पीछे सुरक्षित मिलते थे। लेकिन मरणके मुखमें जान-बूझकर तो कोई जाता नहीं।

'काला पहाड़ आ रहा है।' समाचार बहुत पहले मिल गया था। ग्राम छोटा था, अरण्य समीप था, अत: सुरक्षाके सम्बन्धमें सोचने, सम्मति करनेको समय प्राप्त था। ग्रामके पुरुष एकत्र हुए। उस समय पुरुष ही ऐसे समय निर्णय करते थे। स्त्रियोंकी सम्मति नहीं ली जाती थी। उन्हें केवल अनुगमन करना था।

दुर्गम अरण्यमें जलकी सुविधा ज्ञात थी। ग्रामके सब लोग वहाँ रह सकते थे और इतना समय था कि सब सामग्रीं एवं पालतू पशु भी ले जाये

जा सकें। इस सुयोगको त्याग देना कोई उचित नहीं कह सकता था। दूसरे ही प्रभातमें सम्पूर्ण ग्रामको सूना छोड़ देना निश्चित हो गया। अवश्य कुछ तरुण शेष सामग्री दुबारा आकर छकड़ोंपर ले जायँगे, यह भी निर्णय हो गया।

'मैं अपनी आराध्याको छोड़कर कहीं नही जाऊँगा।' ग्राममें एक छोटी-सी कालीबाड़ी थी। उसका अकेला दुर्बलकाय पुजारी आड़ गया।

मनुष्यता मरी नहीं थी। विपत्ति आयी थी, बड़ी थी; किन्तु सहसा सिरपर नहीं कूदी थी। अतः वृद्ध, रोगी, शिशु, असमर्थोंको पहले शकटोंसे भेजना निश्चित हुआ था। कालीवाड़ीका पुजारी सम्मानित होनेसे पहले भेजा जा रहा था; किन्तु वह नहीं गया तो उसे समझानेका प्रयत्न चलता रहा। साथ ही ग्रामके शकट भी अरण्यमें ओझल होते रहे।

'काला पहाड़ क्रूर पिशाच है। वह आसन्नप्रसवा नारियोंको भी नहीं छोड़ता तो आप-जैसे ब्राह्मणको छोड़ेगा?' ग्रामके लोगोंके वशमें समझाना ही था।

'मेरी शिखा, मेरा यज्ञोपवीत, मेरा तिलक—सब उसे क्रुद्ध करेगा, यह जानता हूँ।' पुजारी अडिग था—'किन्तु काला पहाड़की कृपा मुझे चाहिये कब? कालीको यदि मेरी बलि चाहिये तो मैं बलि-पशु बनूँगा। यह मुण्डमालिनी यदि अपनी मालामें मेरे सिरको स्थान देती है तो मेरा अहो-भाग्य।'

और किसीको तो बलि-पशु बनना नहीं था। पुजारीको छोड़कर सबको जाना पड़ा। वह प्रतिमाको भी ले जानेके पक्षमें होता तो लोग यह कर लेते; किन्तु वह तो प्रतिष्ठित प्रतिमाको उठानेके भी पक्षमें नहीं था।

काला पहाड़को आना था, आया। कालीबाड़ी पहुँचा तो बहुत क्रुद्ध था। बहुत क्रोधभरे थे उसके सैनिक। वे एक तो इस छोटे गाँवतक आये और दूसरे यहाँ कोई नहीं मिला। किसी घरमें दो मुट्ठी चावल या एक पशु भी नहीं।

'कहाँ गये गाँवके लोग?' काला पहाड़ चिल्लाया। उसके सैनिकोंने तलवारें खींचीं; किन्तु पुजारी मौनी बन गया था। उसने मुख नहीं खोला। उसे छोड़ देनेका प्रलोभन दिया गया, तब भी नहीं।

काला पहाड़ धैर्य रखकर अनुनय करनेवाला नहीं था। गाँवके भागे

लोगोंका पता लगानेका भी उसे प्रयोजन नहीं था। पुजारी मन्दिरके द्वारपर अड़ा था, यह उसे असह्य था।

'गाँवको फूँक दो!' उसने सैनिकोंको आदेश दिया। तलवारके एक झटकेसे पुजारीका सिर कटकर मूर्तिके सम्मुख जा पड़ा। अन्तिम बार उसने पुकारा था—'माँ! मैं असहाय हूँ।'

काला पहाड़ मूर्ति-भञ्जन करने भीतर पहुँच गया। अब यह कहना कठिन है कि वह भीतर क्या कर सका। उसे बहुत शीघ्र भागना पड़ा। सम्भवत: उसके आदेशसे पूर्व ही उसके मूर्ख सैनिकोंने ग्राममें आग लगा दी थी। फूसके झोंपड़ोंका ग्राम और हवाका ऐसा वेग कि काला पहाड़ मन्दिर में पहुँचा, तबतक वह मन्दिर—कालीवाड़ी लपटोंकी गोदमें पहुँच चुका था।

काला पहाड़ झुलस गया। उसके वस्त्रोंतक अग्नि पहुँच गयी थी। उसके सैनिकोंमें अनेक जल मरे। वह स्वयं अपने जलते वस्त्र उतारकर भागा और किसी प्रकार अश्वतक पहुँचा।

पता नहीं, उस बनके समीपके गाँवके झोंपड़े कैसे तृणोंसे बने थे। वहाँ जिनको भी धुआँ लगा, सब अन्धे हो गये। काला पहाड़ स्वयं तड़प-तड़पकर मरा। उसके शरीरमें असह्य जलन उत्पन्न हो गयी। उस समयके हकीम उसे अच्छा नहीं कर सके।

ग्रामवासी पीछे लौटे; किन्तु उन्हें तो कालीबाड़ीमें पुजारीकी भस्म ही मिली।



भट्ट भैरव--

अपनेको तान्त्रिक कहना-लिखना आजकल बहुत सरल हो गया है; किन्तु वीर-सिद्ध तान्त्रिक सुननेमें भी नहीं आता। कहीं कोई हो तो मुझे पता नहीं।

कुछ चेटककी सिद्धियाँ, लाल वस्त्र और अटपटा ढंग किसीको तान्त्रिक नहीं बना देता। पहली बात, यदि शरीर ढीला है, काया कोमल है, तोंद थोड़ी भी है तो आप समझ लें कि वह तान्त्रिक नहीं है।

किसी कठोर काया, नेत्र अङ्गारसे जलते और अत्यन्त कृष्णवर्ण, यह भट्ट भैरव था। ऐसा व्यक्ति, जिसे सम्भवतः मनुष्यमात्रसे चिढ़ थी। इतना कर्कश स्वर कि साधारण भी बोले तो डाँटना लगता था। उसके समीप जाते बड़े-बड़े थर्राते थे।

श्मशानके समीप सरिता-तटपर उसकी गुफा थी। सम्भवतः कगार खोदकर स्वयं उसने बनायी होगी। कितनी गहरी थी, कौन बतला सकता है। उस रहस्यमयी गुफाके समीप जाते भय लगता था।

'क्रां क्रीं क्रू, भट्ट भैरव ऐसा ही कुछ बड़बड़ाता रहता था। कटिमें केवल लाल कोपीन और बिखरे-उलझे केश। उसके कठोर शरीरसे सम्भवतः शीत भी भयभीत था।

भट्ट भैरव समीपके बाजारमें जाता था। उसे देखते ही स्त्रियाँ बालकोंको लेकर घरमें भागती थीं। युवकतक द्वार बंद कर लेते थे। दूकानदार और दूसरे लोग हाथ जोड़े सिर झुकाये खड़े रहते थे। किसका साहस था कि भट्ट भैरवकी ओर सीधे देखे।

भट्ट भैरव कभी याचक नहीं बना। वह आदेश देता था, किसीको भी दे सकता था—'सिंदूर सवा पाव' अथवा 'मलाई पाँच सेर।' वह नारियल ही नहीं, उड़द, पीली सरसों और सुरातक ऐसे ही लेता था। वह आज्ञा करे, वह उपस्थित कर दो! उससे कुछ कहनेका साहस किसीमें नहीं था। लाल वस्त्रमें बाँधकर वह सामग्री रख दो! भट्ट भैरव उसपर हाथोंसे अनेक मुद्रा बनावेगा, कुछ पढ़ेगा और फिर स्वयं उठा ले जायगा।

दूसरे आराधकोंकी तो बात छोड़ दो, कामाख्या पीठके कुलाचार्य-तक भट्ट भैरवका नाम सुनकर हाथ जोड़कर श्रवण-स्पर्श करते थे। उनका कहना था—'वे साक्षात् भैरव हैं—भवानीके अपने पुत्र। उनके इङ्गितपर अट्ठाईस वीर दौड़ते हैं। वे वीर, जो पलक मारते मनुष्यको मूलीके समान समूचा चबा लेते हैं।'

आप जानते हैं कि ऐसे प्रवाद बहुत बढ़ाकर कहे गये होते हैं; किन्तु इतना सत्य है कि भट्ट भैरव वीर-सिद्ध था। सम्भव है, एकाधिक वीर उसके वशमें हों। लेकिन वह अनेक बार अपनी गुफाके बाहर अपने कर्कश स्वरमें स्तुति करते सुना गया—

कालीं त्रिनेत्रवदनां विनिमुक्तकेशां
खट्वाङ्गखड्गहस्तां विकरालवेशाम्
रक्ताङ्गलिप्तनग्नां नृकरोटिहारां
वन्दे शवाधिरूढां मनसैव ताराम् ॥

आप यदि कर्मशास्त्रसे कुछ भी परिचित हैं तो भट्ट भैरवको पहचाननेमें आपको कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

दस्यु दुर्दमकी उग्रताने उसे कालीवाड़ीके पुजारीके रूपमें जन्म दिया। उसमें दृढ़ आस्था बनी रही और वह शान्त, सर्वोपकारी भी था; किन्तु काला पहाड़ने उसका शिरच्छेद किया। कालीके प्रति असीम आस्था और अपनी असहायताका अनुभव लेकर वह मरा। अब भट्ट भैरवके रूपमें भी वह ताराका आराधक है। उसे सामर्थ्य प्राप्त हो गयी है। अब वह अपनी मुण्डमालिनीको नरमुण्ड अर्पित करता है।

'अपना छाग उपस्थित करो!' अकस्मात् भट्ट भैरवने बाजारमें पहुँच-कर एकको एक दिन आदेश दिया।

जिसे आदेश दिया गया था, दोनों हाथ जोड़े काँपता खड़ा हो गया। उसके मुखसे भयके कारण शब्द नही निकल पा रहे थे।

'भट्ट भैरव प्रतिवाद सुननेका अभ्यस्त नहीं है।' भट्ट भैरवने गर्जना की।

'प्रभो! प्रतिवाद नहीं करता, यदि छाग होता।' वह लगभग घिघिया रहा था। उसे भय था कि कहीं छागके स्थानपर उसीकी बलि न दे दी जाय।

'तुम्हारे पास छाग नहीं है ?' भैरवने घूमकर उसे देखा। ऐसी भूल कैसे हुई ? भट्ट भैरव तो अविद्यमानको उपस्थित करनेका आदेश नहीं देता।

'था प्रभो !' उसने गिड़गिड़ाकर कहा—'अभी आज ही कम्पनीकी कोठीका साहब बलपूर्वक ले गया।'

'अच्छा, ये ललमुहें अब भट्ट भैरवके भागको भी ले जानेका साहस करने लगे हैं।' मनुष्य इतना विकट अट्टहास भी कर सकता है, यह उस दिन उन लोगोंने देखा। भयके कारण आस-पासके लोग काँप उठे—'छागके स्थानपर भगवती ललमुहेंकी महाबलि माँगती है।'

उन दिनों बंगालमें कम्पनीका शासन स्थापित हो गया था। स्थान-स्थानपर कम्पनीके अंग्रेज अधिकारियोंकी कोठियाँ थीं। उनमें प्रत्येक अपने-आपमें निरङ्कुश शासक था। भारतीय सिपाही उनके आज्ञापालक थे। किसीसे कुछ छीन लेना, किसीके साथ कैसा भी कठोर व्यवहार करना और कुछ भी अकरणीय कर बैठना अंग्रेजोंके लिए साधारण बात थी। देशी काले-लोगोंको उत्पीड़ित करना तो उनका विनोद था।

'किसी अंग्रेजकी बलि दी जायगी !' कल्पनासे बाहरकी बात। 'यदि कुछ ऐसा हुआ, इस बस्तीका नाम भी बचा रहेगा ?' अनेक लोग आतङ्कके कारण हाथ जोड़े आगे आ गये।

'उन ललमुहोंकी कोठीमें कोई नचनिया भी है ?' भट्ट भैरवने पूछा। पता नहीं, क्यों भट्ट भैरव कभी किसी कण्ठीधारी वैष्णवको कोई आदेश नहीं देता। वह नाम-कीर्तन करनेवाले वैष्णवोंको तिरस्कारपूर्वक भले 'नचनिया' कहे; किन्तु उनसे दूर रहना चाहता है।

'नहीं'। एकने कहा—'उन सर्वभक्षी साहबोंसे वैष्णव घृणा करते हैं। कोई वैष्णव प्राण जानेके भयसे भी त्राण पानेको उनकी सेवा नहीं करेगा।'

'कोई किसी ललमुहेंके सम्बन्धमें कुछ पूछे तो कह देना—भट्ट भैरव जानता है।' भट्ट भैरवने आश्वस्त होकर कहा। वहीं थोड़े सर्षपके पीले दाने लिये उसने और कुछ पढ़कर एक ओर फेंक दिये।

भयंकर समाचार—कम्पनीकी कोठीका बड़ा साहब रात्रिसे नहीं है। छोटे साहब गुस्सेसे पागल हो रहे है। संतरीने उन्हें बतलाया है—'रातमें बड़े साहब कोठीसे अकेले निकले। वे जैसे आधी नींदसे उठे हों, अपने सोनेके कपड़ोंमें ही ऊँघते-जैसे चले गये। संतरीके सैल्यूटका भी उन्होंने उत्तर नहीं दिया।'

कोई अंग्रेज सोनेके कपड़ोंमें चल दे, असम्भव बात लगती है छोटे साहबको। पूछ-ताछको भेजे सिपाही कहते हैं कि साहब भट्ट भैरवकी गुफाकी और जाते देखे गये। भट्ट भैरवके सम्बन्धमें अनेक बातें ये अन्धविश्वासी काले लोग कहते हैं। अंग्रेज ऐसी बातोंसे डरते तो इतने दूर देशपर शासन करने आते?

'मैं यहाँके सब कालोंको तोपसे उड़वा दूँगा।' छोटे साहबने अपने साथ गोरे सैनिक लिये। काले अन्धविश्वासी सिपाहियोंपर ऐसे समय विश्वास नहीं किया जा सकता। केवल एक बंगाली ब्राह्मण साथ लिया उन्होंने। भट्ट भैरवसे कुछ पूछना हो तो दुभाषिया चाहिये।

भरी बंदूकपर संगीन चढाये छोटे साहबके साथ सात गोरे सैनिक और वह ब्राह्मण भट्ट भैरवकी गुफापर पहुँचे। छोटे साहब पूरी सेना ले जाते, यदि वहाँ उपलब्ध होती; किन्तु वहाँ इतने ही गोरे सैनिक थे।

'बड़ा साहब इधर आया?' छोटे साहबने ही अपनी टूटी-फूटी हिन्दी-में पूछा—'सच बोलना, नहीं तो तुमको शूट करेगा।'

'आया!' भट्ट भैरव गुहासे बाहर ही मिला था। उसने अट्टहास किया—'तुम्हें क्या चाहिये, उसका सिर या शरीर?'

'समूचा साहब!' इस बार साथ आया पण्डित बोला।

'ब्राह्मण, बलि-पशु समूचा नहीं बचा करता।' भट्ट भैरवने डाँटा—'तुझे छोड़ता हूँ, भाग जा!'

सचमुच ब्राह्मण भागा और भागता चला गया। उसने पीछे मुड़कर भी नहीं देखा।

हलचल मच गयी अंग्रेजोंकी कलकत्ता कोठीमें और मद्रासमें कम्पनी गवर्नरके यहाँ भी। छोटे साहबकी बड़ी विचित्र रिपोर्ट पहुँची थी।

'उस भयंकर साधुने अँगुली हिलायी। हम सब हिलनेमें भी असमर्थ हो गये। उसने क्या कहा, समझमें नहीं आ सकता था; किन्तु हम उसकी गुफामें ऐसे चले गये, जैसे खींचकर ले जाये गये हों। उफ! बड़े साहबका सिर कटा पड़ा था और धड़ घसीटकर फेंक दिया गया था बाहर। यह मुझे उसी साधुने दिखलाया। उस धड़को जानवर और गीध नोच रहे थे।'

'मैं ठीक कह नहीं पा रहा हूँ। उस साधुने कुछ होठ हिलाकर कहा, कोई चीज बिखेरी और पूरे सात कंकाल कहींसे आ गये। बिना चमड़ेके

सिर्फ हड्डीके चलते-फिरते ढाँचे। उनकी आँखोंके गड्ढोंसे लपटें निकलती थीं। मैं क्यों बेहोश नहीं हो गया—आश्चर्य है मुझे।'

'इन्हें चबा लो!' साधुने कहा और उन भूतोंने मेरे सैनिकोंको शलगमके समान चबा लिया। वहाँ न खून गिरा, न हड्डीका टुकड़ा बचा।'

'तू बच गया। भाग जा!' उस साधुने कहा। 'शायद उसके पास सात ही शैतान हैं और वह उनमें एकको दो आदमी नहीं दे सकता था। मैं वहाँसे भाग आया। भूतोंसे भरे इस देशसे मैं पहले जहाजसे लौट जाना चाहता हूँ। कम्पनीकी सेवा मुझे नही करनी।'

अंग्रेज अधिकारी उतावलीमें कुछ कर बैठनेके अभ्यासी होते तो भारतमें इतनी बड़ी सफलता नहीं पाते। अंग्रेजोंकी परम्परा ही है—'पहले पता लगाओ, पीछे कुछ करो।' अंग्रेज गवर्नर मद्राससे कलकत्ता आ गया। उसने जासूस नियुक्त किया। जासूसने कोठीतक आकर सबके बयान लिये। जनपदमें पूछ-ताछकी और चला गया।

'हम कुछ नहीं कर सकते।' जासूसने रिपोर्ट दे दी—'मुझे विश्वास है कि साधुमें अद्भुत शक्ति है। मैंने उसे दूरसे देखा है।'

'हम उसकी गुफा और उस बस्तीको तोपोंसे उड़ा देंगे।' गवर्नर गुस्सेसे चक्कर काट रहा था।

'आपकी तोपोंकी मार कितनी दूरतक है?' जासूसने ठण्डे स्वरमें कहा—'उसके शैतान सौ मीलकी दोड़ आसानीसे लगा लेंगे। हो सकता है कि हमारी तोपें यहाँसे चलें, तभी उसे पता लग जाय।'

'उसके पास सात शैतान हैं।' गवर्नरने गणित समझाया—'वे सिर्फ सात आदमी एक बार खा सकते हैं।'

'झूठी बात।' जासूस बोला—'उनमें हर एक बारमें एक हजार या एक लाख खा ले सकता है। उसने सिर्फ आपको सूचना देनेके लिए आपका एक आदमी जान-बूझकर छोड़ दिया।'

'ओ गॉड!' गवर्नर सिरपर हाथ रखकर बैठ गया। ऊपरसे सबने समझा, अंग्रेज डर गये। अंग्रेज डर तो सचमुच गये थे; किन्तु गवर्नर जानता था कि कम्पनीके डायरेक्टर उसे क्षमा नहीं करेंगे। शासन रोबसे होता है। रोब गया तो इस दूर देशमें अंग्रेज टिक नहीं सकते। भट्ट भैरवके समान

और भी साधु होंगे। भट्ट भैरव छोड़ दिया गया तो वे रोब ही समाप्त कर देंगे।

अंग्रेजोंके पास बहुत साधन थे। देशी राजा-रईस थे और उन राजा-रईसोंके अपने पण्डित-पुरोहित थे। भट्ट भैरवका सामना करनेवाला कोई तो होगा। गवर्नरने प्रयत्न प्रारम्भ किया। देशी राजाओंने आश्वासन दिया। अन्वेषण होने लगा।

भट्ट भैरवका नाम सुनकर तन्त्रसिद्ध हाथ जोड़ते थे। अन्तमें नवद्वीप-के एक वृद्ध गोस्वामिपाद प्रस्तुत हुए। आश्चर्य कि उन्होंने किसीसे कोई द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया। केवल एक अंग्रेज तरुणके साथ वे भट्ट भैरवकी गुफापर पहुँचे!

'तू क्यों आया? यह कौन?' भट्ट भैरव चिल्लाया।

'आपके योग्य यह स्वरूप नहीं है।' गोस्वामिपाद शान्त बोले—'आप जानते हैं कि मरकर उपासक अपने देवताओंका ही परिकर होता है। आप वीर या बैताल बनना चाहेंगे?'

'तेरी शक्ति मुझसे अधिक है। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा पीठ शक्तिहीन हो रहा है। मेरे वीर तेरे समीप नहीं पहुँच सकते।' भट्ट भैरव अक्खड़ रहकर भी शान्त हो रहा था—'तू क्या चाहता है? यह कौन है?'

'ये वैष्णवधर्मके जिज्ञासु हैं। इनकी चिन्ता आप छोड़ दें।' गोस्वामिपाद बोले—'मैं चाहता हूँ, आप श्रीकृष्णकी शरण लें!'

'श्रीकृष्ण!' भट्ट भैरव कहते ही गम्भीर हो गया—'जैसे सोतेसे जाग गया हो। तू यहीं खड़ा रह।'

गोस्वामिपाद भी कुछ समझ नहीं सके। भट्ट भैरव अपनी गुफामें गया। दो-क्षण पीछे गुफासे अग्निकी लपटें निकलने लगीं।



जॉन हेनरी–

अत्यन्त सीधी बात है—भट्ट भैरव उन गोस्वामिपादके साथ आये युवकको देह-त्यागके समय भी भूल नहीं सका था। अतः भारतमें उत्पन्न न होकर इग्लैण्डमें उत्पन्न हुआ। उसी तरुणका पुत्र बना; किन्तु उसके अपने संस्कार कहाँ जाते ? बचपनसे ही उसे भारत देखनेकी धुन चढ़ी।

उस समय किसी अंग्रेजके लिए भारत आना कठिन नहीं था। कठिन यह था कि जॉन हेनरी कोई नौकरी स्वीकार नहीं करना चाहता था। वह स्वतन्त्र अध्ययन करनें आना चाहता था।

भारतमें कम्पनीका शासन समाप्त हो गया। यहाँका प्रथम स्वाधीनता-संग्राम विफल हो गया। संघर्षके संचालक और सिपाही कुचल दिये गये। गोलियोंसे उड़ा दिये गये या फांसीपर लटका दिये गये। यह सब हुआ भारतीयोंके ही द्वारा। मुट्ठीभर अंग्रेज क्या कर लेते ? लेकिन देशी राज्य और नमकहलाल बननेका मिथ्याभिमान भारतीयोंके द्वारा भाइयोंको ही मारनेका अस्त्र बना।

दिल्ली-दरबारका आयोजन हुआ तो जॉन हेनरोको भी आनेंका अवसर मिल गया। जॉन यहाँसे लौट जाने तो आया नहीं था, संस्कृत सीखनेमें लग गया। वह यहाँके अंग्रेज अधिकारियोंका सजातीय था। सब प्रकारकी सुविधा उसे सुलभ हुई। संस्कृत सीखनेमें और भी अंग्रेज लग गये थे। जॉनको उनका भी सहयोग मिला।

भाषा तो जॉन शीघ्र सीख गया। वह संस्कृत और हिन्दी भी बोलने लगा; किन्तु उसे साधना करनेकी धुन चढ़ गयी। वह भारतीय साधुओंके पास भटकने लगा।

जॉनको तान्त्रिक बहुत मिले, बहुत चमत्कारी; किन्तु चमत्कारोंमें अन्य यूरोपियोंके विपरीत उसकी आस्था नहीं थी। वह कह देता था—'यह बहुत छोटी वस्तु है।'

उसनें योग तथा दर्शनका अध्ययन किया था। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता था। दूसरी ओर उसका पूर्व-संस्कार-भावित अन्तःकरण कहता

था—'उपासना बड़ी है। वैष्णव-उपासना महान् है।' उसने इस दिशामें जितना अध्ययन किया, उसकी धारणा दृढ़ होती गयी।

जॉन हेनरीको अंग्रेज अधिकारी 'पागल' भले कहते थे; किन्तु वे कंगाल रहे, यह उनको अपना जातीय अपमान लगता था। तत्कालीन वायसरायने नीचेके अंग्रेज बड़े अधिकारियोंको निजी पत्र भेज दिये थे कि वे हेनरीका ध्यान रखें। उसे असुविधा न हो। देशी अधिकारियोंके लिए तो उस समय अंग्रेजमात्र स्वामी था। हेनरीकी सुख-सुविधा जुटाकर वे अपनेको धन्य मानते थे। अतः हेनरीको कभी आर्थिक अभाव नहीं हुआ।

बड़ी कठिनाई हुई साधनाको लेकर। कोई अच्छा साधु उसे शिष्य बनाना स्वीकार ही नहीं करता था। उसे तान्त्रिक दीक्षा लेनी नहीं थी। श्रीशंकराचार्यका निर्गुण-तत्त्व उसकी समझमें नहीं आता था और जो उपासक साधु थे, पूछते थे—'तुम किस कुलके हो? तुम्हारी श्रद्धा किसमें है?'

जॉन यह जानता था कि ईसाई-पादरी, चाहे कैथोलिक हों या, प्रोस्टेटैण्ट, सबको अपने सम्प्रदायकी दीक्षा दे देते थे। किसी मुसलमान मौलवीको भी किसीको कलमा पढ़ानेमें कठिनाई नहीं। भारतमें ही अनेक ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो शीघ्र दीक्षा दे देते हैं; किन्तु ये उपासक साधु तो अद्‌भुत ही हैं।

हेनरी मुग्ध था इस तथ्यपर कि उपासकोंको आराध्य जो उसे मानो, बन जाता है। ऐसा आश्वासन तो दूसरा कोई दे नहीं सकता।

बहुत पूछ-ताछपर एक बड़े विद्वान्ने उसे बतलाया—'आप जिस उपासना-कुलके होंगे, केवल उसीका आचार्य आपको दीक्षा दे सकेगा।'

'उपासना-कुल! इग्लैण्डमें ऐसा कुछ नहीं है।' जॉन हैरानीसे बोला।

'मेरा तात्पर्य आपके पूर्वजन्मोंके उपासना-संस्कारोंसे है?' पण्डितने स्पष्ट किया।

'इसका पता कैसे लगेगा?' यही तो समस्या थी; किन्तु जहाँ चाह है, वहाँ राह निकल ही आती है। जॉन हेनरीको एक वृद्ध संत मिल गये। उन्होंने कुछ देर ध्यान करके बड़े स्नेहसे उसे समझाया—'वत्स! तुम्हारी पूर्व निष्ठा बहुत स्पष्ट नहीं है। तुमने स्वयं उसे मिटा दिया है। अब तुम एक काम करो! तीर्थयात्रा कर आओ! काञ्ची और श्रीरंगम् जाओ!

वाराणसी, अयोध्या, मथुरा हो आओ ! देखो कि कौन-सा स्थान और कौन-सा आराध्य तुम्हें अधिक आकर्षित करता है।'

जॉनने यह आदेश स्वीकार किया। समय लगा, श्रम हुआ; किन्तु भारत-भ्रमण हो गया। वह अपनी ओरसे भी अनेक स्थानोंमें हो आया। आश्चर्य यह कि इससे उसकी समस्या और उलझ गयी।

'मुझे काञ्चीके दोनों स्थान प्रिय लगे। एकाम्रेश्वर और वरदराज दोनों। श्रीरंगमें भी यही हुआ। श्रीरंग और जम्बुकेश्वर—दोनोंमें आकर्षण लगा।' जॉन तीर्थयात्रासे लौटकर उन वृद्ध संतको सुनाने लगा—'वाराणसी पहुँचकर मुझे लगा, विश्वनाथ और अन्नपूर्णा मेरे अपने माता-पिता हैं। ऐसा अनुभव दक्षिण भारतमें ठीक नहीं हुआ था। लेकिन ठीकयही अवस्था मेरी अयोध्या पहुँचकर हुई और मथुरामें भी लगा कि मैं यहींका हूँ।'

संत गम्भीर हो गये। उन्होंने फिर ध्यान किया और अन्तमें उसे नाम-जपका आदेश दे दिया।

जॉन हेनरी नाम-जपमें लगा। वह भारतमें आकर अबतक वृद्ध-प्राय हो चुका था। इतने समयमें उसने साधु-सङ्ग, तीर्थयात्रा, शास्त्राध्ययन ही किया था। उसे नाम-जपने बहुत शीघ्र संतुष्ट कर दिया।

'कितनी सीधी बात; अल्पज्ञ, अल्पप्राण जीवका अहंकार ही तो है कि वह कुछ करेगा, कुछ बनेगा।, हेनरी प्रायः स्वयं-से ही कहता था—'कृष्ण तो दयामय है। उसपर छोड़ दो ! वह जो बनावे, बननेको प्रस्तुत रहो ! कुछ करना ही हो तो उसका नाम लो ! उसका स्मरण करो ! वह पर कहाँ है। वह तो अपना है।'

जॉन हेनरी भारत आनेसे पूर्व ही निरामिषभोजी हो गया था। यहाँ आकर तो वह अंग्रेज अधिकारियोंका अतिथि होनेपर ही काँटा-चम्मच काममें लेता था। पीछे तो वह इसे भी छोड़ चुका था। अन्तमें गङ्गा-किनारे उसे महीनोंतक अकेले भटकते देखा गया।

बड़ी कठिनाई हुई जिलाधीशको। ऊपरसे आदेश था कि 'हेनरीकी देख-रेख की जाय; किन्तु उसे कष्ट न हो। उसकी इच्छाके विपरीत उसे तंग न किया जाय।' ऐसेमें एक दिन बुरा समाचार मिला। छान-बीन करके उन्हें रिपोर्ट भेजनी पड़ी—

'कई सप्ताहसे जॉन हेनरी पागल हो गये थे। वे किसी भी आदमीको देखते ही भाग खड़े होते थे। गङ्गाके किनारे अकेले बैठे रहते थे। उन्हें तकलीफ न हो, इसलिये उनकी निगरानीपर रखे सिपाहियोंको उनसे दूर रहना पड़ता था।'

'सिपाहियोंसे थोड़ी गलती हुई लगती है, पर वे भी विवश थे। हेनरी तेज धूपमें जा बैठे थे। सिपाहियोंको बहुत दूर पेड़की छायामें बैठना पड़ा। हो सकता है कि सिपाही वहाँ सो गये हों या कहीं खाने-पीने थोड़ी देरको चले गये हों; लेकिन वे इस बातको स्वीकार नहीं करते हैं।'

''सिपाहियोंको पता नहीं कि हेनरी कब मर गये। उधरके गाँवके लोग उनको 'साहब बाबा' कहने लगे थे। शायद चरवाहोंने हेनरीको मरा देखा। ये गाँवके अशिक्षित लोग कुछ जानते नहीं। वे चरवाहे तो दस-बारह वर्षके लड़के बतलाये जाते हैं। उन सबोंने लकड़ियाँ इकट्ठी कीं और चिता बनाकर हेनरी साहबका मुर्दा उसमें फूँक दिया। सिपाही जबतक पहुँचें, लाश जल चुकी थी।'

'सिपाही देरसे पहुँचे, यह सत्य है। नदी-किनारे गाँवके लोग मुर्दे जलाते ही रहते हैं। सिपाहियोंने सोचा, ऐसा ही कोई मुर्दा जलाया जा रहा है। सबसे हैरानीकी बात है कि उन जलानेवाले लड़कोंमें किसीका पता नहीं लग रहा है। शायद डरके कारण गाँवके लोग कुछ नहीं बतला रहे हैं। मैं स्वयं वहाँ जा रहा हूँ।'

जिलाधीश आये। पुलिसके बड़े अधिकारी आये। गाँवके लोग डराये--धमकाये गये; किन्तु पता एक भी लड़केका नहीं लगा। शायद जिलाधीश अधिक तंग करते गाँवके लोगोंको, परन्तु ऊपरसे आदेश आ गया—'छानबीन बंद कर दी जाय।'

पागल हेनरी मर गया तो उसके शवका क्या हुआ, इसकी अधिक चिन्ता अंग्रेज अधिकारीको अनावश्यक लगी। जॉन हेनरी इग्लैंण्डमें कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति नहीं था।

मुनीन्द्र—

अपरिचित है आपका मुनीन्द्र; किन्तु आप पहचान सकते हैं, यदि कह दिया जाय कि वस्तुतः यह भद्र है—भद्रसेन। सुभद्र, वृश्चिक, वनराज, दुर्दम, चण्डी-पुजारी, भट्ट भैरव और जॉन हेनरीके क्रमसे जन्म धारण करता वह मुनीन्द्र बन गया है।

आप अपरिचित भी रहें तो कुछ नहीं बिगड़ता, न उसका, न आपका। वह कोई विशिष्ट व्यक्ति है भी नहीं। वह संसारमें कोई बड़ा कार्य करने नहीं आया, केवल कुछ स्वजनोंको समेटने आया है। वह न आचार्य, न कारक पुरुष, न सिद्ध। उसमें संसार क्यों रुचि ले?

सुभद्रसे ही एक परम्परा प्रारम्भ हो गयी। माता-पिताकी सेवा या उनका सुख किसी जन्ममें नहीं मिला। मुनीन्द्रको मिल जाता तो परम्परा टूटती; किन्तु टूटी नहीं। उसको तो कोई कुटुम्बी नहीं मिला।

कभी-कभी किसीके मनमें कोई साधारण बात भी जमकर बैठ जाती है। न यह बात सदा होती, न सबके सम्बन्धमें होती। वृक्षसे टपक-कर गिरता फल सब देखते हैं; किन्तु इसे देखकर न्यूटन कौन बन पाता है? मुनीन्द्रने किसी साधुसे किसी प्रसंगमें सुन लिया—'जिसका कोई नहीं होता, भगवान् होता है।'

बात गहरे जाकर जम गयी। मुनीन्द्र कहने-मानने लगा—'मेरा कोई नहीं है, अतः कन्हाई मेरा है।' आप कह सकते हैं कि यह मान्यता मिथ्या है या कृष्ण इसे अस्वीकार ही कर देगा?

मुनीन्द्रके सम्बन्धमें यह बात अच्छी ही हुई, ऐसा भी नहीं है। इसका कुपरिणाम भी हुआ। स्वभावसे क्रोधी और अत्यन्त उतावला मुनीन्द्र अनुत्तरदायी बन गया। सावधानी अनावश्यक लगने लगी। भय स्वभावमें किसी जन्ममें नहीं था तो अब कहाँसे आता; किन्तु अपने क्रोधकी भी उपेक्षा करने लगा।

कुतूहली स्वभाव जन्मोंकी परम्परासे प्राप्त हुआ; लेकिन श्रम करना स्वीकार नहीं हुआ; क्योंकि—'कन्हाई करेगा' यह आधार बन गया, भले आप इसे कितना भी कोसें और अनुचित मानें!

साधनके क्षेत्रमें भी कुतूहल काम करता है, यह सुना नहीं गया। स्वयं श्रीकृष्णने गीतामें अभ्यास और वैराग्यको अनिवार्य बतलाया। महर्षि पतञ्जलि अभ्यासके लिए आवश्यक मानते हैं—'**दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवित**।'

मुनीन्द्र कहता है और उसपर अविश्वास करनेका कारण नहीं है; क्योंकि अपने कथनका प्रचार करके उसने पूजा-प्राप्त करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया। वह अद्भुत बातें कहता है। उसका कहना है—'साधन भी कन्हाईको आवश्यक लगना चाहिये। उसे आवश्यक न लगे ऐसा साधन किया क्यों जाय ? उसे आवश्यक लगे तो करा ले अथवा स्वयं करे।'

मुनीन्द्र महोदय भटकते न हों, ऐसा नहीं है। भरपूर भटकते हैं—भटकते रहे हैं; किन्तु भयभीत न होनेकी जैसे शपथ ही खाली हो। उनकी खोपड़ीमें कब, कौन-सा उपाय आविर्भूत होगा, कहा नहीं जा सकता।

बात तबकी है, जब वनवासियोंतक शहरी-सभ्यताकी गन्ध भी नहीं पहुँची थी। चित्रकूटके जंगलमें मुनीन्द्र चल पड़ा विना किसी लक्ष्यके। ऐसे वनमें भटकनेवाला भूल जाय, यह बनी-बनायी बात है। प्यास लगी और पानीका पता नहीं। बढ़ते जानेके अतिरिक्त उपाय नहीं; क्योंकि पीछे तो पानी बहुत दूर छूट चुका था।

सँकड़ा पहाड़ी मार्ग। एक ओर आकर दो वनवासी कुल्हाड़ियाँ लिए खड़े हो गये। वे वहाँ किसीको काट दें तो उनका कुछ बिगड़ेगा ? कितनी ही हत्याएँ इस प्रकार वनोंमें होती रहती हैं। पेडोंको काटनेके अभ्यस्त हाथ अवसर मिलनेपर कुछ साधारण वस्त्र तथा थोड़े पैसोंके लोभसे भी मनुष्यका कण्ठ काट देते हैं। प्रमाणके अभावमें पुलिस क्या करे ?

मुनीन्द्रके वस्त्र स्वच्छ और हाथमें झोला। वनवासी कैसे समझें कि कोरा ठनठनपाल है ? आप ऐसी परिस्थितिमें पड़ जायँ (भगवान् करे, कभी न पड़ें) क्या करेंगे ? पीछे लौटकर भागना व्यर्थ; क्योंकि वनवासियोंसे अधिक वेग आवश्यक होगा। दोनों ओर सघन कँटीली झाड़ियाँ। वनवासियों-के समीप होकर--सटकर ही आगे बढ़नेका एकमात्र मार्ग।

मुनीन्द्र महाशय न भागे, न हिचके। वे साधारण गतिसे चलते गये। वनवासियोंको जैसे उन्होंने देखा ही न हो। जब चार पद दूर रह गये, झोलेमें हाथ डालकर टॉर्च निकाल ली और वनवासियोंकी ओर तानकर

जला दी। जैसे टॉर्च न होकर कोई मशीनगन हो। उन बेचारोंने काहेको कभी टॉर्च देखी होगी। वे घबराकर भागे और कहीं काननमें अदृश्य हो गये।

वे तो वनवासी थे; किन्तु चित्रकूटके वनमें बाघ और तेंदुए भी तब थे। उनमें-से भी कोई मार्गमें मिल जाता तो शायद मुनीन्द्र ऐसा ही कुछ करता; क्योंकि उसके झोलेमें टॉर्चके अतिरिक्त केवल कपड़ा था। कोई हिंस्र पशु मिला नहीं। मिल जाता तो पता नहीं, वह वनवासियोंके समान भागता या मुनीन्द्रका भोग लगा लेता। लेकिन मुनीन्द्र कहता है—'कन्हाई आता है कुछ भी बनकर आवे और वह इतना भोला है कि रूप कोई बना ले, उसे भागना ही हो तो केवल अँगुली कड़ी करके हिलानाभी पर्याप्त है।'

'जासु त्रास डर कहुँ डर होई।' भजन प्रभाउ देखावत सोई॥'

मानस १।२२४।७

मुझे मानसकी यह अर्धाली स्मरण आ रही है; किन्तु भला आदमी भजन भी तो करता हो? इसे तो केवल भोजन करना आता है और अपने ऊट-पटांग कुतूहलोंमें उलझे रहना।

'मुझे किन्हींको ढूँढना है। प्रयत्न कर रहा हूँ।' चाहे जिसे चिढ़ा देगा या छेड़ देगा और कोई बिगड़े तो कहेगा—'बिगड़नेवाला स्वयं ही तो बिगड़ता है। मेरा क्या कि मैं चिन्ता करूँ। मेरा बिगड़ना-बनना कन्हाईके हाथमें सुरक्षित है। वह नटखट बतलाता नहीं तो मैं जिन्हें समेटना है, उनकी खोज अपने ही ढंगसे तो करूँगा। इसमें भूलकी बहुत सम्भावना है। बहुतोंको असंतुष्ट होना है; किन्तु मैं भी तो विवश हूँ।'

'नंगा खुदासे चंगा' आपने सुना है यह? मैंने तो एक कथा भी सुनी है। कभी शनैश्चरको सनक चढ़ी। ये सूर्य-सुत स्वयं पिताका संकोच नहीं करते तो दूसरेका क्या करेंगे। अतः पहुँच गये काशी। भगवान् सदाशिवसे हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो! आपके तृतीय नेत्रके समान ही मेरी दृष्टि भी है। अतः आप उसे खोलेंगे तो संघर्ष उत्पन्न होगा। सम्भव है, सृष्टि ही समाप्त हो जाय।'

'वत्स! अभी प्रलयकाल नहीं आया; लेकिन तुम क्यों आये हो?' आशुतोषने पूछा।

'आप यहाँ पृथ्वीपर वाराणसीमें विराजमान हैं।' शनैश्चरके स्वरमें अकड़ थी—'पृथ्वीपर रहनेवालोंपर मैं साढ़े वर्ष शासन करता हूँ।'

'उत्तम बात है।' भोलेबाबा बोले—'उमाको पितृगृह छोड़े बहुत दिन हो गये। वे नन्दीपर आरूढ़ जायँगी। हिमालयमें उसे भी हरित तृण सुलभ होंगे। मैं समाधिमें बैठता हूँ; तुम अपना शासन चलाओ!'

'जो मैं कर सकता हूँ, आप स्वयं वह करने जा रहे हैं।' शनैश्चरकी हेकड़ी हवा हो गयी। हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाये—'इससे अधिक कुछ मैं कर भी क्या सकता हूँ, आप मुझे क्षमा करें!'

मुनीन्द्र महोदय भी लगभग ऐसे ही हैं। इनके समीप धरा क्या है कि कोई कुछ बिगड़ेगा। एक दिन एक ज्योतिषीसे ही भिड़ गये—'पण्डित-जी! यह मीन-मेष ही निकालते रहोगे या मधुसूदनका भी कुछ पता है?'

'भैया! कौन-से मधुसूदन?' पण्डितजीने अपना पञ्चांग समेटते हुए कहा—'सेठ मधुसूदनमलने मुझे इससे पहले तो कभी स्मरण नहीं किया।'

'सेठको सोंठ बनने दीजिये।' मुनीन्द्र अपनी झकमें थे—'आपके नव-ग्रहोंकी बात करता हूँ। कन्हाईके श्वसुर हैं आपके सूर्यनारायण और शनैश्चर सगा साला है।'

'सो तो हैं।' पण्डितजीको इस चर्चाका सिर-पैर कुछ पता नहीं लगता था। उन्होंने समर्थन कर दिया—'मङ्गल भी भू-पुत्र होनेसे उनका पुत्र ही है। उन रमाकान्तका श्यालक ही शशि होता है और बुध श्यालक-पुत्र।'

'तब आप राहु-केतुको लेकर चाहिये।' पता नहीं क्यों मुनीन्द्र आज पण्डितजीके पीछे पड़ गया—'बृहस्पति-शुक्र शान्त स्वयं हैं। भले आपके सजातीय हों, कोई कदाचित् ही आपसे उनकी शान्ति करावे।'

'छीः-छीः! ब्राह्मणको चाटनेके लिए असुर-ग्रह ही बचे हैं।' पण्डित-जीने मुँह बनाया—'ये भी उन चक्रपाणिके चिन्तनसे चिन्तित ही रहते हैं। उन्होंने इन्हें चक्रसे काट फेंका था। हम तो उनके आश्रयपर पलते हैं, जो उन सर्वेश्वरको छोड़कर भटक रहे हैं।'

'पण्डितजी, प्रणाम!' मुनीन्द्र प्रसन्न हो गया—'मेरा अपराध, अविनय क्षमा कर दें।'

'अपराध कैसा भैया !' पण्डित सरल थे, निष्ठावान् थे—'आप सत्य ही तो कह रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्रके चरणाश्रितको ग्रहोंकी चिन्ता करनेकी कभी आवश्यकता नहीं होती।'

'कन्हाईने अघ, अरिष्ट, नरक—सब द्वापरमें ही मार दिये।' मुनीन्द्र कहता है—'बेचारे ग्रह तो सगे-सम्बन्धी हैं, अँगूठा तो दिखा दिया उसने सुरपति और सृष्टिकर्ताको भी।'

'यह सब सत्य होनेपर भी आपको इससे लाभ ?' कृपा करके आप इस प्रकार कभी मुनीन्द्र मिल ही जाय तो उससे उलझनेका साहस न करें। वह बहुत अक्खड़ है। जो सुरोंकी ही गणना नहीं करता, वह पता नहीं, आपको क्या कह दे।

'कन्हाई मेरा है। आवश्यक होगा तो वह सहस्रबार वह सब पुनः करेगा, जो उसने कभी किया था।' आप किसीके ऐसे विश्वासको झुठला नहीं सकते।

'मुझे कुछ स्वजनोंको समेटना है।' मुनीन्द्र अब कहता है—'कुछको तो कन्हाईने मेरा-सम्पर्क सुलभ कर दिया है, शेषकी चिन्ता वह स्वयं कर-लेगा।'

कौन पूछे—'जब कन्हाईको ही यह सम्पर्क भी सुलभ करना है तो आपका अन्वेषण क्या अर्थ रखता है ? आपकी विशेषता कहाँ बचती है।'

कोई पूछ ही ले तो मुनीन्द्र क्या कहेगा, आपको बता दूँ ? कहेगा—तू बुद्धू है। इतना भी नहीं जानता कि तत्त्व तो निर्विशेष है, विशेषता सब कन्हाईसे ही आती है।'



स्वप्न-सूचना—

असाधारण झक अनेक बार मुनीन्द्रको चढ़ी है। जो केवल कुतूहलके लिए काम करता रहा है, उसे कोई झक चढ़े तो आश्चर्यकी बात तो है नहीं। अरण्यमें रहता है—अद्भुत झक। अब जैसे जनपद काटते हों। सबने—सब परिचित सुहृदोंने समझा लिया; किन्तु अपने ही मनकी करनी है।

झक चढ़ी भी और समाप्त भी हो गयी। कैसे समाप्त हुई ? केवल एक स्वप्न देखकर। सबके समझानेसे जो बात समझमें नहीं आयी, वह स्वप्नने समझा दी। ऐसा सशक्त स्वप्न।

सुरसरिको तैरकर पार किया। तीव्र प्रवाह था; किन्तु पाट कम चौड़ा था। थोड़ा ही बहकर किनारे लग गये। कुछ मील पैदल चलकर पुलसे भी पार हो सकते थे; किन्तु यह झगड़ा कौन करे।

वस्त्र दूसरे थे ही नहीं। आधी धोती निचोड़कर पहनी और आधी सुखा ली। अभी अरण्यका आरम्भ भी नहीं हुआ था, पुलिन पार करके कगारपर पहुँचे थे कि वनके हाथियोंका दल आ गया। यूथप सूँड उठाकर वायु सूँघता सीधे सामने आया।

भागकर प्राण-बचानेकी वृत्ति होती तो वनमें आता ही क्यों। स्थिर खड़ा रहा। यूथप समीप आ गया, तब बोला—'गजेन्द्र ! क्या बात है ?'

यूथपने सूँड़ उठाकर सिरसे लगाकर शब्द किया। लगा कि स्वागत कर रहा है। उसने सूँड़से पैर छू लिये। वह तो सूँड़ मोड़कर संकेत करता रहा; किन्तु देर लगी उसका संकेत समझनेमें। जब समझमें आया, उसकी मुड़ी सूँड़पर पैर रखकर खड़ा हो गया। हाथीने सूँड़ उठा दी; अतः उसके कान पकड़कर वह गर्दनके पास पीठपर जा बैठा। हाथी ऐसा झूमा, मानो उसे बड़ा पुरस्कार मिला हो।

हाथी उसे लेकर मुड़ पड़ा। उसके साथ पीछे दूसरे हाथी भी लग चले। वैसे तो वह गज स्वयं वृक्षोंकी शाखाएँ बचाता जा रहा था; किन्तु मुनीन्द्रको भी बहुत सावधान रहना पड़ा। गजकी पीठपर प्रायः झुककर

चिपके ही रहना पड़ा। ऐसा न करता तो आहत हो जाता। हाथी यह अनुमान नहीं कर सकता था कि मुनीन्द्रके पीठपर बैठनेसे उसको कितनी ऊँची शाखाओंके नीचेसे निकलना चाहिये।

यह यात्रा पूरी हुई। पर्वतके ठीक पद-प्रान्तमें एक शिलासे सटकर गज खड़ा हो गया। उसने सूँड़ उठायी। मुनीन्द्र समझ गया। हाथीका कान पकड़कर, सूँड़पर पहुँचा और शिलापर उतर गया। 'यहाँ क्यों ले आये ?' हाथीसे पूछे, इससे पहले ही वह हाथी मुड़कर चल पड़ा। दूसरे गज भी साथ चले गये। लगा कि सब प्यासे ही चले आये थे; अब पानी पीने जा रहे हैं।

मुनीन्द्र हाथियोंको देख रहा था। उसके पीछेसे भालूके भलभलाने-का शब्द आया। मत पूछिये कि भालू किधरसे आ गया ? वह तो अरण्य था, वैसे भी स्वप्नमें सब सम्भव होता है।

मुनीन्द्रने मुड़कर देखा। उस शिलासे पीठ सटाये बहुत बड़ा भालू भलभला रहा था। इस बार संकेत समझनेमें कठिनाई नहीं हुई। शिलासे भालूकी पीठपर आ गया। वहाँ भी उसके बाल पकड़कर सँभालकर बैठना पड़ा; क्योंकि वह सीधे पहाड़पर चढ़ता जा रहा था।

भालू उसे लिये पहाड़के शिखरतक चढ़ गया। कई मील ऊपर-ही-ऊपर चलता रहा। अन्तमें दूसरी ओर उतरने लगा। मन प्रसन्न हो उठा पर्वतोंसे घिरी उस सुरम्य घाटीको देखकर। हरे-भरे वृक्षोंके मध्य कदली-कुञ्जोंसे घिरी स्फटिक-स्वच्छ जलसे परिपूर्ण झील थी। वृक्षोंमें पक्व फल लदे थे।

भालूने झीलके किनारे उतारा। वह स्वयं झुककर जल पीने लगा। सरिता तैरनेमें मुनीन्द्रका स्नान हो ही गया था, किन्तु यहाँ उसने चुल्लूमें जल लेकर मुख धोया। जल पीता रहा। उसने नहीं देखा कि उसे लानेवाला भालू कब, किस ओर चला गया।

अचानक पासके पर्वत-मध्यसे एक श्वेत जटा-श्मश्रु मुनि उतरते दीखे। इतने वृद्ध कि उनके रोमतक श्वेत हो चुके थे। खड़ाऊँ खटकाते वे मुनीन्द्रके समीप आ गये तो मुनीन्द्रने उन्हें भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया।

'वत्स ! वहाँ गुहामें तुम्हारी प्रतीक्षा हो रही है।' आशीर्वाद देकर वे बोले—'तुम्हें स्वयं फल तोड़नेका श्रम नहीं करना है। मैं तुम्हारा मार्ग

देखता ही अबतक यहाँ रुका था। अब मैं आगे जा रहा हूँ। तुम गुफामें जाओ ! वहाँ तुम्हारे आहारकी व्यवस्था है। तुम यहाँ चाहे जबतक रहो, कोई कष्ट नहीं होगा।'

मुनि तो चले गये। मुनीन्द्र गुफाकी ओर चला। बहुत चढ़ायी नहीं थी। गुफा-द्वारपर पहुँचते ही दो परिचित मधुर कण्ठोंने स्वागत किया—'आइये !'

मुनीन्द्र चौंक गया। वह द्वारपर खड़ा देखता रह गया। उसने पूछा—'तुम दोनों यहाँ ?'

'हमें देवर सबेरे ही पहुँचा गये हैं।' दुबली और छोटी कायावाली ह्रस्वा उत्फुल्ल होकर कहने लगी—'देवर कहते थे कि आप अरण्यमें आ रहे हैं। आपकी सेवामें भी तो कोई रहनी चाहिये।'

यह ह्रस्वा स्वभावसे भी बालिका ही रहती है। इसे कन्हाई ठीक ही 'खिलौना भाभी' कहता है। ताम्राके साथ ही लगी रहती है। ताम्रा भी इसे अनुजाके समान स्नेह करती—सँभालती है।

ह्रस्वा और ताम्राने उसकी चरण-वन्दना कर ली थी। ताम्राने आसन लगा रखा था। वह पत्ते डाल चुकी थी और उसपर व्यञ्जन सजानेमें लग गयी थी।

'देवर हमें पहुँचाकर फिर आये थे। वे यह सब धर गये हैं।' ह्रस्वाने बतलाया—'कह गये हैं कि प्रतिदिन वे स्वयं सब आवश्यक सामग्री पहुँचा दिया करेंगे।'

अचानक मुनीन्द्रकी निद्रा टूट गयी। उसके उठनेका समय हो गया था; लेकिन जागकर भी वह चौंका ही। वह रातमें कोपीन लुंगी लगाकर सोया था; उसके शरीरपर इस समय धोती क्यों है ? सम्भवतः उसे सोते-सोते चल देने और कुछ करनेका रोग हो गया है। नींदमें उठकर ही उसने धोती पहनी होगी। दूसरा कोई समाधान सम्भव नहीं है।

उठकर मुनीन्द्रने अपना नित्यकर्म सम्पन्न किया। स्नान किया। करता सब रहा; किन्तु बहुत गम्भीर हो गया। उसका मन उससे कहने लगा—'अरण्यमें जाकर दो-दो पत्नियोंकी गृहस्थी बसानेसे इसी प्रकार यहाँ रहना अच्छा नहीं है ?'

'कन्हाई कितना सुकुमार है। वह क्या सेवा लेनेयोग्य है?' मन और भी बहुत कुछ कहता रहा—'वह हठी कितना है। अरण्यमें रहोगे तो वह सेवा किये बिना मानेगा? वह तो प्रलय-पर्यन्त सेवा करता रह सकता है।'

मनका स्वभाव है कि कुछ कहने लगता है तो बातूनी बच्चेके समान बोलता ही चला जाता है। मुनीन्द्रका मन उस दिन वाचाल बन गया था। वह बोलता ही चला गया। पता नहीं, कितनी बातें कह डालीं उसने।

मुनीन्द्र हार गया। कहना कठिन है कि अपने मनसे हार गया या अपने कन्हाईसे; किन्तु उसकी अरण्यमें जानेकी झक मिट गयी। फिर उसने किसीसे भी अरण्यमें जानेकी कभी चर्चा नहीं की।

मुनीन्द्रने स्वप्नमें देखे उस सुरम्य स्थलको भी ढूँढ़नेका कोई प्रयत्न नहीं किया। आप जानते हैं कि स्वप्नमें देखे स्थल और पदार्थ जागकर ढूँढ़ना पागलपन होता है। मुनीन्द्र पागल बनना पसंद नहीं करता।

'कन्हाई बहुत नटखट है। उसने मुझे स्वप्नमें दिखा दिया कि मैं अरण्यमें जाऊँ तो वह क्या करनेवाला है।' मुनीन्द्र मानता है कि यदि वह अपनी झकपर अड़ा रहा तो स्वप्नके सत्य होनेमें संदेह करना बुद्धिमानी नहीं होगी।

'कहीं नहीं होगी वह झील। पर्वतकी क्रोड़ीमें भी उतने पक्व फल हों तो वन-विभाग पता लगाकर पहुँच जायगा।' मुनीन्द्र यह समझकर भी कहता है—'कन्हाई कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको बनाने-बिगाड़नेकी क्रीड़ा करता ही रहता है। वह मन करेगा तो उसे एक झील और सुरम्य घाटी प्रकट करनेमें कोई दो-चार दिन लगने हैं? वह उसे अनन्तकालतक बनाये रह सकता है और वनवासी तथा वन-विभागसे बचाये भी रह सकता है।'

मुनीन्द्रके तर्क भले ठीक हों या न हों, उसकी झक अवश्य समाप्त हो गयी है।



मुनीन्द्र मर गया—

अपनेको अमृतपुत्र माननेवाला मुनीन्द्र मर गया; लेकिन शरीर तो किसीका अमर हुआ नहीं करता। शरीर मरणधर्मा है। उसे मरना था—मर गया। मुनीन्द्र शरीरका नाम था, इसलिये मुनीन्द्र मर गया ! मुनीन्द्र-ने तो कभी अपनेको शरीर माना नहीं था। वह अपना नाम भी मुनीन्द्र स्वीकार नहीं करता था। कहता था—'मुनीन्द्र तो मात्र संज्ञा है संसारका व्यवहार चलानेके लिए।' वह व्यवहार शरीरके साथ समाप्त हो गया तो निष्प्रयोजन होनेसे संज्ञा समाप्त हो गयी। इसलिये ठीक ही है—मुनीन्द्र मर गया।

मुनीन्द्र मर गया ? अमृतपुत्र मुनीन्द्र मर भी सकता था ? हम-आप सब अमृतपुत्र ही तो हैं। आपने कभी अपने मरणका अनुभव किया है ? स्वप्नमें किया भी हो तो अपने शरीरके मरनेका अनुभव किया होगा। आप ही मर गये होते तो अनुभव कौन करता ? आप मरा नहीं करते। आप तो अमृतपुत्र हैं।

शरीर मरा करता है। शरीरकी संज्ञा—नाम होता है। वह संज्ञा मरा करती है। मुनीन्द्र मर गया—मुनीन्द्रका शरीर मरा, संज्ञा मुनीन्द्र मरी; किन्तु मुनीन्द्रमें जो अविनाशी अमृतपुत्र था ? वह तो कभी था—भूत होता ही नहीं। वह तो सदा है, वर्तमान ही रहता है। मुनीन्द्र मर गया—अमृतपुत्र तो है ही, वह कभी मरता नहीं।

मुनीन्द्र मर गया। मरनेके लिए वह बहुत उत्सुक था। आपको विचित्र लगता है ? मरनेके लिए उत्सुक—ऐसा भी कोई होता है ? मुनीन्द्र विचित्र ही था। सबसे पृथक्-सबसे विचित्र।

'जब प्राणी पृथ्वीपर आनेका अपना प्रयोजन पूरा कर लेता है, वह मर क्यों नहीं सकता ?' यह मेरी नहीं, मुनीन्द्रकी बात है। वह झल्लाता था—'सृष्टिकी यह क्या विवशता है कि प्राणी प्रयोजन पूरा करके भी पड़ा रहे।'

'मेरा प्रयोजन तो पूरा हो गया।' यह मुनीन्द्रकी मान्यता थी। आवश्यक तो नहीं कि सृष्टिका संचालक उससे सहमत ही होता; लेकिन

वह कहता था—'मैं जिनको समेटने आया था, उनका सम्पर्क कन्हाईने सुलभ कर दिया। उसे जो कुछ कराना था—वह भी हो गया। अब कोई शेष भी होंगे तो वह स्वयं सँभाल लेगा। अब तो मेरी कोई आवश्यकता नहीं है।'

मुनीन्द्र यहीं भूल करता था। सृष्टि-संचालकको तो प्राणीका शरीर सड़ानेकी भी कभी-कभी आवश्यकता होती है। खमीर उठाना हो तो आटेको सड़ाना पड़ता है। सृष्टि-संचालकको प्राणोंमें खमीर उठाना पड़ता होगा। वह प्राणीका शरीर सड़ाता ही क्यों, यदि कोई परिणाम उसे प्राप्त न करना होता।

एक महात्माका कहना था—'भगवान् मङ्गलमय हैं। उनका प्रत्येक विधान मङ्गलप्रद ही होता है।'

मुनीन्द्र मर गया—मङ्गल हुआ, अच्छा हुआ। यह सत्य ही होगा, ऐसी आस्था तो की जा सकती है; किन्तु बात अटपटी है। क्या अच्छा हुआ? मुनीन्द्र तो किसीका कुछ बिगाड़ नहीं रहा था। वह किसीपर भार नहीं था।

'मोटा होना बुरी बात है।' मुनीन्द्र अटपटी बातें करनेका अभ्यासी था। कहता था—'मरनेपर उठानेवाले कोसते हैं।'

यह भी कोई बात हुई? लेकिन वह अपने शरीरके मोटापेके विरुद्ध हाथ धोकर पड़ा रहता था।

'मरना चाहिये श्मशानमें या सरिताके किनारे।' जैसे यह भी आदमीके अपने वशकी बात हो। लेकिन मुनीन्द्र तो कहता था—'मुझे पता लग जाय कि अब मरना है तो यदि मैं चलनेयोग्य न भी होऊँगा तो सवारी मँगाकर श्मशानमें जा सोऊँगा। किसीको शव उठानेका कष्ट क्यों सहना पड़े।'

सुना है, कभी बंगालमें मरणासन्नको गङ्गातटपर 'हरिबोल' कहकर जल डालने पहुँचाते थे। अपने-आप कोई मरणासन्न कहीं श्मशान जानेको उद्यत हुआ हो, यह सुना नहीं गया। मरणासन्नको मृत्युके समय कुछ सुविधा चाहिये या श्मशान जाना? मुनीन्द्रकी उलटी खोपड़ीको क्या कहा जाय।

'काले च देशे च मनो न सञ्जयेत् ।' (२.२.१५)

भागवतमें कहा तो गया योगीके लिए; किन्तु मुनीन्द्रने गाँठ बाँध ली। ऐसा ही होता तो लोग मरनेका अभिप्राय लेकर काशीवास करते ? भीष्मपितामह उत्तरायणकी प्रतीक्षामें शरशैयापर पड़े रहते ?

शास्त्रमें देश---तीर्थस्थल और काल--उत्तरायणादिकी जो महिमा है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; किन्तु मुनीन्द्र ठीक ही कहता था। जब मृत्यु अपने वशमें नहीं, तब अमुक स्थानपर मृत्यु हो, अमुक कालमें मृत्यु हो, इस आग्रहका अर्थ भी क्या ? मुनीन्द्र कहता था—'यह आग्रह मरण भी बिगाड़ देता है।'

जो देश, जो काल आप अपने मरणके लिए उत्तम नहीं मानेंगे—कहीं उसीमें मृत्यु आयी तो पश्चात्ताप, दुःख होगा या नहीं ?

'मरनेके पीछे शरीरका क्या हो ? मूर्खताभरी चर्चा।' मुनीन्द्र बहुत झल्लाता था इस चर्चासे अथवा किसीकी भव्य-समाधि देखकर। अन्त्येष्टिका भारी उपक्रम सुनकर। उसे इस सबसे चिढ़ थी।

'मल-मूत्रके रूपमें शरीरका कितना अंश जीवनमें निकल गया, कोई गणना करता है ?' मुनीन्द्र कहता—'नख, केश, कफ, पित्त कितना निकला, इसे भी छोड़ दो। मच्छर-खटमल कितना रक्त पी गये, कब रोग या डाक्टर-ने कितना अंश काटा-गलाया ! चमड़ा छूटता रहा। दाँत टूटे। सैकड़ों मन सामग्री शरीर बनती और बाहर जाती रही। अन्तमें शेष बचे थोड़े-से माँस-अस्थि आदिके लोथड़ेकी इतनी चिन्ता। जैसे पहले मलादिको किसने खाया या वह जला नहीं देखा गया, अन्तमें बचे अंशका भी वैसा ही कुछ तो होना है।'

मुनीन्द्रकी बात तो समझदारीकी है; किन्तु संसारमें सब समझदार हो जायँ तो सृष्टि-संचालक अपना सिर पीटेगा। संसार तो चलता ही अज्ञानसे—समझदारीके अभावसे है।

मुनीन्द्र मर गया। मरनेवाला चला गया तो कोई रोवे या हँसे। उसकी मृत्युका संवाद समाचारपत्रोंमें छपे, शोक-सभाएँ हों, भव्य समाधि बने या कोई न जाने कि कहाँ कौनेमें कब समाप्त हो गया—मरनेवालेको इससे क्या अन्तर पड़ा करता है।

'मच्छर या मक्खी मरती है तो उनके समाजमें कोई मातम मनाया जाता है ?' मुनीन्द्रके तर्क विचित्र। जैसे उसे पता ही हो कि मच्छर मरनेपर शेष मच्छर क्या करते हैं। लेकिन वह धड़ल्लेसे कहता—'मनुष्य अपने अहंकारसे अपनेको महान् मान बैठा। मूर्खताभरी बातें करता है। किसीके मरनेसे संसारमें क्या अन्तर पड़नेवाला है। तुमने कोई स्मारिका बनायी कभी कि कितनी चींटियाँ कब मरती हैं ? ऐसे ही समष्टिका संचालक तुम्हारे मरने-जीनेकी चिन्ता करता होगा ?'

मुनीन्द्र मर गया। मरनेके सम्बन्धमें उसकी अपनी धारणाएँ थीं। अपनी विचार-शैली थी। वह पहलेसे मरण-समुत्सुक था; अतः उसने मृत्युको लेकर भरपूर चिन्तन किया था।

मुनीन्द्र मर गया; किन्तु अकस्मात् मरनेपर भी वह मृत्युको अप्रस्तुत मिला—ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह कहा ही करता था—'मृत्यु कभी आवे, मुझे सदा प्रस्तुत पावेगी।'

मुनीन्द्र मर गया। विना इस चिन्ताके मर गया कि मरनेके बाद उसका क्या होगा। विना इस चिन्ताके ही आज अधिकांश लोग मरते हैं; किन्तु इसलिये ऐसी स्थितिमें मरते हैं; क्योंकि उनका परलोकपर विश्वास नहीं है अथवा इस लोकमें इतनी आसक्ति है कि परलोकके लिए कुछ करनेका उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। जिन्हें कुछ अवकाश मिलता है और परलोकपर आस्था भी है, वे तो उसके सम्बन्धमें चिन्ता भी करते ही हैं।

मुनीन्द्र मर गया—लेकिन जब जीवित था, तब भी तो वह चिन्ता नहीं करता था। चिन्ता करना उसने सीखा कहाँ था। परलोकपर उसकी पूरी आस्था थी। कहना तो यह चाहिये कि इस लोकपर ही उसकी आस्था नहीं थी। ऐसी अवस्थामें उसके सम्बन्धमें उसीकी बात ठीक होनी चाहिये। वह कहता था—'इस लोकमें मेरे लिए जो आवश्यक है, कन्हाई करता ही है, तब परलोकके लिए वह नहीं करेगा, इस अविश्वासका तो कोई कारण नहीं।'

मुनीन्द्र मर गया; किन्तु 'कन्हाई करेगा' की उसकी आस्था मर गयी—ऐसा कहनेका साहस आप किसीमें है ? आप परलोक भी स्वीकार करेंगे और उसकी आस्थाको अस्वीकार कर देंगे, ऐसा सम्भव है ?

मुनीन्द्र मर गया। मरना सभीको है; किन्तु यह सच नहीं है कि केवल एक बार मरना पड़ता है। हिन्दू-धर्म तो जन्म-मरणका अनवरत-क्रम मानता है। इस क्रमकी समाप्तिका नाम ही 'मोक्ष' है। जीवनमें भी अनेक बार मृत्यु धमकाया करती है। समीप आकर लौटती है। जैसे बिल्ली पंजे पकड़नेके पश्चात् मूषकको मारनेसे पूर्व कई बार छोड़नेका खेल करती है। आप अपने जीवनके किसी अवसरका स्मरण कर सकते हैं? कुछ स्मरण है कि उस समय आप कातर हो उठे थे या मुस्कुराकर मृत्युका स्वागत करनेको प्रस्तुत थे? स्मरण नहीं है तो आप कैसे मुनीन्द्रकी मृत्युको समझेंगे?

मुनीन्द्र मर गया। लेकिन मुनीन्द्र तो मृत्युके स्वागतमें भी विश्वास नहीं करता था। वह तो मृत्युको भी अँगूठा दिखलाता उसके साथ चलनेको प्रस्तुत रहनेकी बात करता था। वह सच्चा नहीं था, यह आक्षेप उसपर कभी किसीने नहीं किया।

मुनीन्द्र मर गया। कैसे मरा? आप जाननेको उत्सुक होंगे। कैसे-पर मुनीन्द्रने कभी जोर नहीं दिया था। जोर देता तो कदाचित् उसका कैसे चल भी जाता। वह था ही इतना अक्खड़ कि मौत भी उसकी माँग टालनेमें सौ बार संकोच करती।

मैंने महात्माओंसे सुना है—'मरणका सामान्य आभास सबको कुछ पूर्व हो जाता है। जिसकी शरीर और संसारमें आसक्ति है, वह उस आभासको पहचाननेके स्थानपर कातर हो उठता है! जिसकी आसक्ति क्षीण है, जो मरणको मनसे प्रस्तुत हो चुका है वह आभासको पहचान लेता है।' मुनीन्द्रको यह आभास नहीं हुआ होगा? उसने इसे पहचाना नहीं होगा? वह तो न जाने कबसे मृत्युकी प्रतीक्षा करता रहा था। ऐसी प्रतीक्षा, जैसे आप किसी मित्रके आगमनकी प्रतीक्षा करते होंगे।

महात्माओंसे ही मैंने सुना है—'मृत्युके समय यदि प्राणी कुछ सामान्य चाहता हो, किसीकी प्रतीक्षा करता हो तो उसकी माँग प्रायः पूरी कर दी जाती है।'

आपने भी सुना होगा लोगोंको कहते—'इनके प्राण अमुक व्यक्ति या वस्तुमें अटके थे; उसके मिलते ही प्राण-प्रयाण कर गये।'

मुनीन्द्रके प्राण भी अटके थे। उनके प्राण केवल अपने कन्हाईमें अटके थे। कन्हाईको तो कोई प्रतिबन्ध नहीं कहीं आनेपर। उन्हें तो विलम्ब नहीं होता। अतः मुनीन्द्रकी मृत्यु-स्थितिका अनुमान असम्भव तो नहीं है।

मुनीन्द्र मर गया। वह पर्वतीय यात्रामें वाहन-त्यागको विवश हुआ। सामने पहाड़ गिरा था। पैदल उतना स्थान पार करके फिर वाहन मिल जाता। उसने अपना अल्प भार भी किसीको दिया नहीं। पहाड़ गिरकर समतल तो रहता नहीं। पत्थर-मिट्टी-पानीका मलबा। पता नहीं, पैर फिसला या ऊपरसे कोई पत्थर आ पड़ा। मुनीन्द्र फिसला—लुढ़क चला। लुढ़कता गया। नीचे कई-सौ फीट लुढ़क गया। अटका—अटकता नहीं तो सुरसरिके प्रवाहमें शरीर अदृश्य हो जाता; किन्तु प्रवाहके लगभग पास पहुँचकर शरीर अटक गया।

'हाय ! इसे गङ्गा भी नहीं मिलीं।' देखनेवालोंमें-से किसीने कहा। मुनीन्द्र तो मर गया था। वह क्या कहता। उसने तो लुढ़कते समय केवल 'प्रणव' पुकारा था उच्चःस्वरसे। देखनेवाले बहुत ऊपर थे। नीचे पहुँचनेका कोई मार्ग नहीं था। होता भी तो कोई इतनी निचाईतक उतरने-चढ़नेका श्रम करता, कोई सम्भावना नहीं थी।

नीचे चीड़के वृक्ष थे। पहाड़ गिरनेसे टूट गये थे। उनमें अग्नि लगी थी। आप कह सकते हैं, मुनीन्द्रके शरीरके लिए पहलेसे चिता सजी थी। शरीर लुढ़कता उसीमें जा गिरा था।

दूसरे दिन देखा गया कि रात्रिमें जो गङ्गाका प्रवाह थोड़ा बढ़ा था, उसने वह भूमि भी आत्मसात् कर ली, जिसपर मुनीन्द्रका शरीर जला था। मुनीन्द्र मर गया। विना किसीको श्रम दिये मर गया। उसका शरीर भी संसारको थोड़ी भी दुर्गन्धि दिये विना समाप्त हो गया।



जागरण—

'अम्ब ! आद्या त्रिपुरसुन्दरीके अङ्कमें भद्रने पलकें खोलीं। तीन-चार वर्षका दिगम्बर शिशु, जगद्धात्रीका स्नेह, सिरपर अलकें सहलाता उनका कमल-कर और उनके वक्षपर मस्तक सटाकर सोनेका सुअवसर सुलभ होगा तो कोई शिशु सो नहीं जायगा ?

'वत्स ! जाग गये तुम ?' उन वात्सल्यमयी माँने अपना मस्तक झुकाकर सिर सूँघा उसका।

'अम्ब ! मैं सो गया था ?' भद्रको तो लगा ही नहीं कि वह सोया था। अभी तो उसने पलभरको पलकें मूँद ली थीं।

'तुम चिन्मूर्ति कभी सोया नहीं करते।' उन महामङ्गलाने सस्मित कहा—'तुम केवल स्वप्न देख रहे थे। तुम स्वप्न देखने लगते हो, तब मैं व्याघात नहीं बनती।'

अभीतक वे आद्या खड़ी थीं। खड़ा था उनका वह भुवन-भयंकर केहरी। उन षोडशभुजाके सब आयुध सिंहके दूसरी ओर पड़े थे। वे कोई पाञ्चभौतिक जड़ पदार्थ तो हैं नहीं। आवश्यकता होते ही वे महाशक्तिके हाथोंमें पहुँच जायँगे।

अभीतक भूत-प्रेत-पिशाच, कूष्माण्ड-भैरव-वैताल, योगिनी-डाकिनी-शाकिनी आदि सब शान्त खड़ी थीं। सबको प्रतीक्षा करनी थी। वह शिशु आद्याके अङ्कमें सो गया था, तब कोई शब्द करनेका साहस कैसे कर सकता था; किन्तु सबमें उत्साह बहुत था। असुर-विजय किया आद्याने, अब उसका महोत्सव तो मनाना ही था।

अभीतक रणस्थल स्वच्छ हो गया था। बिना शब्द किये प्रेत-पिशाचोंने शव-भक्षण कर लिये थे। अस्थियाँ, रथादिके खण्ड, टूटे या पूरे अस्त्र-शस्त्र भद्रकालीने अपने करका अस्थिदण्ड हिलाकर बहुत दूर हटा दिये थे। अब तो वहाँ चिह्न भी नहीं था समर होनेका।

यही कुछ क्षण शिशु सोता रहा था; किन्तु यह तो कुछ पता नहीं था कि जगकर वह अम्बाके अङ्कमें ही रहकर यह विजय-महोत्सव देखेगा

अथवा सबके मध्य उतरकर नाचता-दौड़ता घूमेगा। वह विद्यमान् है, अतः उत्सव उसके अनुरूप होगा। उत्सव-स्थलको उसके मृदुल पदोंके उपयुक्त बनना चाहिये था।

कौन कह सकता है कि इस आरम्भिक प्रस्तुतिके लिए ही आद्याकी इच्छानुसार वह शिशु सो नहीं गया था? वह सो रहा था, तभी तक सब शान्त–निश्चिन्त थे। अब वह जाग गया। वह खीझ जाय तो अम्बा आद्याको भी कठिनाई हो सकती है। वह उनकी भी नासिका या केश खींचने-नोचने लग सकता है। उसे सुप्रसन्न ही रखना सबको अभीष्ट है; अतः सब उत्सव उसे प्रसन्न करनेके लिए ही अब होना है। वह यहाँ न होता तो उत्सवका स्वरूप भद्रकाली निश्चित करतीं।

वायु सुखद, शीतल, सुरभित चल रहा है। आद्याका सिंह घूम गया है। वह अब अपनी अधीश्वरीकी ओर मुख किये, गर्दन उठाये, शिशुके लटकते चरण कभी-कभी सूँघ लेता है और धीरे-धीरे पूँछ हिलाता है। उसके वे ज्वलदग्नि नेत्र इस समय शान्त, स्नेहपूर्ण हैं।

'अम्ब!' शिशुके लिए कहाँ आवश्यक है कि वह कुछ कहनेके लिए ही सम्बोधन करे। वह केवल सम्बोधनके लिए सम्बोधन करता है और अपना नन्हा कर आद्याके कपोलपर रख देता है।

'वत्स!' उन निखिल-भुवनेश्वरीको इस समय दूसरा कोई दीख सकता ही नहीं। उनकी दृष्टि शिशुके मुखपर लगी है। वात्सल्य उनके वक्षावरणको आर्द्र कर रहा है। वे इस समय अम्बा हैं—केवल अपने अङ्कमें आसीन इस शिशुकी अम्बा।

'अम्ब!' इस बार शिशुने सिर उठाकर एक ओर देखा और फिर आद्याकी ओर देखकर बोला—'वाद्य बजते आ रहे हैं। बहुत लोग आते लगते हैं।'

'वत्स! ब्रह्मादि सुर आ रहे हैं।' आद्याको सुरोंकी यह शीघ्रता अच्छी नहीं लगी। अभी वे स्नेहमयी इस शिशुमें ही निमग्न रहना चाहती थीं। 'तुम सुरोंका महोत्सव देखोगे? उनका महान् शत्रु मार दिया गया है। वे आकर गावेंगे, नृत्य करेंगे, वाद्य तो बज ही रहे हैं।'

सुर स्तुति करेंगे, यह जान-बूझकर आद्याने नहीं कहा। शिशुकी स्तुतिमें रुचि नहीं हो सकती। सुरोंको वे संकेतसे वारित कर देंगी।

'अम्ब !' शिशुने महोत्सव देखनेमें कोई उत्साह नहीं दिखलाया। उसे भीड़-भाड़में रुचि नहीं है। उसने कहा—'कन्हाई मेरी प्रतीक्षा करता होगा।'

'तुम जाओगे !' आद्याने स्नेहपूर्वक पुनः सिर सूँघा। उन्हें भी उचित लगा कि सुरोंके आगमनसे पूर्व यह शिशु अपने सखाके समीप जाय। सुर तो सशस्त्रा सिंहवाहिनीकी स्तुति करने आ रहे हैं। शिशुको अङ्कमें लेकर आद्या 'सिंहारूढा' तो हो सकती हैं; किन्तु 'शस्त्रकरा' नहीं हो सकतीं।

'तुम इतने छोटे ही सखाके समीप जाओ, यह अच्छा लगेगा ?' उन अम्बाने कहा—'तुम तो उनसे कुछ बड़े हो। अपने रूपमें ही जाओ।'

'कन्हाईने इतना छोटा बनाकर भेजा।' शिशुको कोई उलझन नहीं, कोई उपालम्भ नहीं। 'वह इतना छोटा बनाकर न भेजता तो आपके अङ्कारूढ़ होनेका अवसर मिलता ? अब आप बड़ा बना दो !'

अपने-आप कोई बड़ा बन भी जाय तो उसके बड़े होने का अर्थ ? शिशु तो माताके स्नेहसे ही बड़ा होता है। बड़ा वह, जिसे आद्या बड़ा बनावें।

भद्र अब अम्बाके अङ्कसे उतरने लगा। उन्होंने झुककर उसे भूमिपर खड़ा कर दिया। उसे कुछ करना नहीं था। आप भी कभी शिशु थे। बढ़नेके लिए आपको कोई उद्योग करना पड़ा था ? यहाँ केवल यह अन्तर पड़ा कि वस्त्राभरण भी उसके आकारके बढ़ते ही प्रकट हो गये। वह अब किशोर हो गया।

भद्रने अब केशरीका शिर थपथपाया। सिंहने चरण सूँघकर अपना अभिवादन प्रकट किया। अम्बाके चरण उसने स्पर्श किये। उसके सिरपर हाथ रखा अम्बाने और फिर उसे अङ्कसे लगाकर विदा किया।

भूत-प्रेतादि सब हाथ जोड़े खड़े रहे। अब पहलेके समान भद्र दौड़ता तो नहीं जा सकता था, जैसे आया था। वह सामान्य गतिसे सबके मध्यसे निकला।

● ●

मिलन---

'आ गया ! दादा आ गया ।' कन्हाई तो ऐसे उत्साहसे पुकार उठा, जैसे युगोंके पश्चात् उसका यह भद्र उसके पास आ रहा हो। दोनों भुजाएँ फैलाये दौड़ा मिलने—'भद्र दादा आ गया ।'

यह तो पीछे पता लगा, जब इसकी भाभियोंने मुँह बनाया कि उन्हें कन्हाईकी पुकारने भ्रममें डाल दिया था। वे सब भागी थीं। उन्होंने पीछे उलाहना दिया कन्हाईको—'देवर ! तुम तो ऐसे बोले कि हमने समझा, बड़े आ गये ।'

'दाऊ दादा कहाँसे आ जाता ?' कन्हाई ताली बजाकर हँस पड़ा—'वह कहीं गया तो था नहीं। वह तो यहीं था ।'

भ्रमका कारण तो था। कन्हाई किसी विशेष समय, विशेष उत्साहमें होनेपर ही भद्रसेनको 'दादा' कहता है; अन्यथा यह तो 'भद्र' ही कहता है। लेकिन इस समय तो उत्साहमें था। भुजाओंमें भद्रको भर लिया इसने। देरतक लिपटा रहा 'तू आ गया !'

'तबसे तू यहीं खड़ा है ?' भद्रने पूछा। ढंग ही ऐसा लगता है कि भद्रको अम्बा आद्याके समीप भेजकर कन्हाई यहीं खड़ा उसीकी प्रतीक्षा कर रहा था। वैसे देर ही कितनी हुई थी। भद्रको तो लगता है कि वह गया और लौट आया। कुछ पल ही तो हुए हैं, किन्तु इस सुकुमार श्यामको इतनी देर भी क्यों इस प्रकार खड़े-खड़े प्रतीक्षा करनी चाहिये।

'तूने कितनी तो देर कर दी।' कन्हाईने उपालम्भ दिया—'मैं तो तभीसे तेरा मार्ग देखते-देखते थक गया। मैया पुकार रही है कबसे कलेऊ करनेके लिए।'

'अम्बाने गोदमें उठाया तो मैं उनकी अङ्कमें सो गया।' भद्र कहता है--'अम्बाने तो कहा कि मैंने तनिक पलकें मूँद ली थीं और स्वप्न देख रहा था।'

'तू वहाँ अम्बाके अङ्कमें पड़ा सुखसे खर्राटे लेता होगा।' कन्हाईने मुख बनाया—'यहाँ मैं तेरा मार्ग देखता भूखा खड़ा हूँ और मैया पुकारते-पुकारते झल्ला रही है। मैं उससे कहता हूँ कि वह तुझे मार लगावे।'

'मैया ! मैया री !' श्याम तो वहींसे पुकारने लगा है—'यह भद्र अब आया है। इसे मार लगा। इसने कितनी तो देर कर दी कलेऊ करनेमें।'

मैयाको अभी मार लगानेका अवकाश नहीं है। मैयाको किसीको मार लगाना आता नहीं है। यह केवल मार लगानेकी बात कह सकती है और इस समय तो उसके ये दोनों नटखट भूखे हैं। इन्हें कलेऊ करना है। मैयाके कान केवल इतना सुनते हैं—'यह भद्र अब आया है।'

'तुम दोनों झटपट आ जाओ !' मैया यह भी तो जानती है कि कन्हाई भी उसीकी भाँति किसीको भी मार लगानेकी केवल बात कह सकता है। किसी भी सखाको मारनेका मिस करके मथानी भी उठाओ तो इसका मुख लाल हो जायगा। यह झगड़ने लगेगा।

मैयाको हँसी आ रही है। उसे स्मरण आ रहा है, उसका यह नन्हा नीलमणि कितना नटखट है ! यह चाहे जब, चाहे जिसे मार लगानेकी बात कह बैठता है। उस दिन कई गोपियोंके सामने ही पुकारने लगा—'मैया री ! बाबाको मार लगा !'

सब हँसने लगीं। इसकी ताईने पूछ ही तो लिया—'यशोदा ! तू महरको भी मार लगाती है ?'

महर भी ऐसे ही हैं—वे भी हँस रहे थे। सबने मुझे तो मुँह खोलनेयोग्य भी नहीं रहने दिया और यह मजेसे ताईके अङ्कमें जा बैठा। वे पूछ रही हैं—'तेरे बाबाने क्या बिगाड़ा है ?'

'बाबा मुझे कंधेपर बैठाकर नाचता नहीं।' नटखट कन्हाईके पास कारण तो बने ही रहते हैं।

मैया मन-ही-मन मुस्कुरा रही है। नीलमणि तो अपने दादाको, चाचाको या ताऊको भी मारनेको कह दे सकता है। यह भद्रको ही मार लगानेकी बात कह रहा है; यह ध्यान देनेकी बात कहाँ है। इसकी ऐसी बातें सुननेकी हुआ कहाँ करती हैं।

'तुम दोनों पहले कलेऊ करो !' मैयाको इस समय यही मुख्य काम दीखता है—'दाऊ कबसे बैठा तुम दोनोंकी प्रतीक्षा कर रहा है।'

'दादा !' भद्र दौड़कर दादाके समीप पहुँचनेका पुराना अभ्यासी है। ये तीनों साथ ही रहेंगे और दो-चार क्षणको भी पृथक् हों तो ऐसे मिलेंगे, जैसे युगों बीतनेपर मिल रहे हों।

'आओ !' दाऊनें हाथ पकड़ा और भद्रको अपने दाहिने बैठा लिया। श्यामको उनसे सटकर बाँयें बैठना है।

अब इसका कोई अर्थ नही है कि मैया तीनोंके लिए तीन पात्र रखेगी या एक। तीनों अभी अपना आसन खिसकाकर गोलाकार मण्डल बना लेनेवाले हैं। तीनोंके ही हाथोंमें उठे पदार्थ अपने मुखतक तो कम ही पहुँचने हैं, कौन-सा ग्रास किसके मुखमें जायगा, किसी भी सर्वज्ञमें शक्ति नहीं कि बता सके।

'दादा ! यह तो आद्या महाशक्तिके अङ्कमें सोने चला गया था।' दादाको तो यह भी पता नहीं कि भद्र कहीं गया भी था। कन्हाई उन्हें सूचित करने लगा है।

'दादा ! यह स्वप्न दीखते हैं ?' भद्र दूसरी ही बात पूछता है।

'इसलिये कि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि चलती रहे।' दादाका सूत्र आपकी समझमें आता है ? भद्र तो केवल उनकी ओर देख लेता है। ये दाऊ दादा, यह कन्हाई समीप हैं--अब भद्रको कुछ समझना नहीं है। ये दोनों समीप हों--किसीको भी इतना समझना क्या पर्याप्त नहीं है।

'तुम सब कुछ खाओगे भी या केवल बातें करोगे ?' मैयाको कभी संतोष नहीं होता। उसके ये तीनों ही बालक केवल मुख जूठा करके उठ जाते हैं। ये कलेऊके समय कम बातें करें तो कुछ तो इनके पेटमें पहुँचेगा।'



उपसंहार—

अपने सदन पहुँचकर भद्रको कुछ परिवर्तन लगा। उसके उद्यानका यह क्रीड़ा-शैल कैसा हो गया है ? उसके शिखरपरसे इतनी लताएँ चारों ओर लटक आयी हैं, जैसे वे उस शैलकी जटाएँ हों और शैल स्वयं कोई मुनि हो। किसी मुनिकी प्रतिमाकी भाँति तो वह पहले भी था। नीचे चौड़ा—पद्मासन-से बैठेके समान और शिखरपर ऐसा गोल जैसे, सिर हो।

'तू इसे क्या देखता है ?' कन्हाई साथ ही आया है। यह कहता है—'इसे यहाँ सालोक्य भी मिला, तेरा सामीप्य भी।'

'तो यह वह मुनि है।' भद्रको अब कुछ समझना शेष नहीं रहा।' 'यह इस रूपमें भली प्रकार ध्यानस्थ रह सकेगा।'

'धीरे बोल !' कन्हाईने बतलाया—'इसकी उदर-गुहामें अभी हेमा-भाभी पूजा कर रही है। उसे बाधा पहुँचेगी तो वह रूठेगी। वह रूठकर खूब लम्बा मुँह बनावेगी।'

कन्हाईने अपना मुख इतना लम्बा बनाया कि भद्र और समीप खड़ी स्वर्णा,—कनकादि भी हँस पड़ीं। भद्रने कहा—'वह पूजा भी तो तेरी ही करती है।'

'चुप-चुप !' श्यामने अधरोंपर अँगुली रखकर नेत्रोंसे संकेत किया—'इस भाभीको केवल पूजा-पाठसे प्रयोजन है। यह अपने अभ्यासकी प्रीतिके लिए, अपनी ही प्रसन्नताके लिए पूजा-पाठ करती है।'

आपको भी ऐसे लोग मिले होंगे, जो केवल कुछ करना है, इसलिये करते हैं। उन्हें अभ्यास है; न करें तो असुविधा—बेचैनी अनुभव करते हैं; किन्तु करनेमें जैसे उनके मनका कहीं लगाव नहीं।

'पूजा तो यह भाभी उठनेके पश्चात् करेगी।' कन्हाईने मुख मटकाया—'मुझे और तुझे भी बहुत मीठा, चटपटा जलपान करावेगी।'

'यह स्वर्णिम कूष्माण्ड ?' इतनेमें लुढ़कता एक बहुत बड़ा गोला समीप आ गया। वह ऐसे हिल-डुल रहा था, ऐसे लुढ़क रहा था, जिसे देखकर बलात् हँसी आवे। भद्रने सदनमें इसे पहले तो देखा नहीं था, अतः कन्हाईसे पूछा—'तूने इसे यहाँ रखा है ?'

'इसे भेजा तो भगवान् सदाशिवके भैरवने है।' इस बार उत्तर स्वर्णाने दिया—'लेकिन देवरको यह भरपूर हँसाता है। तुमको भी अप्रिय नहीं लगेगा।'

'तू भी तो एक ऐसे ही कूष्माण्डमें घुसा बैठा था ?' भद्रने कन्हाईकी ओर देखा – 'लेकिन वह तो काला था। अब यह सुन्दर हो गया है; किन्तु यहाँ यह अच्छा नहीं लगेगा। अम्बा इसे देखकर प्रसन्न होंगी। वहाँ महेश्वरके समीप इसकी शोभा है।'

'आप भी मुझे शरण नहीं देंगे ?' बहुत कातर स्वर उस कूष्माण्डसे निकला—'मैं अपराधी तो हूँ; किन्तु दूसरा कोई मुझे क्षमा भी तो नहीं कर सकता।'

'तुम अम्बासे कहना कि मैंने तुमको भेजा है।' भद्रने कहा—'अब तुमको वहाँसे कोई नहीं निकालेगा।'

कूष्माण्ड उसी क्षण अदृश्य हो गया। अब उसे नन्दीश्वर या भैरव शिव-सेवासे निकाल कैसे सकते हैं। उसकी नियुक्ति जहाँसे हुई है, उसका सम्मान तो सभीको रखना है।

'आप कृपा ही करने लगे हैं तो सौष्ठवापर भी अनुग्रह कर दीजिये !' कनकाने संकेतसे दूर सिकुड़ी, संकोचसे जैसे गड़ी जा रही हो ऐसी एक सेविकाको समीप बुलाया। उसने आकर नतमस्तक चरण-स्पर्श किया; किन्तु कन्हाई दूसरी ओर देखने लगा था। कनकाने ही कहा—'यह बेचारी बहुत सह चुकी।' परुषस्वरा हो गयी; अतः संगीत तो इससे गया ही; किन्तु नृत्यसे देवरको संतुष्ट करना चाहती है, पर ये तो इसकी ओर देखना ही नहीं चाहते।'

'यह यहाँ आयी ही क्यों ?' भद्रने पूछा—'इसे तो श्रीकीर्तिकुमारीकी सेवामें रहना चाहिये।'

'वहाँ मुझे कौन रहने देगा।' वह रो पड़ी—'मुझे तो वहाँ द्वारसे ही भगा दिया गया। यहाँ जीजीने कम-से-कम अपने श्रीचरणोंके समीप बैठनेको स्थान तो दिया है। मैं सेवा पा सकूँ,—इतना सौभाग्य मेरा कहाँ।'

'तू जाकर ललीसे कहना कि मैंने तुझे उनके निकुञ्जकी द्वार-रक्षिका नियुक्त किया।' भद्र आज प्रसन्न है। सबपर अनुग्रह करनेकी धुन है आज। अनुग्रह करनेमें तो कन्हाईकी अनुमति अनावश्यक है।

'तूने यह क्या किया ?' कन्हाई सहसा समीप आ गया—'अब यह मुझपर भी प्रतिबन्ध लगावेगी।'

'वहाँ अब कोई मुझे अस्वीकार नहीं करेगा।' सौष्ठवाने प्रसन्न होकर भद्रके चरणोंपर ही मस्तक धर दिया। वह उठी और श्यामकी ओर सस्मित कटाक्षपूर्वक देखती चली गयी।

'अब तू मेरी कोई भाभी कम मत करना।' कन्हाईने भद्रके कन्धेपर अपनी भुजा धर दी—'मेरी एक भाभी तू पहले ही कम कर चुका है।'

'साकेतमें अम्बा मैथिलीको एक पुत्र-वधू प्रिय लगी। शुभ्रा अब उनकी सेवामें रहेगी; किन्तु' भद्र हँसकर बोला—'तेरी भाभियोंकी संख्या कहाँ सीमित है। दाऊ दादा किसीको कम करता नहीं। विशाल, अर्जुन....।'

'मैं तेरे सदनकी बात करता हूँ।' कन्हाई तनिक खीझा—'मेरे कुल सात ही तो भाभियाँ रह गयी हैं यहाँ। इनकी कोई सेविका भी आती है तो तू भगा देता है।'

'लेकिन कनू ! तेरी सात भाभियाँ तो दीखती नहीं हैं।' भद्रने अब ध्यान दिया—'यहाँ तो चार ही हैं और हेमा पूजा कर रही है। काञ्चनी और हिरण्या कहाँ हैं ?'

'वे सो रही हैं।' स्वर्णाने ही कहा।

'तू उन्हें गुदगुदाकर जगा ले !' कन्हाई कहकर हँसा—'मैं तो अपना खिलौना भाभीके साथ खेलूँगा।'

'देवर ! तुम आते ही चिढ़ाने लगे।' ह्रस्वा (खर्वा) लज्जासे लाल हो गयी।

भद्र गम्भीर बन गया। सचमुच सोनेवालेके स्वप्नमें उतरकर उसे समेटनेकी आवश्यकता तो है नहीं। उन्हें तो सहज ही गुदगुदाकर जगा लिया जा सकता है। अतः उसके मुखसे निकला—'अच्छा !'

॥ समाप्त ॥



श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थानके प्रकाशन

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' द्वारा लिखित पुस्तकें

सब डिमाई आकार

	पृष्ठ	अजिल्द	सजिल्द
१. भगवान वासुदेव (मथुरा-चरित)	४०८	१३-५०	१५-००
२. श्रीद्वारिकाधीश	४०४	१२-५०	१८-००
३. पार्थसारथि	४४०	११-००	१२-००
४. नन्दनन्दन	६९६	राज-सं०	३२-००
		साधारण-सं०	३०-००
५. श्रीरामचरित—प्रथम खण्ड	३८८	९-००	१०-००
६. श्रीरामचरित—द्वितीय खण्ड	२८०		८-२५
७. श्रीरामचरित—तृतीय खण्ड	३९८	राज-सं०	१४-००
		साधारण-सं०	१२-००
८. श्रीरामचरित—चतुर्थ खण्ड	३४८	राज-सं०	१४-००
		साधारण-सं०	१२-००
९. शिवचरित	४३६		११-२५
१०. शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा	२१४		७-५०
११. आञ्जनेयकी आत्मकथा	३१२		९-००
१२. हमारी संस्कृति	२७२		८-००
१३. मजेदार कहानियाँ (सचित्र)	६८	२-५०	
१४. सखाओंका कन्हैया (सचित्र)	१७२	६-००	
१५. कन्हाई	२०२	५-५०	
१६. साध्य और साधन	३९२		१०-००
१७. प्रभु आवत	२३६	८-००	
१८. वे मिलेंगे	३०४	११-००	१७-००
१९. अमृत पुत्र			
२०. पलक झपकते (प्रेममें)			

सब पॉकेट आकार (सभी अजिल्द)

		पृष्ठ	मूल्य
१.	राम-श्यामकी झाँकी—भाग-१	१६८	२-००
२.	राम-श्यामकी झाँकी—भाग-२	१३६	१-७५
३.	श्यामका स्वभाव	१०४	१-५०
४.	शिव-स्मरण	६०	१-२५
५.	हमारे धर्मग्रन्थ	७२	१-००
६.	हमारे अवतार एवं देवी-देवता	१०८	१-५०
७.	हिन्दुओंके तीर्थस्थान	२८२	३-५०
८.	ब्रजका एक दिन	११६	१-७५
९.	उन्मादिनी यशोदा	१६४	२-५०
१०.	ज्ञान-गङ्गा (कहानियाँ)	२८८	४-५०
११.	भक्ति-भागीरथी (कहानियाँ)	२४८	४-००
१२.	नवधा-भक्ति (कहानियाँ)	१८०	३-००
१३.	दस महाव्रत (कहानियाँ)	७०	१-६०
१४.	सांस्कृतिक कहानियाँ कुल १२ भाग (प्रत्येक भाग पृष्ठ लगभग १६४, मूल्य २/–)		
१५.	प्रेरक-प्रसंग	६६	१-५०
१६.	मधुविन्दु एवं ज्योतिकण	६७	१-६०
१७.	मानस-मन्दाकिनी भाग-१	२१३	३-७५
१८.	मानस मन्दाकिनी भाग-२	१८३	३-५०
१९.	कर्म-रहस्य	२८८	५-००



प्रकाशन-विभाग,

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,

मथुरा (उ० प्र०) २८१ ००१



"यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।"